भारतीय प्रतीकविद्या

डॉ० जनार्दन मिश्र

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना–800004

भारतीय प्रतीकविद्या

डॉ० जनार्दन मिश्र
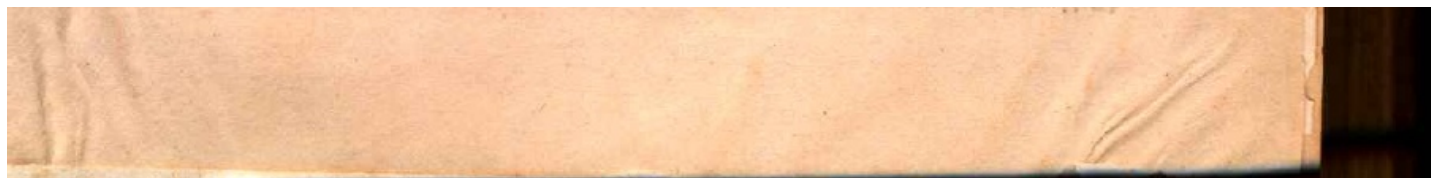
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना : ८००००४

प्रथम संस्करण : विक्रमाब्द २०१५; शकाब्द १८८०; खृष्टाब्द १९५९
द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : विक्रमाब्द २०४६;
शकाब्द १९११; खृष्टाब्द १९९०

मूल्य : ~~११४ रु०~~ 115|=

मुद्रक :
घनश्याम प्रेस
पटना—८००००४
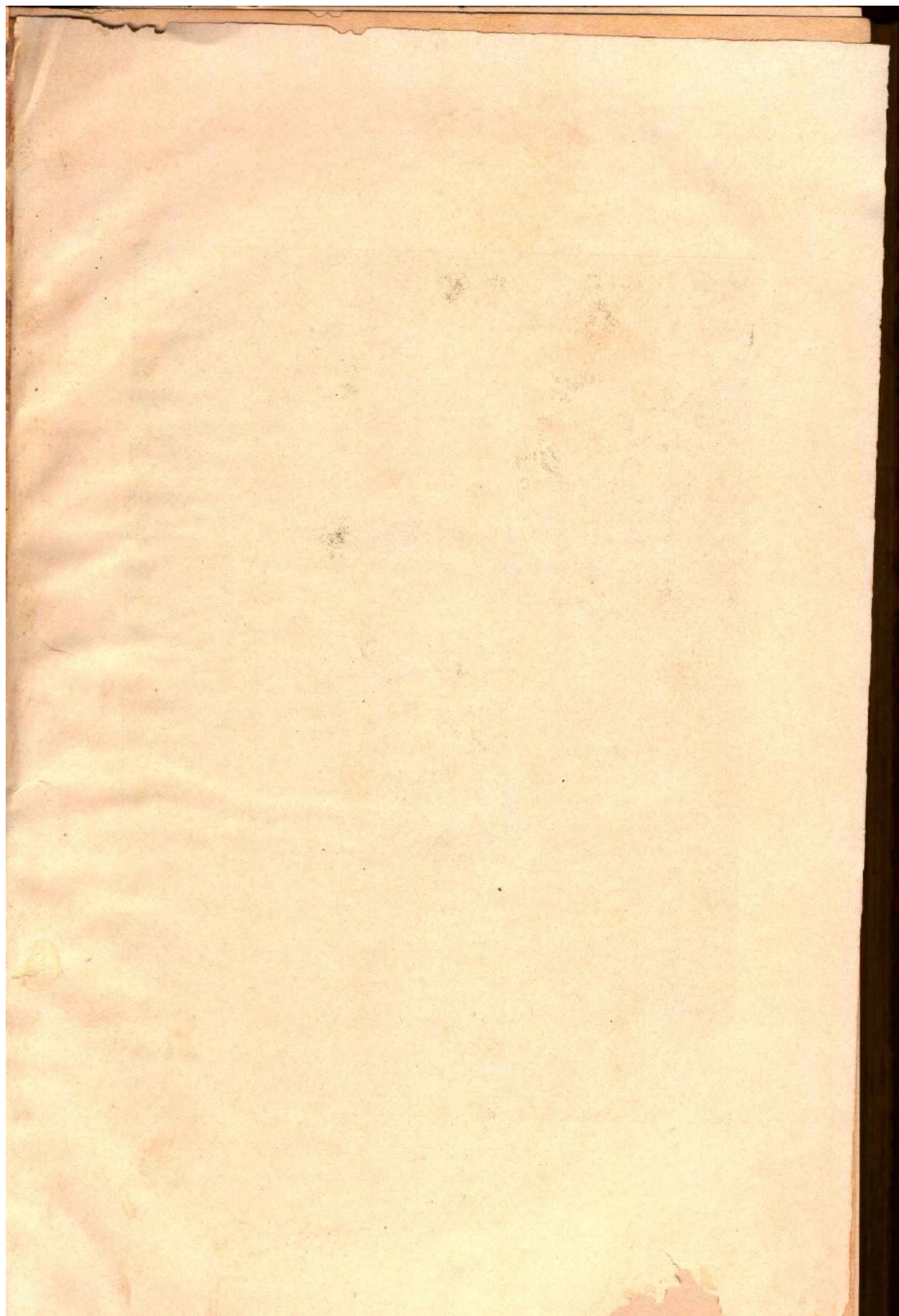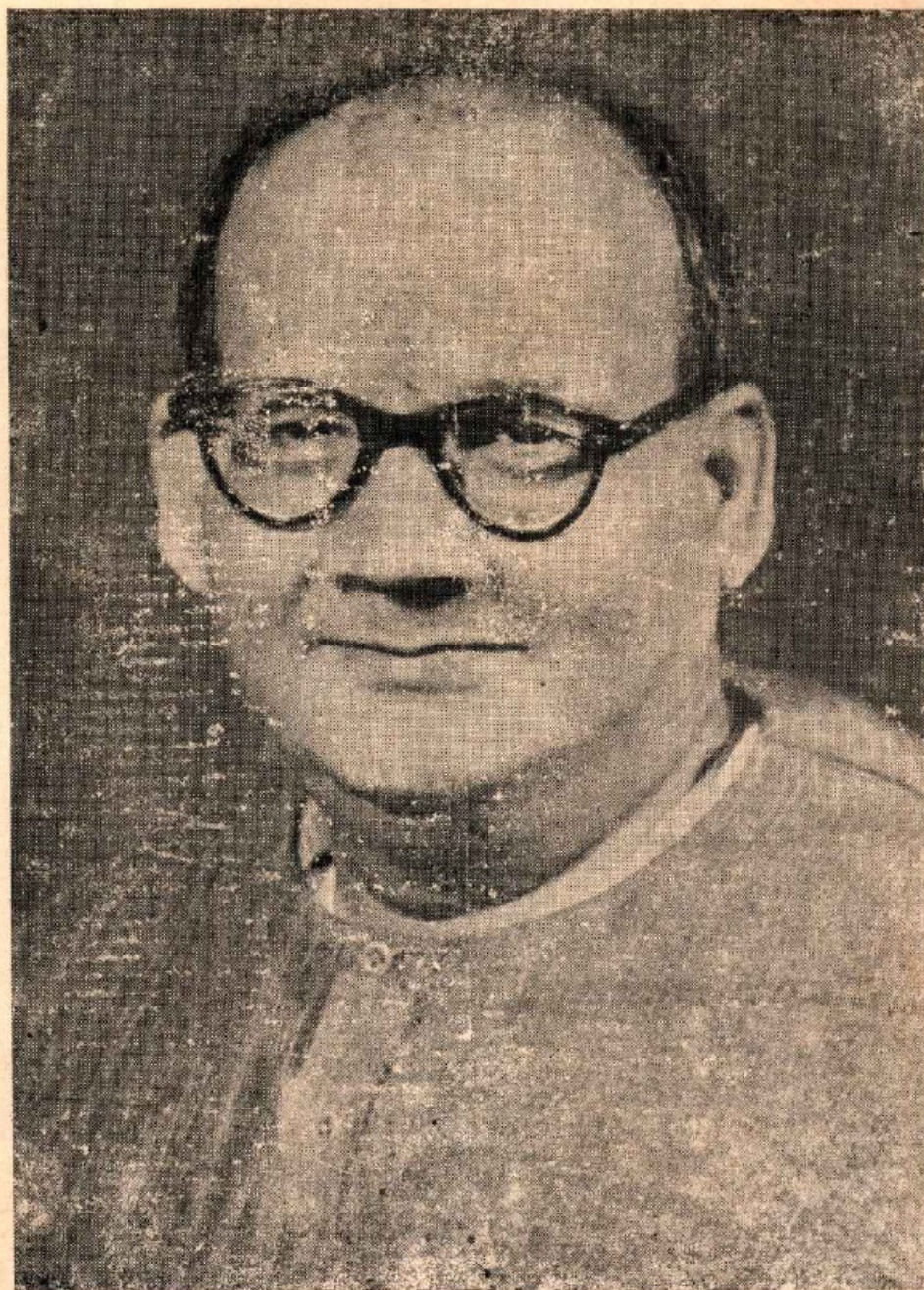
बिहार के मुख्यमंत्री डाक्टर श्रीकृष्ण सिंह

पुरातत्त्व और भारतीय सभ्यता के अनन्य प्रेमी,
देश के स्वातंत्र्य-महायज्ञ में सर्वस्व होमनेवाले
महातपस्वी, मूर्धन्य मनीषी एवं निर्भीक सेनानी

बिहार-केसरी डॉक्टर श्रीकृष्ण सिंह

के

कर-कमलों में

सादर सस्नेह समर्पित

वक्तव्य

डॉ० जनार्दन मिश्र प्रणीत पुस्तक "भारतीय प्रतीकविद्या" के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन परिषद् के लिए गर्व और गौरव की बात है। अपने भाषणमाला-कार्यक्रम के अन्तर्गत परिषद् ने जिन दर्जनों महत्त्वपूर्ण पुस्तकों को अवाप्त एवं प्रकाशित किया है उनमें "भारतीय प्रतीकविद्या" का विशेष उल्लेख इस दृष्टि से आवश्यक है कि इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक साहित्य तक के प्रमाणों से भारतीय प्रतीकविद्या का रूप-वैभव अत्यन्त सरस और सहज ढंग से प्रस्तुत कर इस क्षेत्र में अध्येताओं एवं अनुसंधायकों के प्रवेश एवं पर्यटन का मार्ग प्रशस्त और सुगम बना दिया है।

इस पुस्तक में भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला में संगुम्फित प्रतीकों का भावात्मक विवेचन-विश्लेषण और अनुशीलन-परिशीलन पूर्णतः शास्त्रीय रीति से किया गया है। साहित्य में प्रतीकों का सदा से विशिष्ट महत्त्व रहा है, इसलिए ही भारतीय साहित्य में रूपकों और प्रतीकों का उपयोग और उल्लेख सर्वत्र किया गया है। काव्यगत प्रतीकों में अभिव्यक्त भाव और सौन्दर्य मानसिक चक्षुओं के निरीक्षण-परीक्षण का विषय है किन्तु मूर्तियों और भावप्रवण चित्रों में प्रतीकों का जो कलात्मक सौन्दर्य और विचार-संवहन की सूक्ष्मदर्शिता अन्तर्वलित है उसे चर्मचक्षुओं से भी देखा जा सकता है। इन प्रतीकों के अध्ययन-मनन की कुंजिका प्राप्त हो जाने पर इनमें अन्तर्निहित भावों का जो प्रस्फुटन होता है उससे हम चमत्कृत एवं भावोद्बोधित हो जाते हैं। साहित्य-समृद्धि और साहित्य-समलंकृति की दृष्टि से प्रतीकविद्या का गहन अध्ययन, अनुशीलन और अनुगमन आवश्यक है। प्रतीकों के संदर्भ, वैशिष्ट्य मर्मार्थ आदि का बिना गहन अध्ययन-मनन किए वेद, पुराण आदि में वर्णित प्रतीकगत रहस्यों का गूढ़ार्थ नहीं समझा जा सकता है। डॉ० मिश्र ने इस पुस्तक द्वारा जिज्ञासु पाठकों और अध्येताओं का मार्ग सरल और सहज बना दिया है।

भारतीय साहित्य, कला आदि में प्रयुक्त प्रतीक संश्लिष्ट, दुरूह और जटिल मालूम पड़ते हैं। इसका एक प्रमुख कारण इन प्रतीकों का विवेचन-विश्लेषण वैसे विदेशी विद्वानों द्वारा किया जाना है जिनके संस्कार भिन्न हैं। भिन्न संस्कारवाले व्यक्ति इनके मर्मार्थों का यथार्थ और तात्विक विवेचन वांछित और अभिप्रेत ढंग से कर ही नहीं सकते। इस दृष्टि से भी भारतीय संस्कार में पगे डॉ० मिश्र की इस व्याख्यात्मक कृति की उपादेयता असंदिग्ध है।

प्रथम संस्करण की भाँति ही विद्वत् समाज में द्वितीय संस्करण को समादर प्राप्त होगा, इस विश्वास के साथ परिषद् की यह प्रशंसित कृति आपके समक्ष प्रस्तुत है।

(डॉ० शिववंश पाण्डेय)
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

२५ मई, १९८० ई०

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण]

हिन्दी-साहित्य में काव्यगत प्रतीकों का आध्यात्मिक सौन्दर्य अन्तश्चक्षुओं से निरीक्षण करने योग्य है। किन्तु धातुओं और पाषाण-खण्डों से निर्मित मूर्त्तियों तथा भावोद्बोधक चित्रों में आध्यात्मिक प्रतीकों का जो कलात्मक सौन्दर्य है, वह चर्मचक्षुओं से भी द्रष्टव्य है—यद्यपि उसके रहस्य-दर्शन के लिए भी सूक्ष्मदर्शिता की ही आवश्यकता है। इस पुस्तक में काव्यगत प्रतीकात्मक सौन्दर्य का दिग्दर्शन प्रसंगानुसार कराया गया है, पर अधिकतर पाषाण-काव्य में प्रच्छन्न प्रतीकों के गूढ़ मर्म का ही उद्घाटन बड़ी विशद् रीति से किया गया है।

भारतीय मूर्त्तिकला और चित्रकला में निहित प्रतीकों का भावात्मक विवेचन शास्त्रीय पद्धति से करके लेखक ने कला-भाण्डार के अतिशय रमणीय सौन्दर्य-कक्ष का द्वार खोल दिया है। स्वर्गीय पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने भी अपनी 'मूर्त्तिपूजा' नामक पुस्तक में हिन्दू-देव-देवी-विग्रहों के प्रतीक-तत्त्व समझाने में अध्यात्म-शास्त्र के तथ्यों का बड़ा ही हृदयग्राही विश्लेषण किया है। पर वह पुस्तक अब अप्राप्य है। उसके अतिरिक्त यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं के कितने ही लेखों में भी भारतीय स्थापत्यकला एवं शिल्पकला में संश्लिष्ट प्रतीकों के संकेत मिलते रहे हैं, पर कोई ऐसी पुस्तक अबतक देखने में नहीं आई, जिसमें कला और अध्यात्म के गँठबन्धन का इतना सरस और मनोज्ञ वर्णन मिलता हो।

परिषद् से ही एक पुस्तक (हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ) पहले निकल चुकी है, जिसके 'वक्तव्य' में हमने प्रकरणोल्लेखपूर्वक संकेत किया था कि भारतीय साहित्य में रूपकों और प्रतीकों के वर्णन-बाहुल्य की कोई सीमा नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक वाङ्मय से आधुनिक साहित्य तक के प्रमाणों से भारतीय प्रतीकविद्या का जो वैभव वर्णित है, वह पाठकों की अध्ययन-शीलता को तो आकृष्ट करेगा ही, एतद्विषयक अनुसन्धायकों को भी शोध-पथ का पथिक बनने की प्रेरणा देगा।

प्रतीक चाहे कविता में हो या कथा में, मूर्त्ति में हो या चित्र में अथवा यन्त्र-तन्त्र में, जहाँ भी हो, उसका तात्पर्य समझ लेने पर अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। प्रतीकों के अध्ययन का विषय वास्तव में मन को रमाने के लिए बड़ा आकर्षक और सुहावना है। विष्णुपुराण के प्रथम अंश के बाईसवें अध्याय में भगवान् विष्णु की विभूति का वर्णन प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है, जिसमें इस जगत् के निर्लेप तथा निर्गुण और निर्मल आत्मा को कौस्तुभ मणि, बुद्धि को गदा, तामस और राजस अहंकार को शंख एवं शार्ङ्ग-धनुष, मन को चक्र, वैजयन्तीमाला को पंचतन्मात्राओं और पंचभूतों को संघात, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को बाणसमूह, अविद्यामय कोश से आच्छादित विद्यामय ज्ञान को खड्ग कहा है। इसी तरह उपर्युक्त व्यासजी ने शेषशायी नारायण को सत्त्वगुण का प्रतीक, ब्रह्मा को रजोगुण और शेषनाग को तमोगुण का प्रतीक तथा क्षीरसागर को भगवान् की विश्वम्भरता का प्रतीक बतलाकर बड़ा मनोरम प्रसंग उपस्थित कर दिया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी के श्रीरामचरितमानस में भी प्रतीकात्मक स्थलों की कमी नहीं है। लंकाकाण्ड में विभीषण से भगवान् रामचन्द्र ने जिस विजय-रथ का सांगोपांग वर्णन किया है, वह गहन अनुभूति का ही विषय है। गोसाईंजी की 'विनयपत्रिका' में भी अनेक प्रतीकात्मक पद हैं, जो चिन्तनशील पाठक के मन को सहसा तल्लीन कर देनेवाले हैं। सूरदास और कबीरदास के ऐसे पदों से भी सुविज्ञ पाठक परिचित ही होंगे। साहित्य और कला के अन्तर्गत जितने भी प्रतीकात्मक स्थल और संकेत हैं, वे जहाँ-कहीं भी मिलें, सबका यदि विधिवत् संग्रह कर हिन्दी-पाठकों के लिए सुलभ कर दिया जाय, तो उन (पाठकों) की सूझ-बूझ में बड़ी कुशाग्रता आ जायगी। तब वे किसी स्थूल वस्तु का साक्षात्कार होने पर उसके सूक्ष्म तत्त्व-तल तक पहुँचने के अभ्यासी बन जायेंगे।

इस पुस्तक के लेखक डॉक्टर जनार्दन मिश्रजी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सदस्य हैं। संस्कृत, अँगरेजी और हिन्दी के विद्वान् तथा जर्मन, बँगला, गुजराती, पाली और प्राकृत के भी मर्मज्ञ हैं। आप भागलपुर-जिले के निवासी हैं। हिन्दी के आप पुराने साहित्यसेवी हैं। आपकी तीन हिन्दी-पुस्तकें विद्वन्मण्डली में विशेष आदर पा चुकी हैं—(१) विद्यापति, (२) हिन्दू-संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना, (३) गुरु-दक्षिणा (नाटक)। संस्कृत-साहित्य का इतिहास आपने अँगरेजी में लिखा है, जो प्रकाशित होकर लोकप्रियता प्राप्त कर चुका है। सन् १९२५ ई० से १९४९ ई० तक आप बिहार-नेशनल (बी० एन्०) कॉलेज में संस्कृत-हिन्दी-विभागाध्यक्ष थे। इसी अवधि के मध्य सन् १९४४-४५ ई० में आप गया के डिग्री-कॉलेज के सर्वप्रथम प्राचार्य हुए थे। फिर सन् १९३३ ई० में आपने योरप-यात्रा करके जर्मनी के म्यूनिक-विश्वविद्यालय में वैदिक भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी शोधकार्य किया। वहीं के कोयनिग्सबर्ग-विश्वविद्यालय में 'मध्यकालीन हिन्दू-संस्कृति' विषय पर आपका अनुसन्धान चलता रहा, जिसके अन्तर्गत 'रिलिजस पोयट्री ऑफ् सूरदास' नामक थीसिस तैयार कर आपने डॉक्टरेट की उपाधि पाई। यह थीसिसवाली अँगरेजी-पुस्तक भी प्रकाशित हो चुकी है। सन् १९४९ ई० में आप भागलपुर के तेजनारायण-बनैली-कॉलेज के प्राचार्य होकर पटना से चले गये। वहाँ उसी पद पर सन् १९५७ ई० तक रहकर गत वर्ष अवसर-ग्रहण किया। इस साल दरभंगा के मिथिला-संस्कृत-विद्यापीठ के संचालक (डाइरेक्टर) के पद पर आपकी नियुक्ति हुई है। आपके पाण्डित्य और अनुभव से शिक्षण-संस्थाओं और साहित्य को जो लाभ हुआ है, वह सादर स्मरणीय रहेगा।

पुस्तक-गत विषय पर डॉक्टर मिश्रजी का भाषण, परिषद् का भाषणमाला के अन्तर्गत सन् १९५७ ई० में, २५ सितम्बर को हुआ था। वही लिखित भाषण इस पुस्तक में सचित्र प्रकाशित है। चित्रों के चुनाव और उनकी चमत्कार-चर्चा में मिश्रजी की दार्शनिक दृष्टि की विलक्षण क्षमता का परिचय मिलेगा। आशा है, यह पुस्तक मस्तिष्क और हृदय के साथ-साथ अध्येता के नेत्रों को भी तृप्त करेगी।

रंगभरी एकादशी, शकाब्द १८८०

शिवपूजनसहाय
(संचालक)

भारतीय प्रतीकविद्या

(द्वितीय संस्करण की भूमिका)

आज से लगभग २४ वर्ष पूर्व, विक्रम संवत् २०१५ में, भारतीय प्रतीकविद्या का प्रकाशन हुआ था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों जनता की अभिरुचि इस ओर बढ़ती गई। आज लोग प्रेम से इसे अपनाना चाहते हैं। ऐसे विषयों को लेकर विद्वानों तक पहुँचना सरल हो सकता है, परन्तु जनता तक पहुँचना कठिन होता है। यह सौभाग्य इस पुस्तक को प्राप्त हुआ है। यह देखकर हर्ष और सन्तोष होता है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् इन २४ वर्षों में, अध्ययन के क्रम में कुछ नई बातें सामने आईं। उन्हें उपादेय समझकर इसमें सम्मिलित कर लिया गया है।

इस ग्रन्थ के लिखते समय श्रीअरविन्द की 'औन दि वेद' नामक पुस्तक वि० सं० २०१३ में प्रकाशित हो चुकी थी। ऐसे सिद्ध और अधिकारी पुरुष के विचार मुझे अच्छे लगे थे। उन्हें मैंने 'वेद और प्रतीक' प्रकरण में जनता के सम्मुख रखने की चेष्टा की थी। किन्तु इन २४ वर्षों तक वेद तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के स्वतन्त्र अध्ययन तथा अनुशीलन से वेद का जो स्वरूप मेरे सम्मुख उपस्थित हुआ उसे मैंने 'वेद और भारत' में लिपिबद्ध कर दिया है। भारत में जो कुछ है उनका मूल वेद है। अतः 'भारतीय प्रतीक-विद्या' और 'वेद और भारत' युग्म ग्रन्थ हैं। दोनों को मिलाकर पढ़ने से विषय का पूर्ण ज्ञान होता है।

अपनी संस्कृति और सभ्यता को जानने और समझने की लोगों की अभिरुचि दिनानुदिन बढ़ रही है, यह देखकर प्रसन्नता होती है। यह शुभ लक्षण है कि लोग अपने पूर्वजों की थाती को समझना चाहते हैं। आशा है कि 'भारतीय प्रतीकविद्या' तथा 'वेद और भारत' से लोगों को अपने महान पूर्वज ऋषियों की साधना और सिद्धियों को समझने में सहायता मिलेगी।

जनार्दन मिश्र

आत्मनिवेदन

सन् १९०९-१० ई० की बात है। मैं प्रारम्भिक कक्षा का छात्र था। मैं जिस मिड्ल स्कूल में पढ़ता था, उसके प्रधानाध्यापक महोदय बड़े हरिभक्त और कीर्त्तनप्रिय थे। सन्तसमागम और हरि-कीर्त्तन के साथ-साथ तुलसी के राम, कबीर के राम, ब्रह्म राम आदि की चर्चा होती रहती थी। उस समय ये बातें मेरी समझ से बाहर की थीं। अध्यापक रामायण की इन पंक्तियों को दुहराया करते थे—

जग पेखन तुम देखनिहारे। बिधि हरि शम्भु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुमहिं को जाननिहारा॥
सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई॥

सुनकर मन में यह सन्देह उठा करता था कि जब राम हरि के अवतार हैं, तब हरि के नचानेवाले कैसे हुए। 'विष्णु कोटि सम पालनकर्त्ता, रुद्रकोटिशत सम संहर्त्ता' आदि से यह सन्देह और भी बढ़ता गया। मैं इसके पीछे पड़ गया। ज्यों-ज्यों अध्ययन और समझ बढ़ती गई, त्यों-त्यों यह सन्देह हटता गया। सन् १९३२-३३ ई० तक इस विषय की थोड़ी-बहुत झलक मिल चुकी थी। युरोप जाने के पहिले मैंने सन् १९३३ ई०.में इस विषय पर एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी। उसका नाम था हिन्दू-संस्कृति और साहित्य की प्रस्तावना। आशा थी कि यदि और किसी अधिकारी विद्वान् का इस विषय से सम्पर्क हो और वे इसपर और कुछ लिखें, तो इस विषय का ज्ञान आगे बढ़े। तबसे देख रहा हूँ, इस विषय पर न कोई लेख और न कोई पुस्तक लिखी गई है। भारतीय मूर्त्तिविद्या (Indian Iconography) पर जो दो-एक ग्रन्थ और लेख निकले भी हैं, उनका क्षेत्र मेरे विषय से सर्वथा भिन्न है।

मैं सन् १९३३ और ३४ ई० में युरोप के विश्वविद्यालयों और नगरों में घूमता रहा। देखा कि अपने संस्कारानुसार लोगों ने अपनी भावनाओं के प्रतीक वहाँ भी बना रख हैं, किन्तु वे हमसे कितने भिन्न हैं। युनिवर्सिटी-जैसी सर्वसाधरण संस्थाओं के बरामदे पर, नगर के उद्यानों में और अन्यत्र स्त्री-पुरुषों की नंगी मूर्त्तियों और चित्रों का रहना एक साधारण-सी बात है। इसे कोई बुरा नहीं मानता। ऊँचे-से-ऊँचे विचारों के साथ नर-नारियों के नग्न रूप का चित्रण एक साधारण धर्म है। यह भारत से कितना भिन्न है। इन्हें

यथाथ रूप में समझने में भारतीयों को देर अवश्य लग जाती है और तब भी वे इन्हें ठीक-ठीक समझकर वहाँ के निवासियों की तरह इन्हें निरपेक्ष दृष्टि से देख सकते हैं वा नहीं, इसमें सन्देह है।

इन मानस-मन्थनों के साथ-साथ अपने शास्त्र और विषयों का अध्ययन चल रहा था और प्रतीक-तत्त्व पर बराबर दृष्टि थी।

मैं सन् १९४० ई० में संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिख रहा था। जब मैं वेद और तन्त्र पर लिखने लगा, तब देखा कि युरोपीय और तदनुगामी भारतीय 'विद्वानों' ने वेद की और विशेषतः तन्त्र की असंयत शब्दों में घोर निन्दा की है और गालियाँ तक दी हैं, और घर में देखा कि, वेदज्ञ का तो कुछ कहना ही नहीं, देवतुल्य बड़े-बड़े तान्त्रिक सिद्ध महापुरुष हो गये हैं, जिनकी प्रतिदिन पूजा होती है। इन विपरीत बातों को देखकर 'विद्वानों' की उक्तियों से मेरा समाधान न हुआ। मैं वेद और तन्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ और दिन-दिन इसकी तृषा बढ़ती रही।

वेदाध्ययन से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया कि सभी प्रतीक वेद पर आश्रित हैं और वेदविहित सिद्धान्तों पर इनका निर्माण हुआ है। ये प्रतीक ब्रह्मविद्या की साधना के एक प्रधान अङ्ग हैं और इनके तथा वैदिक सिद्धान्तों के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं है। मैंने वेद-प्रतीक-प्रकरण में इसपर विचार किया है। यह प्रकरण कुछ विस्तृत हो गया, किन्तु लाचारी थी।

मैं तन्त्र के वैभव को देखकर चकित और स्तम्भित रह गया। मैंने देखा कि भारतीय आध्यात्मिक साधनाओं का व्यावहारिक रूप तन्त्र ने ही स्पष्ट किया है और सभी भारतीय साधकों ने शाक्तदर्शन के सिद्धान्तों पर साधना कर सिद्धि पाई है। रूप-कल्पना और रूप-व्यवहार की जितनी प्रणालियाँ शाक्तमार्ग में हैं, उतनी कहीं नहीं, और सभी मार्गों ने सिद्धि पाने के लिए शाक्तसिद्धान्त और साधना को किसी-न-किसी रूप में अपनाया है।

एक वेद सबका आदिगुरु और आदिस्रोत है, इसलिए शाक्त, शैव, बौद्ध, वैष्णव, जैनादि में रूप-कल्पना और साधना में कहीं अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल बाह्याचार में। स्थूल आचार से सूक्ष्म भावना की ओर बढ़ते ही भेद मिटने लगता है और 'पर' अथवा 'कारण' रूप में सभी एकाकार हो जाते हैं।

गत चालीस वर्षों की अवधि में बहुत-सी सामग्रियाँ एकत्र हुई और भावनाओं में बहुत-से परिवर्त्तन हुए। इच्छा थी कि इन्हें लिपिबद्ध कर दिया जाय, किन्तु अनेक कारणों से विवश था। सबसे बड़ी कठिनता थी कि लिखने का अभ्यास छूट गया था और जीविका के कामों से अवकाश भी कम मिलता था।

जुलाई, १९५६ ई० में श्रीशिवपूजन सहायजी से राष्ट्रभाषा-परिषद् के कार्यालय में भेंट हुई। आपने इसे लिख डालने का आग्रह किया। बन्धुवर श्रीकृपानाथ सिंहजी (एडवोकेट, भागलपुर) के अनुरोध ने तो कब हठ का रूप ग्रहण कर लिया था। शिवजी ने लिखने के पहिले ही इसका नामकरण भी कर दिया। दिन में समय न मिलने के कारण रात को जगकर लिखने

लगा। ४ अगस्त, सन् १९५६ ई०, को लिखना आरम्भ हुआ और दिसम्बर, १९५६ ई० में मूल-ग्रन्थ समाप्त हुआ। परिशिष्टादि लिखते जनवरी बीत गई और श्रीपञ्चमी, २०१३ को ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

कार्यकाल की अवधि पूर्ण कर मैं जून, १९५७ ई० में पटना चला आया। मैंने यहाँ के पुरातत्त्वसंग्रहालय में अन्यान्य बहुमूल्य संग्रहों के साथ कुर्किहार और नालन्दा से प्राप्त संग्रह भी देखा। मेरा विश्वास है कि बौद्धधर्म-सम्बन्धी इतना सुन्दर और मूल्यवान् संग्रह संसार में और कहीं नहीं है। प्रिय मित्र और शिष्य श्रीपरमानन्द दोषी भारत-सरकार के पटना वाले पुरातत्त्व-विभाग के पुस्तकाध्यक्ष हैं। उनकी कृपा से यहाँ के पुस्तकालय में बहुत-से अनमोल और दुष्प्राप्य ग्रन्थ और चित्र देखने को मिले। बिहार नेशनल कॉलेज के पुस्तकालय से बहुत-से मूल्यवान् ग्रन्थ मिले। इनसे मेरे विचारों में उथल पुथल-सी मच गई और ग्रन्थ में अनेक प्रकरणों में आमूल परिवर्त्तन करना पड़ा। प्रेस के लिए सारा ग्रन्थ दो बार तो लिखा ही गया, कई अध्यायों को तीन-तीन बार लिखना पड़ा। संग्रहालयों में घूमते समय मैंने देखा कि मूर्तियों देखने से जितनी बातें समझ में आती हैं, चित्रों से उनका केवल अंश भर समझ में आता है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ का विषय ही संग्रहालयों की वस्तुओं को एक नई दृष्टि से देखना था। इसके लिए सारे भारत में घूमकर सभी सुरक्षित मन्दिर, संग्रहालय इत्यादि को देखकर अपनी आवश्यकता के अनुसार चित्र लेना था। यह काम व्ययसाध्य होने के कारण मेरे लिए असम्भव था। इसलिए इसको भविष्य पर टालकर और सुलभ सामग्रियों से जितना हो सका, लिपिबद्ध कर दिया।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्थापना कर उसके संचालन करने के लिए बिहार-सरकार की जितनी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी होगी। यदि आज परिषद् नहीं रहती, तो यह पुस्तक प्रकाशित नहीं होती। पुस्तक में जितने चित्रों की आवश्यकता थी, परिषद् ने बड़ी उदारता से सबके ब्लॉक बनवा लिये। श्रीशिवजी से लेकर नीचे तक के सभी कार्य-कर्त्ताओं ने बड़े स्नेह और उदारता से इसके प्रकाशन में सहायता की। उन सभी के लिए मेरा हृदय श्रद्धा और प्रेम से भरा हुआ है।

जब मैं उलटकर जीवन के इन चालीस वर्षों को देखता हूँ, तब मुझे महात्मा फरगुसन के ये शब्द याद आते हैं—

"ऐसा कोई मनुष्य न होगा, जो किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में चालीस वर्षों तक अपनी शक्ति लगा दे और असंख्य ऐसी बातों से परिचित न हो जाय अथवा ऐसा ज्ञान न प्राप्त कर ले, जिसे दिक्काल और सारा वाङ्मय भी पूरा-पूरा प्रकाशित करने में असमर्थ न हो जाय।"[1]

---

१. "No man can direct his mind for forty years to the earnest investigation of any department of knowledge and not become acpuainted with a host of particulars, and acquire a species of insight which neither time, nor space, nor perhaps tne resources of language will permit him to reproduce in their fulness".

महात्मा फरगुसन का यह कथन बहुत यथार्थ है। आज मैं देखता हूँ कि जितनी बातें और जिस रूप में मेरे मन में हैं, उनका सार अंश भी मैं शब्दों में प्रकाशित नहीं कर सकता। इस काम को और भी पूर्णता दी जा सकती है, यदि स्लाइड की सहायता में व्याख्यान दिये जायें। किन्तु यह तो 'यदि', अर्थात् वर्त्तमान परिस्थिति में अप्रस्तुत योजना है।

इस विषय पर यदा-कदा व्याख्यान सुनकर पण्डित-समाज ने बड़ा संतोष प्रकट किया इससे मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला।

इन सबके लिए परमात्मा का मैं भक्तिपूर्वक स्मरण करता हूँ। यह उनकी कृपा थी, जिससे यह सब कुछ सम्भव हुआ और यह कार्य पूर्ण हुआ।

श्रीपञ्चमी
विक्रमाब्द २०१४

जनार्दन मिश्र

विषय-प्रस्ताव

प्रतीक-निर्माण की प्रवृत्ति कीतनी पुरानी है, यह कहना कठिन है। विचारने से बोध होता है कि जब से मनुष्य में बुद्धि हुई और उसकी बुद्धि ने रेखा खींचना या लीपापोती करना सीखा, तभी से वह अपने भावों का प्रतीक-निर्माण करने लगा। आदिम मनुष्यों की गुहाओं में भी नाना भावों को प्रकाशित करनेवाले, उनके द्वारा अंकित चित्र और मूर्त्तियों के ढाँचे पाये जाते हैं। जिस देश के लोगों का जैसा संस्कार और जैसी बुद्धि रहती है, वे वैसे ही प्रतीकों का निर्माण करते हैं। भारतीयों ने अपने संस्कार और अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार निश्चित सिद्धान्तों पर और निश्चित उद्देश्य से प्रतीकों का निर्माण किया और युग-युगान्तर से उसमें काट-छाँट, परिमार्जन और परिवर्त्तन कर इन्हें ऐसा रूप दिया, जो किसी भी अतिसभ्य जाति के लिए उचित गौरव का विषय हो सकता है।

भारतीय प्रतीक स्पष्ट और सरल होने पर भी जटिल और दुरूह जान पड़ते हैं अथवा बन गये हैं। इसके अनेक कारण हैं। आधुनिक युग में इस विषय के पठन-पाठन का काम एक भिन्न सभ्यता के विदेशियों ने अपने हाथ में ले लिया। भिन्न संस्कारवश इन वस्तुओं को ठीक-ठीक समझने की इनमें योग्यता नहीं है। जो दो-एक सहृदय समझने की भी चेष्टा करते हैं, वे संस्कृत से पूर्ण परिचित नहीं रहने के कारण इन वस्तुओं को समझने में बड़ी कठिनता का अनुभव करते हैं। भारत में शताब्दियों से मूलग्रन्थों का स्वतन्त्र रीति से पठन-पाठन अथवा निर्माण प्रायः बन्द-सा हो गया है। लोग केवल दूसरों की टीका-टिप्पणी और व्याख्यानों पर आश्रित हो गये हैं। जिसने जितना-सा और जिस तरह समझा, उसे जनता के सामने उसी रूप में रखा और लोगों ने भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि मूल भावनाओं से लोग दूर पड़ते गये और अनुमान द्वारा कुछ-का-कुछ समझने लगे। उदाहरण के लिए हम दिक् और काल को ले सकते हैं। दिक् और काल, इन दो शब्दों का व्यवहार होता रहा, किन्तु दिक्काल दो शक्तियाँ हैं। इसे लोग, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भूलते गये और पीछे अहोरात्रादि काल-मान को ही काल समझने लगे। नैयायिकों ने कहा—'जन्यानां जनकः कालः'—अर्थात्, उत्पन्न होने योग्य

वस्तुओं का उत्पादक काल है। इस परिभाषा के अनुसार काल के स्थान में भगवान् कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जन्य का जनक भगवान् है। पर यह सभी जानते हैं कि काल और भगवान् भिन्नार्थवाची शब्द हैं। उसी प्रकार दिक् को लोग साधारणतया आकाश का पर्यायवाची शब्द मान लेते हैं, पर दिक् आकाश से भिन्न एक शक्ति है। दार्शनिक दिक् और काल को मानते हैं, पर उनकी यथार्थ भावनाओं से दूर निकल गये हैं। इन शब्दों के मूल भावों को महाभारत और पुराणों ने अपने यथार्थ रूप में सुरक्षित रखा है। हमारी यह कठिनता और भी विकट हो जाती है, जब टाइम और स्पेस जैसे विदेशी शब्दों द्वारा हम इनके भावों को ठीक-ठीक समझने की चेष्टा करते हैं। इन स्वदेशी और विदेशी शब्दों के भीतर दो भिन्न भावनाएँ काम करती हैं। उन्हें एक समझने से हमारे विचार और भी उलझ जाते हैं।

अपने विषयों को समझने में हमारी सबसे बड़ी कठिनता है—विदेशियों को इस विषय का गुरु बना लेना और उनका मानसिक दासत्व स्वीकार कर लेना। वर्त्तमान अँगरेजी-शिक्षा पाये हुए ऐसे लोगों को सर जॉन उडरफ 'इंगलैंड का मानसपुत्र' कहते हैं। वर्त्तमान विश्वविद्यालयों की दूषित शिक्षा के कारण हम सूत्र की तरह रटते रहते हैं कि मि० अमुक ने ऐसा कहा और मि० अमुक ने ऐसा कहा। अपनी वस्तुओं का ज्ञान नहीं रहने के कारण, यह समझने की शक्ति नष्ट हो गई है कि देखें मि० अमुक ने अमुक भारतीय विषय को ठीक-ठीक समझा या नहीं। युरोप की सभ्यता का आरम्भ ग्रीस से होता है। ग्रीस की सभ्यता का आरम्भ ईसा से पूर्व सातवीं या आठवीं शताब्दी में होता है। उपेक्षणीय अपवादों को छोड़कर युरोप के विद्वान् साधारणतः मान लेते हैं कि भारतीय सभ्यता इससे पुरानी हो नहीं सकती। इस समय या इसके पहिले जैसे ग्रीक भेड़ चराया करते थे, प्राचीन भारतीय भी वैसा ही करते होंगे। बस, इसी अटकल पर वेद बकरी और भेंड़ी चरानेवाला घुमक्कड़ जातियों का लोकगीत बन गया और ईसा से पूर्व २०० वर्ष पहिले वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। एक ने तो यहाँ तक कह डाला कि यजुर्वेद के मन्त्रों में और पागलखाने के पागलों के प्रलाप में अद्भुत साम्य है। यदि ऐसे लोगों को गुरु बनाकर उनकी आँखों से हम अपनी वस्तुओं को देखने लगें, तो जैसा अपना विकृत रूप हमें दिखाई पड़ेगा, वह प्रत्यक्ष है। ऐसे भारतीयों के अज्ञान और दुःशीलता से दुःखी होकर सर जॉन उडरफ ने लिखा था—

"ऐसा इसलिए होता है कि कुछ अँगरेजी पढ़े-लिखे भारतीय इस विषय (मन्त्रशास्त्र) से ऐसे ही अनभिज्ञ हैं, जैसे युरोप के ऐसे साधारण लोग होते हैं, जिनकी नकल पर वे सोचना सीखते हैं और अपने विचार बनाते हैं। ऐसे भारतीयों में से एक प्रतिष्ठित सज्जन मिले, ये कहते थे कि मन्त्र 'निरर्थक अगड़म-बगड़म' है। भारतीय सिद्धान्तों को विदेशियों ने इतने दिनों से गलत समझा है और इसका गलत प्रचार किया है। मुझे यह सदा बड़ा दयनीय बोध हुआ कि जो लोग इस पुण्यभूमि के हैं, वे भी गलत समझने के कारण, विना कारण ही अपनी वस्तुओं को गालियाँ देते फिरें। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे व्यर्थ की वस्तुओं को स्वीकार करते फिरें; क्योंकि ये भारतीय हैं। किन्तु किसी वस्तु को व्यर्थ कहने के पहिले उसे समझने की चेष्टा करें।

"जब मैंने पहिले-पहिल इस शास्त्र का अध्ययन आरम्भ किया, तो मैंने यह समझकर किया कि अन्य देशों की अपेक्षा इस देश में अधिक मूर्ख नहीं हैं। किन्तु इसके विपरीत इसने ऐसे बुद्धिमानों को उत्पन्न किया है, जो (कम-से-कम) अन्यत्र पाये जानेवाले किसी भी देश के विद्वानों के समकक्ष थे।"[१] इत्यादि।

आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न इस दुःखद परिस्थिति से खिन्न होकर सन् १९१३ ई० में डॉ० आनन्दकुमारस्वामी ने लिखा—

"यह समझ में आना बड़ा कठिन है कि भारतीय जीवन का सूत्र किस प्रकार काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया है। एक पुश्त का अँगरेजी पढ़ना सभी आचार-विचार की परम्पराओं के सूत्र को विच्छिन्न कर इसकी जड़ों को नाश कर देने के लिए और एक प्रकार के मानसिक कोढ़ियों को पैदा करने के लिए यथेष्ट है, जो न पूर्व के हैं और न पश्चिम के और जिनका न कोई भूत है, न भविष्य। सबसे बड़ी विपत्ति है उनके आध्यात्मिक जीवन का बिगड़ना। सभी भारतीय समस्याओं में सब से कठिन और दुःखद है शिक्षा की समस्या।"[२]

सर जॉन और श्रीआनन्दकुमारस्वामी ने जो कुछ कहा है, भारतीय विषयों के सम्बन्ध में अँगरेजी पढ़े भारतीयों की साधारणतः यही अवस्था है। आधुनिक युग में अँगरेजी पढ़े भारतीयों ने भारतीय विचारों का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। इससे अपने विषयों

---

१. "It is because some English-educated Indians are as uninstructed in the matter as that other common type of Western, to whose mental outlook and opinions they mould their own, that it has been possible to find a distinguished member of this class describing mantra as 'meaningless gabber'. Indian doctrines and practice have been so long and so greatly misunderstood and misrepresnted by foreigners, that it has always seemed to me a pity that those who are of this Punyabhumi should, through misapprehension, malign without any reason, anything which is their own. This does not mean that they must accept, what is in fact without worth because it is Indian, but they should at least first understand what they condemn as worthless.

When I first entered upon the study of this Shastra, I did so in the belief that India did not contain more fools than exist amongst other peoples, but had on the contrary produced intelligences which (to say the least) were equal to any elsewhere found. etc. etc."

२. "It is hard to realise how completely the continuity of Indian life has been severed. A single generation of English Education suffices to break the threads of tradition and to create a non-descript and superficial being deprived of all roots--a sort of intellectual pariah who does not belong to the East or the West, the past or the future. The greatest danger for India is the loss of her spiritual integrity. Of all Indian problems the educational is the most difficult and most tragic."

—Dance of Shiva, Bombay, 1952; Page 170.

के ठीक-ठीक समझने की कठिनाई और जटिल हो गई। जहाँ भारतीय सिद्धान्तानुसार वेद-मन्त्र शब्द-ब्रह्म का पूर्ण रूप है, वहाँ युरोपीय पद्धिति से लोग उनमें भारत का इतिहास और भूगोल ढूँढ़ने लगे। परिणाम प्रत्यक्ष है। युरोप निवासियों के साथ भारतीय भी अपनी प्रशंसनीय और श्रद्धास्पद वस्तुओं की निन्दा करने लगे और उन्हें समझने की चेष्टा करने के बदले अपशब्दों का व्यवहार करने लगे। प्रतीकों के समझने में भी हमने वैसी ही भूल की है। युरोपीय विद्वानों ने कहा कि भारतीय शिवलिंग के रूप में शिश्न की पूजा करते हैं, तो एक शिश्नमूर्ति मिलने पर श्रीगोपीनाथ राव ने प्रतिपादन करने की भरपूर चेष्टा की कि यहाँ भारतीय शिवलिंग का आदिरूप है। गत पैंतीस-चालीस वर्षों से निरन्तर अनुसन्धान करने पर मैंने यही पाया कि भारतीय सभ्यता का प्राचीन से प्राचीन रूप अत्यन्त उच्चकोटि का है, जिसकी चरम सीमा वेद में पहुँची हुई है, और इसके प्रारम्भिक रूप का पता लगाना मानव-शक्ति से बाहर है। यदि डारविन का क्रम-विकास का सिद्धान्त मान लिया जाय कि तिर्यग्योनि का विकसित रूप मनुष्य शरीर है और सभी वस्तुओं का आदिरूप बेढंगा होता है और कालक्रम से उसमें सुन्दरता आती है, तो भारतीय सभ्यता के आदिरूप का पता नहीं लगेगा। किन्तु, यदि भारतीय क्रम-विकास का सिद्धान्त मानें कि सृष्टि की रचना ऊपर से होती है नीचे से नहीं, अर्थात् ब्रह्मा के मानसपुत्र हुए, उनसे सप्तर्षि, फिर मनु और इस प्रकार सृष्टि का विस्तार नीचे की ओर होकर तिर्यग्योनि की पीछे सृष्टि हुई या एक साथ ही हुई, तो इसके आदिरूप का विवरण पुराणों में दिया ही हुआ है। सारांश कि वेद में असभ्य चरवाहों के समाज का विवरण नहीं है।

वेद विशुद्ध ब्रह्मविद्या है। इसमें ऋषियों की ब्रह्मविद्या की स्वानुभूति का विवरण है। जो ब्रह्मविद्या की साधना करते हैं, वे इसे स्वानुभूति के रूप में पाते हैं। इसे तर्कमूलक और संकल्पविकल्पात्मक लेख, साहित्य या दर्शन की तरह पढ़ने से सर्वदा भ्रान्ति होगा। वेदमन्त्र साधना और ब्रह्मानन्द के विषय हैं। वेद और शास्त्रों के इन स्वरूपों को ध्यान में रख-कर कहा गया है कि 'ये त्वतार्किका भावा न तांस्तर्केण योजयेत्', अर्थात् जो तर्क-वितर्क के बाहर (अनुभव) की वस्तुएँ हैं, उन्हें तर्क के क्षेत्र में न लावें। इसलिए भारतीय संस्कृति के समझने में जो लोग सभी कार्यों के कारण खोजने में अटकल लगाते फिरते हैं, वैसे लालबुझक्कड़ों को हेतुवादी कहकर उसकी निन्दा की गई है।

एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न भावनाओं से देखने से उसके भिन्न-भिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं। वेदाध्ययन में या भारतीय सभ्यता के अनुशीलन में अभारतीयों के भाव वेदानुयायी के भावों से अवश्य भिन्न होंगे और अनेक स्थलों पर विपरीत भी होंगे। यह सब कुछ होने पर भी सौ वर्षों तक वैदिक विषयों और साहित्य का अध्ययन कर युरोप के विद्वानों ने जो सामग्री की विशाल राशि एकत्र कर दी है, वह सभी वेदानुयायी पण्डितों की अमूल्य सम्पत्ति है और परीक्षण के लिए अवश्य पठनीय है।

इस पुस्तक के विषय में कई मित्रों ने कई प्रकार से प्रश्न किये। एक ने पूछा कि क्या आपने किसी सिद्धान्त को मानकर उसके प्रमाण ढूँढ निकाले। ऐसा प्रश्न करना स्वभाविक है; क्योंकि प्रायः लोग ऐसा करते देखे जाते हैं। इसलिए इसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

मैंने अपने अनुशीलन और अनुसन्धान के विषय में निम्नलिखित प्रणाली का अवलम्बन किया। पहिला प्रश्न हुआ कि साँप विष्णु, शिव, कृष्ण, देवी आदि प्रतीकों के साथ है। यह तो सभी जानते हैं कि इन देव-देवियों की आराधना विभुशक्ति के रूप में होती है, इसलिए साँप किसी न किसी गुण वा शक्ति का प्रतीक हो सकता है।। शिव के विषय में और विष्णु तथा देवी के विषय में भी पुराण और तन्त्र-ग्रन्थों में मिला कि यह काल का प्रतीक है। फिर प्रश्न उठा कि काल क्या वस्तु है; क्योंकि काल का निर्णय करनेवाला अहोरात्र कल्पित कालमान-मात्र है और काल कल्पना नहीं, कोई द्रव्य है। दर्शन, पुराण और तन्त्र-ग्रन्थों में खोजने से पता लगा कि काल गति-शक्ति है, जो किसी को स्थिर नहीं रहने देता।[1] इसी प्रकार मैंने त्रिशूल को महादेव के हाथ में त्रिगुण का प्रतीक समझा। किन्तु बुद्ध-प्रतिमा के साथ इसका अत्यन्त निकट सम्पर्क देखकर खोजने पर पता चला कि शाक्तों ने इसे त्रिशक्ति का प्रतीक मानकर ग्रहण किया है। यह त्रिशक्ति का सिद्धान्त तन्त्र और पुराणों में तो भरा पड़ा है ही, खोजने पर वेद में भी मिला। आगे बढ़ने पर मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त पशुपति-मूर्ति पर त्रिशक्ति का त्रिशूल मिला। इससे आगे बढ़ने की सामग्री नहीं रहने के कारण रुक जाना पड़ा। बौद्ध प्रतीकों में इसे ढूँढ़ते समय पता लगा कि महमूद गजनवी की कब्र पर त्रिशक्ति के दोनों त्रिकोण बने हुए हैं और बीजापुर में महम्मद शाह की कब्र पर शाक्त या योग का चक्र बना हुआ है, जिसमें मूलाधार के सभी लक्षण हैं। गजनी में शिवलिंगाकार स्तम्भों का भी पता लगा। इन सब पर यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि इस्लाम ने त्रिशक्ति इत्यादि के इन प्रतीकों को किस रूप में ग्रहण किया। इसके लिए मूलग्रन्थों के अनुशीलन के हेतु प्राचीन और आधुनिक अरबी और फारसी के ज्ञान की आवश्यकता हुई। इस जन्म में यह असम्भव समझकर इस विचार को यहीं रोक देना पड़ा। इसी तरह स्वस्तिक वैदिक प्रतीक है। मोहन-जो-दड़ो के उत्खनन में यह बहुत बड़ी संख्या में मिला है। बुद्ध का यह प्रिय प्रतीक है। यह त्रिशूल का प्रतिरूप है और वैष्णव तथा बौद्ध प्रतिमाओं में त्रिशूल और स्वस्तिक के स्थान में क्रॉस (+) बना हुआ है। प्रश्न उठता है कि क्या क्रिस्तानों ने बौद्ध स्रोत से त्रिशूल को क्रॉस के रूप में ग्रहण किया। यदि नहीं, तो क्रॉस आया कहाँ से और इसका केवल फाँसी के तख्ते का रूप भर ही है या इसके पीछे कोई सूक्ष्म विचार भी है। महात्मा ईसा के पहिले ख्रिस्तधर्म में क्रॉस था या नहीं, इत्यादि। किन्तु यह अनुसन्धान का एक विभिन्न विषय हो जाता है। इसलिए इसे यहीं छोड़ देना पड़ा। इससे यही कथन अभीष्ट है कि मैं किसी सिद्धान्त को मानकर न चला। अनुन्धान के विषयों की खोज में जो सत्य मिले, उनसे अनुसन्धान के सिद्धान्त बनते गये। कल्पित सिद्धान्त को मानकर उसका प्रमाण ढूँढ़ते फिरना प्रायः हठधर्म होता है, सत्य की खोज नहीं।

प्रतीकों की खोज में पता लगा कि इनके मूलरूप भिन्न शब्दों और रूपों में वेद में वर्तमान हैं। कभी इनका रूप पूर्ण है और कभी केवल संकेत-मात्र है, किन्तु हैं सभी। पौराणिकों, बौद्धों और जैनों ने कभी ज्यों-का-त्यों और कभी थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन के साथ इन्हें ग्रहण कर अपनी साधनाओं में इनका व्यवहार किया। जैसे, ऋग्वेद में है—'यस्येमाः

१. जीवनिष्ठा या नित्यता तस्या आच्छादने सति सैव नित्यता अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावयोगात् संकुचिता कालपदवाच्या दशमं तत्त्वम्।—परशुरामकल्पसूत्रम।१.४

प्रदिशो यस्य बाहू'। दो से लेकर सहस्त्रभुजा तक पौराणिकों और बौद्धों ने अपने प्रतीकों में बनाया। जैनों ने भी देव-देवियों की अनेक भुजाओं के सिद्धान्त को माना।

सिद्धान्त-प्रकरण में उन सिद्धान्तों को सरल रूप में दे दिया गया है, जिन पर प्रतीकों का जटिल, किन्तु मनोहर संसार बनकर खड़ा हुआ है। पाठक देखेंगे कि इनमें सबसे सरल यन्त्र और शिवलिंग, और सबसे जटिल श्रीचक्र है, और दोनों एक-से-एक मनोहर हैं।

मैंने इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्र, बौद्ध और जैन शास्त्रों का स्वच्छन्दता से प्रयोग किया है; क्योंकि ये एक दूसरे के परिपूरक हैं। तन्त्र के विषय में बड़े भ्रान्त विचार प्रचलित है और जो लोग इस शास्त्र से परिचित नहीं हैं, वे ही इसके विरुद्ध अधिक प्रचार करनेवाले हैं। तन्त्र को मैंने श्रुति से भिन्न न पाया और न मैं मानता हूँ। इसे मैं श्रुति और स्मृति का प्रधान अंग और प्राणस्वरूप मानता हूँ। तन्त्र का मैंने जितना ही अनुशीलन किया है, मेरा यह विचार उतना ही दृढ़ और परिपुष्ट होता गया है। मैं इस उक्ति को सच मानता हूँ कि,

दुर्बोधा वैदिकाः शब्दाः प्रकीर्णत्वाच्च तेऽखिलाः।
तथैत एव स्पष्टार्थाः स्मृतितन्त्रे प्रतिष्ठिताः॥

"वैदिक शब्द दुर्बोध हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध नहीं मालूम होने के कारण वे कठिन मालूम होते हैं। स्मृति और तन्त्र में उनका अर्थ स्पष्ट किया गया है।"

यथार्थ में श्रुति, स्मृति, और तन्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। जो इनके तत्त्वार्थ को नहीं समझते, उन्हें ये भिन्न मालूम होते हैं।

युरोपीय पद्धति से पढ़ने पर उस वस्तु के उद्गम और विकास का काल-निर्णय करके उसके इतिहास को जानने की इच्छा होती है। किन्तु इससे केवल कौतूहल की शान्ति होती है। कोई सत्य जब मिल जाता है, तब यह जीवन को बल देता है। किसने इसे पाया, कब पाया, कैसे पाया, इत्यादि से कौतूहल की निवृत्ति-मात्र होती है, इस सत्य की उपादेयता नहीं बढ़ती। यदि इन बातों का पता लग जाय, तो अच्छा है, अन्यथा इससे कुछ आता-जाता नहीं। प्रतीकों के इतिहास का पता लगाना और भी कठिन है। जब प्राचीन-से-प्राचीन ज्ञानस्रोत में ये प्रतीक पूर्ण रूप में पाये जाते हैं, तब इसके इतिहास और क्रम-विकास का पता कैसे लगाया जा सकता है। पशुपति की जो भावना आज वर्त्तमान है, इसी रूप में वह मोहन जो-दड़ोवाली मूर्ति में पाई जाती है। इसके इतिहास का पता क्या और कैसे लगे। ऐसे निरर्थक प्रयत्नों के पीछे समय नष्ट करना मैंने उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरों पर इतिहास के नाम पर अटकलबाजी करके लोग स्वयं धोखा खाते हैं और दूसरों को धोखा देते हैं। दूसरे, आधुनिक इतिहास की विश्लेषणात्मक पद्धति किसी भावना के संहार के लिए बहुत उपयुक्त है। जबतक वस्तुओं को मिलाकर सँश्लिष्ट रूप में न देखा जाय, तबतक किसी सृष्टि-क्रिया का रूप देखने में नहीं आता। इसलिए इस ओर जाना मुझे निरर्थक प्रयास-सा मालूम हुआ।

इस ग्रन्थ में मैंने भारतीय ज्ञानसागर के तट पर बिखरे हुए रत्नों को एकत्र करने की चेष्टा की है। इसकी छटा देखने योग्य है। साधकों और आध्यात्मिक प्रवृत्तिवाले महानुभावों के लिए यह अनमोल रत्नाकर है।

पुस्तक पढ़ने की रीति

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने का प्रधान उद्देश्य है कि जो लोग भक्ति के आवेश में प्रतीकों के निर्माण में सर्वस्व अर्पण किये हुए हैं और इसे अवलम्ब बनाकर जीवन के चरम उद्देश्य को सिद्ध कर शान्ति लाभ करते हैं, वे इनके यथार्थ रूप को जान जायें और ज्ञानपूर्वक इनका सदुपयोग करें। इसलिए इसके विषय को हृदयंगम करने के लिए इसके पढ़ने की रीति की चर्चा कर देता हूँ। यद्यपि विद्वान् पाठकों के सम्मुख यह धृष्टता होगी, तथापि विनयपूर्वक इस विषय में कुछ निवेदन कर देना आवश्यक मालूम पड़ता है—

१. पहिले प्रत्येक शब्द और वाक्य पर ध्यान देकर और उनके अर्थ को भली-भाँति समझकर पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ जाइये। यदि संस्कृत न जानते हों, या इसका अल्पज्ञान हो, तो संस्कृत उद्धरणों के केवल हिन्दी-रूपान्तर पढ़ जाइये। आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत उद्धरणों से भी इन्हें मिलाते जाइये। पढ़ते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शब्दों का व्यवहार व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में हुआ है। रूढार्थ में वहीं इसका व्यवहार हुआ है, जहाँ व्युत्पत्ति से ठीक अर्थ प्रकट नहीं होने की आशंका हुई है। जैसे, स्व-गत अपनी बात, नाटकों का स्वगत नहीं। स्व-भाव-अपनी स्वतःसिद्ध स्थिति। इत्यादि।

२. इसके सभी प्रकरण एक दूसरे से गुँथे हुए हैं और एक प्रकरण की बात दूसरे में स्पष्ट हो जाती है। इसलिए आद्यन्त पढ़ लेने से सभी प्रकरण समझ में आ जाते हैं। बीच से उठाकर कोई प्रकरण पढ़ने से वह प्रायः समझ में नहीं आवेगा। इसलिए धैर्य से सारा ग्रन्थ पढ़ जाना चाहिए।

३. इसके बाद चित्रों को ध्यान से देखिये। ये भिन्न-भिन्न गुणों के तत्त्वज्ञ कलाकारों की कृतियाँ हैं। इन प्रतीकों के प्रत्येक अवयव निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर बने हैं, जिनसे सौन्दर्य और शक्ति फूट-फूटकर निकल रही है।

४. ग्रन्थ को फिर एक बार पढ़ जाइए और संस्कृत के उद्धरणों को मूल रूप में समझने की चेष्टा कीजिये। देववाणी के माधुर्य और शब्द-शक्ति का अनुवाद नहीं हो सकता। मूल के पाठ से ही इसके आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। बारम्बार पढ़कर इसका जितना ही मनन करेंगे, उतना ही आनन्द आयगा और अपने महान् पूर्वजों की शक्ति का बोध होगा।

जनार्दन मिश्र

महाशिवरात्रि
विक्रमाब्द २०१४

विषय-सूची

१. प्रतीक-प्रक्रिया

सूक्ष्म विचारों को नामरूपात्मक जगत् में लाकर उन्हें स्थूल रूप देना मनुष्य का स्वभाव है। इसकी उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ की जाती हैं। भारतीय दार्शनिकों का सिद्धान्त है:

> अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
> आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥[1]

"ब्रह्म और माया का स्वरूप अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम — इन पाँच अंशों में (विभक्त) है। प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और शेष दो माया के रूप हैं।"

दार्शनिक पद्धति को छोड़कर, यदि लौकिक रीति से, इसे समझने की चेष्टा की जाय तो सीधे शब्दों में इसका अर्थ इस प्रकार होगा — कोई वस्तु है (अस्ति), उसका हमें बोध होता है (भाति), वह हमें अच्छी लगती है (प्रिय), उसके रूप की हम कल्पना करते हैं और उसे नाम देते हैं। यदि कोई वस्तु हो ही नहीं, होने पर भी समझ में न आये अथवा समझ में आने पर भी अच्छी न लगे, तो उससे हम दूर ही रहते हैं और रूप-नाम का प्रसंग ही नहीं उठता। गुहा-निवासी आदिम मनुष्य भी, अच्छे लगनेवाले मृग-पक्षियों के रूप, रंगवाले पत्थरों या कड़ी वस्तुओं से दीवार-चट्टान आदि पर अङ्कित करता था। यही प्रतीक का आरम्भ है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के विचार विकसित होते गये, त्यों-त्यों उनके प्रतीकों के रूप भी विकसित होते गये और उनकी संख्या बढ़ती गई।

आध्यात्मिक बुद्धि, विवेचना और साधना करते-करते स्वानुभूति के जगत् में प्रवेश करती है और कूटस्थ निराकार पर जाकर स्थिर हो जाती है। किन्तु, केवल निराकार से साकार जगत् का काम नहीं चलता है। इस पन्थ की दुरूहता पर सभी एकमत हैं :

> आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन।[2]

"इसकी क्रीड़ाभूमि (आराम) जगत् को सभी देखते हैं, उसे कोई नहीं देख सकता।"

---

१. (क) सरस्वतीरहस्योपनिषत्, श्लोक २३
   (ख) यदस्ति सन्मात्रम्। यद्विभाति चिन्मात्रम्। यत्प्रियमानन्दम्। तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। —बह्वृचोपनिषत्।

२. शुक्लयजुः, ३१.२२। बृहदारण्यकोपनिषत्, ४.३.१४

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥[१]

"अव्यक्त में आसक्त चित्तवाले को बड़ा क्लेश होता है। निराकार की प्राप्ति में देहधारियों को बड़ी कठिनता होती है।"

वस्तुमात्रं तु यद्दृश्यं संसारे त्रिगुणं हि तत् ।
दृश्यं च निर्गुणं लोके न भूतं न भविष्यति ।
निर्गुणः परमात्मासौ न तु दृश्यः कदाचन ॥[२]

"संसार में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह त्रिगुण (का परिणाम) है। निराकार, जगत् में न कभी दिखाई पड़ा है और न पड़ेगा। निर्गुण परमात्मा कभी देखने में नहीं आता है।"

'दुर्गासप्तशती' के प्राधानिक रहस्य में दुर्गा को—लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपासौ व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता—कहा गया है। इसपर टीका में टीकाकार 'नीलकण्ठ' ने लिखा है :

"तत्र सर्वदेवतानां रूपद्वयं सूक्ष्मं स्थूलञ्चेति। सूक्ष्मं तत्तदुपाधिविशिष्टचैतन्यरूपं मन्त्रवाच्यम्। स्थूलं तु तत्तत्सूक्ष्मरूपोपासकभक्तानुग्रहार्थं तेनव सूक्ष्मरूपेण स्वीकृतं कर-चरणादिविशिष्टं तन्त्रविदां स्पष्टमेतत् ।....लक्ष्यं लक्षणीयं मायारूपमलक्ष्यं ब्रह्मरूपं तदुभयस्वरूपा त्रिगुणमायाशबलब्रह्मरूपा इत्यर्थः।"

"अर्थात् सभी देवताओं के दो रूप होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म, शुद्ध चेतना है, जो मन्त्र द्वारा कही जाती है और उसमें वे ही (मन्त्रोक्त) गुण लगाये जाते हैं। उस सूक्ष्म रूप की उपासना करनेवाले भक्तों पर अनुग्रह के लिए उसी सूक्ष्म रूप द्वारा स्वीकृत कर-चरणादियुक्त स्थूल रूप हैं। तन्त्रवित् इसे अच्छी तरह जानते हैं।........ लक्ष्य, लक्षण लगाने योग्य माया का रूप है और अलक्ष्य ब्रह्म का रूप है। इन दोनों रूपोंवाली, त्रिगुण-मायायुक्त, ब्रह्मरूपिणी है। यही इसका अर्थ है।"

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येन भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥

---

१. गीता, १२.५
२. देवीभागवत, ३.५.६९-७०

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथा लब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥[१]

"पूजा में भक्तियुक्त होकर निश्छल भाव से द्रव्य के द्वारा परिष्कृत भूमि में, अग्नि में, सूर्य में, जल में, हृदय में, ब्राह्मण में अथवा अपने गुरु को या मुझको पूजे। प्रतिमा आठ प्रकार की होती है—शिला की, लकड़ी की, लोहे की, मिट्टी की, चित्रित, बालू की, मन और मणि की। मन्दिर में प्रतिमा की प्रतिष्ठा प्राण-प्रतिष्ठा है। यह दो प्रकार की होती है—चल और अचल। हे उद्धव ! पूजा में स्थिर प्रतिमा में आवाहन और विसर्जन नहीं होता है। चल प्रतिमा में हो भी और नहीं भी हो। परिष्कृत भूमि में दोनों ही होते हैं। जो मिट्टी की नहीं है उसका स्नान होता है। अन्यत्र परिमार्जन होता है। प्रसिद्ध वस्तुओं से मेरा यज्ञ, प्रतिमादि में होता है अथवा भक्त जिस भाव से हृदय में धारण करे।"

इन उद्धरणों से प्रतीक-निर्माण की प्रक्रिया और उद्देश्य का किञ्चित् निर्देश मिलता है।

यह सृष्टि कहाँ से आती है, कहाँ चली जाती है, कैसे बढ़ती-घटती रहती है, इसके भीतर कोई शक्ति काम करती है या नहीं, इत्यादि प्रश्नों के जो उत्तर भारतीय ऋषियों और मुनियों ने ढूंढ़ निकाले, उन्हें इन्होंने दर्शन और तत्त्वज्ञान की संज्ञा दी। वे ही सिद्धान्त भारतीय प्रतीकविद्या के आधार हैं। उन सिद्धान्तों पर ही भारतीय प्रतीकों का निर्माण हुआ है। जबतक उन सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप हमारे सामने न आ जाय, तबतक इन प्रतीकों का रहस्य समझ में न आयगा। उन सिद्धान्तों को सरल-से-सरल और संक्षिप्त रूप में हम यहाँ ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे।

२. ब्रह्म

सृष्टि के रहस्यों के विचार में प्रथम स्थान ब्रह्म का है। यह बृहि (बृंह) धातु में औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है।

बृंह् का अर्थ है—बढ़ना। इसलिए ब्रह्म का अर्थ हुआ, बड़ा। 'ब्रह्म' शब्द से एक ऐसे तत्त्व का कथन अभीष्ट है, जो सबसे बड़ा, सर्वव्यापी और सबसे शक्तिमान् है।[२] इससे किसी तरह भी कुछ भी बड़ा नहीं है। सारी सृष्टि इसके भीतर है और सारी सृष्टि में यह समाया हुआ है। इससे बाहर कुछ भी नहीं है। आधुनिक विज्ञान की

---

१. श्रीमद्भागवत, ११.२७.९,१२—१५

२. शारीरिक उन्नति के लिए क्रियाओं के बारम्बार अभ्यास का नाम व्यायाम है। कलाओं को सीखने के लिए क्रियाओं के बार-बार करने का नाम अभ्यास है। आध्यात्मिक सिद्धि के लिए क्रियाओं के निरन्तर अभ्यास का नाम साधना है।

भाषा में इस तरह कहा जा सकता है कि जिस तरह 'ईथर'[1] एक अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है, जिसके विस्तार की कहीं सीमा नहीं है। वह दीवार, पहाड़ वा सारी पृथ्वी के भीतर से उसी तरह चलता है जैसे चिड़िया हवा के भीतर से चलती है। उसी तरह ब्रह्म, एक सर्वव्यापी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, जो सबके भीतर-बाहर रहकर सबको चलाता है और जिसके आदि, मध्य और अन्त का कहीं ठिकाना नहीं है। इसे जाननेवाले लोग अलंकृत भाषा में कहते हैं कि यह एक ऐसा 'वृत्त' है, जिसका 'केन्द्र' सर्वत्र है और 'परिधि' कहीं नहीं। यह शुद्ध चेतना है और आनन्द इसका स्वभाव है। चेतन अर्थात् ज्ञानमय होने के कारण इसे इच्छा होती है और इच्छा, क्रिया बनकर विश्व के रूप में प्रकट होती है। इसलिए कहा जाता है कि ज्ञानमय विभु की इच्छा और क्रिया, स्वभाव है।

लोग इसे प्रजापति (सारी सृष्टि का अधीश्वर), आत्मभू (आप-से-आप होनेवाला), परमेष्ठी[2] (परमाकाश में, चेतना के आकाश में, अथवा ब्रह्म बनकर रहनेवाला) इत्यादि नाना नामों से पुकारते हैं। चेतना और आनन्द (चिदानन्द) ही इसका रूप है। साधना द्वारा इसे केवल अनुभव[3] किया जा सकता है। विवरण द्वारा इसको जानने की चेष्टा करना निरर्थक प्रयास है। स्वानुभूति का विषय शब्दों में नहीं आ सकता। अनुभव करने से ही उसका ज्ञान हो सकता है। जिसने कभी नमक या मिठाई नहीं खाई है, व्याख्यान द्वारा उसे इनके स्वाद का बोध कराना जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार व्याख्यान द्वारा ब्रह्मानन्द का बोध करना या कराना असम्भव है।

इस विभु (सर्वव्यापी) चेतना की इच्छा ही क्रिया-रूप ग्रहण कर सृष्टि और संहार का कार्य करती रहती है। इसके अनन्त रूप में कार्य के साधन हस्तपादादि की कल्पना करने से इसके असंख्य और विशाल हस्तपादादि की कल्पना करनी पड़ती है। इससे जीव की व्याकुलता बढ़ती है। आत्मोद्धार के लिए वह प्रभु (सर्वशक्तिमान्) के निकट जाने के लिए उसे इच्छानुकूल लघुरूप में ग्रहण करता है।

३. माया

ईश्वर की इच्छा का नाम माया है। उसकी इच्छा से जब सृष्टि-संहार की क्रिया

---

१. वेदान्त ने भी इसी प्रकार के उदाहरण का आश्रय लिया है – आकाशस्तल्लिङ्गात् (वे० सू० १.१.२२)। 'आकाश ही उसका बोधक है।' इसपर शाङ्कर भाष्य है—'विभुत्वादिभिर्हि बहुभिर्धर्मैः सदृशमाकाशेन ब्रह्म भवति।' सर्वव्यापित्वादि बहुत-से गुणों के कारण ब्रह्म आकाश जैसा है।

२. परमेष्ठी—'परमे व्योमनि चिदाकाशे ब्रह्मपदे वा तिष्ठति।' आकाश में, चेतना-रूपी अवकाश में, अथवा ब्रह्म बनकर रहनेवाला।

३. दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये।
स्वानुभूत्यैकसाराय नमः शान्ताय तेजसे ॥—भर्तृहरिशतक, १.१
"दिक्काल आदि की सीमा जिस पर नहीं है, चेतनामात्र जिसकी मूर्त्ति है, अपना अनुभव ही जिसका सार है, उस शान्त तेज को नमः।"

होने लगती है तब इस इच्छा और क्रिया का नाम माया हो जाता है। विद्वानों ने अनेक प्रकार से इसकी व्याख्या करने की चेष्टा की है।

माया शब्द मा[1] धातु से बनता है और इसका अर्थ है—नापना अर्थात् सीमाबद्ध करना। जिस क्रिया के द्वारा असीम निराकार ब्रह्म, आकार ग्रहण कर अपने को सीमाबद्ध कर लेता है, वही माया है। नित्य ज्ञानमय नित्य ब्रह्म में स्वेच्छा से आत्म-स्फुरण अथवा स्पन्दन होता है और इस गति द्वारा वह आकार ग्रहण करता है, जिसे सृष्टि कहते हैं। यह आत्मस्फुरण अथवा स्पन्दन मायाशक्ति है। स्फुरण करनेवाले और स्फुरण में, स्पन्दन करनेवाले और स्पन्दन में, अर्थात् ब्रह्म और माया में, कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्नि और उसका ताप, सूर्य और उसकी किरणें, बलवान् और उसका बल एक ही वस्तु के दो नाम हैं, उसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान्, माया और ब्रह्म एक ही वस्तु के दो नाम हैं।

स: भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्॥
यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्मसर्वदा॥
स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते।
चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते॥
तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव लक्ष्यते नान्यथा किल।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पना पुरम्॥
करोत्येव शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः।
सैवाचितिरिति प्रोक्ता जीवनाज्जीवितैषिणाम्॥
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता।
दृश्याभासानुभूतानां कारणात्सोच्यते क्रिया॥
वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते।
चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः॥[2] इत्यादि।

"चेतना के विस्तार (चिदाकाश) का नाम शिव है। उसका मन रूप स्पन्दशक्ति वही है॥२॥ जिस प्रकार पवन और उसका हिलना (स्पन्द) एक हैं, जिस प्रकार अनल और उसकी उष्णता एक हैं, उसी प्रकार चित् (चेतनामात्र—शुद्ध चेतना) और स्पन्दशक्ति भी सर्वदा एक हैं॥ ३॥ स्पन्द से वायु और उष्णता से अग्नि लक्षित

---

१. मा माने = माति।
२. योगवाशिष्ठ महारामायण; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७; पृ० १२५४, सर्ग ८४, श्लोक २—९

होता है। निर्मल शान्त चित्-मात्र शिव कहलाता है ॥४॥ वाक्सिद्ध लोगों के लिए, अकथनीय शान्त शिव, ब्रह्म हैं। वे स्पन्द-रूप मायाशक्ति द्वारा ही लक्षित होते हैं और किसी तरह नहीं ॥ ५ ॥ उनकी इच्छा ही स्पन्दशक्ति है। दिखाई पड़नेवाले इस जगत् को वह उसी प्रकार फैलाती है, जिस प्रकार आकारवाले पुरुष की इच्छा कल्पित (planned) नगर का निर्माण और विस्तार करती है ॥ ६ ॥ निराकार शिव की इच्छा इसे (जगत् को) बनाती है। जीवधारियों का प्राणस्वरूप होने के कारण वही चित् कहलाती है ॥ ७ ॥ सृष्टि का आकार (प्र + कृति = प्रति + कृति = आकार) स्वयं प्रकृति का रूप (आकार) बन जाता है। दिखाई पड़नेवाले (दृश्याभास) के अनुभव का कारण होने के कारण इसे क्रिया कहते हैं ॥ ८ ॥ बड़वाग्नि की ज्वाला की तरह सोखनेवाली होने के कारण इसे शुष्का कहते हैं। क्रोध के कारण चण्डिका और कमलवर्ण होने के कारण उत्पला कहते हैं ॥ ९ ॥ इत्यादि"

> शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्त्यपरमार्थतः।
> अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥[1]
> पावकस्योष्णतेवायं भास्करस्येवदीधितिः।
> चन्द्रस्य चन्द्रिकेवायं शिवस्य सहजा शिवा ॥[2]
> ब्रह्मणोऽभिन्नशक्तिस्तु ब्रह्मैव खलु नापरा।
> तथा सति वृथा प्रोक्तं शक्तिरित्यविवेकिभिः ॥
> शक्तिशक्तिमतो विद्वन्! भेदाभेदस्तु दुर्घटः ॥[3]

"शक्ति और शक्तिमान् में भेद कहना सच नहीं है। तत्त्वचिन्तक योगी इसमें अभेद (भेद नहीं) पाते हैं। आग के ताप, सूर्य की किरण और चन्द्र की चद्रिका की तरह, शिवा-शिव का स्वभाव है। ब्रह्म की अभिन्न शक्ति ब्रह्म ही है, कोई दूसरी नहीं। ऐसी स्थिति में अविवेकियों ने वृथा ही 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया। शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद दुर्घट है।"

निष्क्रिय ब्रह्म का ही सक्रिय रूप माया है। निराकार ब्रह्म जब स्वभाव से, अपनी इच्छा से, अपनी मनःशक्ति से आकार ग्रहण करता है तो उसे माया कहते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञों ने माया और मायिन् में कोई भेद नहीं देखा।

> छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
> भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
> अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
> तस्मिँश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥

१. ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्कर-भाष्य), निर्णयसागर प्रेस, सन् १९३५ ई०, पृ ६५
२. तत्रैव, पृ० ३९
३. तत्रैव, पृ० १९५ (सौरसंहिता से उद्धृत)

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥[1]

छन्द, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भव्य इत्यादि वेद जिसकी बातें कहते हैं, उसी (अक्षर) से मायी (मायापति) विश्व की सृष्टि करता है। उसी में सभी माया से बँधे हैं। प्रकृति को माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायी। इसका (महेश्वर का) अवयव बनी हुई सृष्टि से यह सारा संसार परिव्याप्त है ॥[2]

माया को लेकर विद्वानों ने बहुत बड़ी वितण्डा खड़ी कर दी है। इसके दो कारण हो सकते हैं : (१) मूलावस्था में शब्दकारों ने धातु-प्रत्यय के प्रयोग से, जिस निश्चित अर्थ को प्रकाशित करने के लिए ऐसे शब्दों का निर्माण किया, पीछे के लोग उनसे बहुत दूर पड़ते गये और उन शब्दों के अर्थ-सम्बन्धी उनके भाव धुँधले होते गये। अन्त में अपने पाण्डित्य के बल से वे मनमाने अर्थ पर उतर आये। (२) भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों ने अपने मतों को परिपुष्ट करने के लिए मनमाना अर्थ किया। इससे स्पष्ट अर्थ भी विकृत हो गये। पौराणिकों ने मूलार्थ की रक्षा की है और उनके भाव स्पष्ट हैं। बोध होता है, इसी परिस्थिति की कल्पना कर वेदव्यास जैसे तत्त्वज्ञों ने कहा था :

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥[3]

"जो ब्राह्मण, उपनिषत् और अङ्गसहित चारों वेदों को जानता है, किन्तु पुराणों को भलीभाँति नहीं जानता वह विचक्षण नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञान (वेद) को इतिहास (रामायण, महारामायण, योगवाशिष्ठ और महाभारत) और पुराण (के अध्ययन और मनन) से परिपुष्ट करता रहे। कम पढ़ने और सुननेवालों से वेद डरते हैं कि यह (मुझे समझ तो सकेगा नहीं, उलटा) मेरे ऊपर प्रहार करेगा।"

माया के सम्बन्ध में आधुनिक दार्शनिकों के निम्नलिखित उद्धरण पठनीय हैं :

सर जॉन उड्रफ का मत है : "माया का अर्थ है जिससे नापा जाय अर्थात् सीमाबद्ध किया जाय—'मीयते अनया इति माया'। वह क्रिया जो निराकार को साकार करती है। कोई

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषत्, ४. ९-१०
२ यह दिक्काल-प्रकरण में और भी अधिक स्पष्ट होगा।
३. ब्रह्माण्डपुराण (आनन्दाश्रम-संस्कृतग्रन्थावलिः, पूना), १.९, २४५.६, २१, २७, ३९
वायुपुराण (आनन्दाश्रम-संस्कृतग्रन्थावलिः, पूना), शाके १८२७, १०४.२१

इसका अर्थ करते हैं—मा (नहीं) या (जो) अर्थात् जो निर्गुण निराकार तत् नहीं है।"[1]

"माया अर्थात् परम सत् का किञ्चिन्मात्र भी संकोच का प्रथम स्पर्श इसे काल और (दिश् वा आकाश ?) शून्य में निक्षेप के लिए यथेष्ट है; यद्यपि यह 'टाइम्स' और 'स्पेस' उस परम संकोच और चिरन्तनता के जितना निकट होना सम्भव है, उतना निकट होगा। परम सत् किसी शून्य (space) में वर्त्तमान, सृष्टि करनेवाले ईश्वर(गौड) में परिवर्त्तित हो जाता है, जो अपने स्थान से विना हिले भीतर से ही सभी वस्तुओं को गतिशील बनाता रहता है। ईश्वर (गौड) कोई वस्तु और कहीं पर है, जो वस्तु बना हुआ परम सत् है। यह एक शक्ति (spirit) है, जो सभी वस्तुओं के भीतर घुस जाती है। यह है—सत्-असत्, ब्रह्म-माया, कर्त्तृ-कर्म, चिरन्तन शक्ति, 'अरिस्टॉटल' का स्थिर चलानेवाला, 'हेगेल' की परमशक्ति, 'रामानुज' का विशिष्टाद्वैत, और जो विश्व का कारण है। विश्व अनादि और अनन्त है; क्योंकि ईश्वर की शक्ति के विकास का कभी न आरम्भ हो सकता है और न अन्त। सर्वदा चंचल रहना इसका स्वभाव है।"[2]

'सर जॉन' ने 'माया' शब्द की व्युत्पत्ति का सहारा लेकर मूल भाव तक पहुँचने की चेष्टा की है, किन्तु 'श्रीराधाकृष्णन्' यथार्थ के आसपास चक्कर काटते दिखाई पड़ते हैं। ये कहते हैं कि यह 'टाइम' और 'स्पेस' में फेंका जाता है। 'यह' (it) से यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह माया है अथवा सत् (Being) है। इससे यह भी बोध होता है कि 'टाइम' और 'स्पेस' सत् और माया से भिन्न वस्तुएँ हैं, जिनमें इन दोनों में से कोई एक फेंका जाता है और जो परम संकोच और चिरन्तनता के अत्यन्त निकट होगा। इन तथा अन्यान्य उक्तियों से कोई निश्चित सिद्धान्त अथवा भाव स्पष्ट नहीं होता।

---

1. Maya means that by which a thing is 'measured'. 'That is limited मीयते अनेन (अनया ?) इति माया, the principle, which imposes form on the formless. Some explain it as *Mā* (not) *yā* (that), i. e. that which is the contrary of the infinite That without attributes. —***Sir John Woodroff***: World as Power, Causality and Continuity, Madras, 1923, Foot-note, page 31.

2. The first touch of Maya, the slightest diminution of absolute being is enough to throw it into space and time, though this space and this time will be as near as possible to the absolute unextendedness and eternity. The absolute one is converted into the creator God existent in some space, moving all thing from within without stirring from his place. God is the absolute objectivised as something somewhere, a spirit that pushes itself into everything. He is being-non-being, Brahma-Maya, Subject-Object, eternal force the motionless mover of Aristotle, the Absolute Spirit of Hegel, the Vishishtadvaita (Absolute relative) of Ramanuja, the efficient as well as the final cause of the universe. The world is beginningless and endless, since the energising of God could not have begun and could never come to an end. It is its essential to be ever at unrest.

—***Sir S. Radhakrishnan***: Indian Philosophy, Vol. I, p. 39.

४. वाक्

वाक् शब्द वच् धातु से बनता है। वाक् से ध्वनि और सार्थक शब्द—दोनों का ही बोध होता है। अर्थ है—विषय, और उसके बोध होने को प्रत्यय कहते हैं। जैसे—गो का अर्थ अथवा विषय है—एक प्रकार का जन्तु; और उसके रूप, रंग, गुण आदि का बोध होना प्रत्यय है। प्रत्येक विषय के तीन रूप होते हैं—पर, सूक्ष्म और स्थूल। भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों पर इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं :

पर (कारण)	सूक्ष्म	स्थूल
प्राज्ञ	तैजस्	विश्व
ईश्वर	हिरण्यगर्भ	विराट्
परा-पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी

'परा' वाक् कारण-रूप है। जब यह रूप ग्रहण करती हुई सूक्ष्मरूप मध्यमावस्था की ओर अभिमुख होती है तब इसका नाम 'पश्यन्ती' (देखती-दिखाती हुई) होता है। इस अवस्था में योगीजन दिव्य चक्षु से इसे देख सकते हैं। 'मध्यमा' वाक् ही हिरण्य-गर्भ शब्द है। इसी स्थिति में वाक्, मातृका-शब्द-रूप ग्रहण करती है। तत्पश्चात् स्थूल रूप ग्रहण कर 'वैखरी' नाम से, स्थूल ध्वनि अर्थात् कण्ठरव के रूप में प्रकट होती है।

निष्क्रिय ब्रह्म के, परमात्मा, परशिव, परमशिव, पराशक्ति, परमाशक्ति, अव्याकृता प्रकृति आदि नाम हैं। निष्क्रियावस्था में यह अशब्द, निर्विषय और प्रत्ययहीन रहता है; किन्तु सक्रियावस्था में यह शब्द, अर्थ और प्रत्यय-रूप ग्रहण करता है। निष्क्रिय ब्रह्म की अनन्त शान्ति में, इसकी स्वेच्छा से, इसमें शक्ति का स्फुरण अथवा स्पन्दन आरम्भ होता है। इससे नाद उत्पन्न होता है और घनीभूत शक्ति ही बिन्दु-रूप ग्रहण करती है और इसका प्रसार होने लगता है अर्थात् सृष्टि-कल्पना का विस्तार होने लगता है। शक्ति की यह लीला चेतना के विस्तार (चिदाकाश) में होने लगती है। स्पन्दन के साथ-साथ, ध्वनि और बिन्दु उत्पन्न होते हैं। स्पन्दन के अनन्त होने के कारण ध्वनि और रूप भी अनन्त हैं। इस स्पन्दन की ध्वनि का परिणत वा परिपक्व रूप, शब्दब्रह्म अथवा वेद है। इसकी मध्यमावस्था में पचास ध्वनि, पचास मातृकावर्ण (अ से क्ष तक) की ध्वनि के रूप में प्रकट होकर वैखरी-रूप में श्रुतिगोचर होती हैं। इनके कल्याणमय और प्रपंच तथा परमार्थसिद्धिप्रद होने के कारण, तत्त्वज्ञ इन्हें मातृका (प्यारी मैया) कहते हैं :

शब्दराशेर्भैरवस्य यानुच्छूनतयान्तरी।
सा मातेव भविष्यत्त्वात् तेनासौ मातृकोदिता॥
अनुच्छूनतया भविष्यत्त्वात्॥[1]

"शब्दराशि भैरव (शब्दब्रह्म) के अन्तर्गत (अन्तरी) शक्ति, निस्पन्द होने के कारण (अनुच्छूनतया) माता की तरह होनेवाली है। अर्थात् संसार को उत्पन्न करनेवाली है, इसीलिए इसे मातृका (मैया) कहा गया है।"

---

१. तन्त्रालोक: (काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलि:); श्रीनगर, सन् १९२२ ई०; चतुर्थो भाग:; Vol. IX, 1938, आह्निक १५

पराशक्ति अथवा परब्रह्म की इन पचास ध्वनि-वर्ण-रूप आत्मशक्ति की ही, ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूपों में, विभिन्न प्रकार की मात्राओं के रूप में परिकल्पना की जाती है। शैव और शाक्त-रूप में इसे 'मुण्डमाल' और वैष्णव, बौद्ध तथा अन्य मार्गों में, इसे 'पद्ममाल' कहते हैं। यह सारी सृष्टि का प्रतीक है। आनन्दमय ब्रह्म का उल्लास[1] ही वाक्प्रवर्त्तन का कारण है। जब यह उल्लास अपने उद्गम-स्थान में लीन होने लगता है, तब उसके साथ मातृका या सारी सृष्टि परावाक् (अर्थात् कूटस्थ ब्रह्म) में विलीन हो जाती है। इसी का नाम महाप्रलय है।

तत्त्वज्ञों का कहना है कि ब्रह्म के अनन्त विस्तार में, शक्ति-स्फुरण और शक्ति-संकोच, अर्थात् सृष्टि और प्रलय का कार्य चलता रहता है। जिस समय एक ब्रह्माण्ड विलीन होता रहता है, उस समय दूसरा प्रकट होता रहता है। इसका उदाहरण समुद्र से दिया जाता है। स्थिर समुद्र में किसी कारण से चंचलता उत्पन्न होती है और लहर उठती है। इसके ऊपर बहुत-से फेन और बुलबुले प्रकट होते हैं। कुछ काल तक स्थिर रहकर फेन और बुलबुलों को लेती हुई लहर पुनः सागर में लीन हो जाती है। जब एक लहर उठती रहती है, तब दूसरी लीन होती रहती है। ब्राह्म-समुद्र में सृष्टि और प्रलय का यह क्रम निरन्तर रूप से चलता रहता है।

ब्रह्म की इस स्पन्दन-क्रिया में नाना प्रकार की ध्वनियाँ उठती रहती हैं। उनमें सबसे व्यापक और मूल ध्वनि 'ॐ' है। यह अत्यन्त शक्तिशाली, परम पवित्र और स्वयं ब्रह्म-स्वरूप है और वेदों का मूल है। इसी प्रकार 'ह्रूँ', 'ह्रां'[2] आदि शक्तिशालिनी शुद्ध चेतनामयी ध्वनियों का उत्थान होता रहता है, जिनके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं।

वैदिक और पौराणिक साहित्य में 'वाक्' के इस स्वरूप का विस्तृत विवरण पाया जाता है :

"प्रजापतिर्वै इदमासीत्। तस्य वाग्द्वितीयासीत्। वाग्वै परमं ब्रह्म।"

"आरम्भ में केवल प्रजापति थे। उनके साथ वाक् थी। वाक् ही परम ब्रह्म है।" यहाँ वाक् और ब्रह्म को अभिन्न माना गया है।

"प्रजापतिर्वै इदमासीत्। तस्य वाग्द्वितीयासीत्। तं मिथुनमभवत्। सा गर्भमधत्त। सा अस्मात् अपक्रामत्। सा इमाः प्रजाः असृजत। सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत्॥[3]

"पहले केवल प्रजापति (सृष्टि के अधिपति) थे। उनके साथ वाक् थी। उनका संग हुआ। उसने गर्भ धारण किया। वह इससे (ब्रह्म से) निकल पड़ी। उसने जीव-जगत् की सृष्टि की। फिर वह प्रजापति में प्रवेश कर गई।"

उपनिषदों में इस अलंकृत उक्ति को और भी स्पष्ट किया गया है :

"स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्।"[4]

---

१. शाक्त दर्शन में इसे इच्छा और क्रिया-शक्ति कहते हैं।
२. तान्त्रिक भाषा में इन्हें 'बीज' कहते हैं। ये बहुत-सी क्रियाओं के कारण अर्थात् बीज हैं, इसलिए इनका नाम 'बीज' है।
३. काठक०, १२.५। २७.१
४. बृहदारण्यक०, २.४

"उसने मनसा (मन द्वारा) वाक् का संग किया अर्थात् अपनी इच्छाशक्ति से वाक् में क्रिया या गति उत्पन्न की।"

"यस्येच्छा लोके प्रजापतिर्लोके यस्मै वास्ति तस्मै वासीत् यद्वा सञ्जातं यत्सर्वमीशमाशिषे स्वाहा।"

"यस्य परमात्मनः इच्छा लोके प्रजानाम् आयतिः सृष्ट्यादिकं सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय इत्यादि श्रुतेः। मनसैव जगत्सृष्टिसंहारौ करोति यः तस्यां पक्षक्षपणे कियान् विस्तर इति लोके॥"[1]

"जिसकी इच्छा ही संसार में प्रजा की आयति (सृष्टि का विस्तार) करती है। जो है, था और होगा; जो सबका शासनकर्त्ता है, उसे नमस्कार है। अर्थात् केवल उसकी मानसिक इच्छा से सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रिया होती है।"

जो परब्रह्म की इच्छा को जन्तुओं की शारीरिक क्रियाएँ समझकर, पुराणों की 'ब्रह्मा का कन्या-गमन' इत्यादि कथा का पशु-धर्मवाला अर्थ लगाते हैं, उनकी भ्रान्ति हटाने के लिए कहा गया है :

"न भूतसङ्घसंस्थानं देवस्य परमात्मनः।
न तस्य प्राकृता मूर्त्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भिता॥
सर्वभूतमयं देहं त्रैलोक्ये सर्वजन्तुषु॥"[2]

"देव परमात्मा का आधार पञ्चतत्त्वों का समूह नहीं है और न मांस, चर्बी और हड्डीवाली, उनकी संसारी प्राणियोंवाली मूर्त्ति ही है। सभी तत्त्वों और सभी जीवों के भीतर तीनों लोकों में काम करनेवाली उनकी शक्ति ही उनका रूप है।"

वैदिक वाङ्मय में इसी भाव को नाना रूप से प्रकट किया गया है :

"स उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः॥"[3]

"वही बृहस्पति है। वाक् बृहती है; यह उसका अधीश्वर है, इसलिए बृहस्पति है।"

"एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः॥"[4]

"यही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ब्रह्म है; उसका यह पति है, इसलिए यह ब्रह्मणस्पति है।"

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥"[5]

"यह जो कुछ है, वह सब गायत्री है। वाक् ही गायत्री है। वाक् ही इस सारी सृष्टि को प्रकट करती है (गायति) और उसकी रक्षा करती है।" शतपथ ब्राह्मण, पञ्चविंश ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषत्, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों

---

१. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास), सन् १९३३ ई०; परमात्मिकोपनिषत्—पृ० २०६-७, श्लोक ८
२. तत्रैव, पृ० २०३
३. बृहदारण्यकोपनिषत्, अध्याय १, ब्राह्मण ३, श्लोक २०
४. तत्रैव, १.३.२१
५. छान्दोग्योपनिषत्, ३.१२.१

में ये ही वाक्य और ये ही भाव बार-बार दुहराये गये हैं। पुराणों ने भी इसका अनुमोदन किया है :

"शब्दब्रह्म परं ब्रह्म नानयोर्भेद इष्यते।
लये तु एकमेवेदं सृष्टौ भेदः प्रवर्त्तते॥
अन्योन्यापेक्षिणौ भूप शब्दार्थौ हि परस्परम्।
अर्थाभावे न शब्दोऽस्ति शब्दाभावे न बुध्यते॥"[१]

"शब्दब्रह्म और परब्रह्म में कोई भेद नहीं है। लयकाल में यह एक ही है। सृष्टि में (दोनों में) भेद होता है। शब्द और अर्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अर्थ नहीं रहने से शब्द नहीं है और शब्द नहीं रहने से कुछ बोध नहीं हो सकता।"

कोषग्रन्थों में भी वाक् के नाम ब्राह्मी, ब्रह्मशक्ति, सरस्वती इत्यादि हैं।

सरस्वती का अर्थ है—गतिवाली।[२] अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्म की स्पन्दन-शक्ति या क्रिया-शक्ति।

५. काल

काल शब्द से, साधारणतः, पल-विपल, दिन-रात, शताब्दी-सहस्राब्दी आदि का बोध होता है। अँगरजी शब्द 'टाइम' से भी यही बोध होता है। किन्तु यह कालमान या काल के नापने की रीति है, यह स्वयं काल नहीं है। जिस प्रकार धरती नापने का मापदण्ड भूमि नहीं है, उसी प्रकार कालमान काल नहीं है।

यूरोप के दार्शनिक और जड़ विज्ञानवेत्ता भी इस विषय पर चुप हैं। वे कालमान को ही 'टाइम' अथवा 'त्साइट' (zeit) कहते हैं। कालतत्त्व पर उन्होंने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया है।

कालमान को यदि काल मान लिया जाय तो नाना प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है। कालमान का प्रथम आधार प्रकाश और अन्धकार है। प्रकाश को दिन और अन्धकार को रात कहा जाता है। फिर इनके घण्टा, मिनट आदि में विभाग किये जाते हैं। मेरीडियन रेखा, जो भारत में उज्जयिनी और यूरोप में ग्रीनविच से खींची जाती है, उसके आधार पर दिन-रात को आठ पहर, साठ दण्ड—चौबीस घण्टों में विभक्त कर काल-गणना की जाती है। किन्तु यह रेखा भी सर्वथा कल्पित है। इसका किसी निश्चित तत्त्व से सम्बन्ध नहीं है।

भारतीय दर्शन के अनुसार काल एक द्रव्य अथवा तत्त्व है।

"पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।"[३]

"पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन—ये द्रव्य हैं।" इस भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :

"अपरस्मिन् अपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि।"[४]

---

१. स्कन्दपुराण (विष्णखण्ड), २८.४०,४१
२. सरस् = गति। सृ गतौ + असुन् औणादिक। सरस् + वती = गतिवाली, गतिशीला।
३. वैशेषिकसूत्र, १.५
४. तत्रैव, २.६

"ये काल के चिह्न हैं—परले पदार्थों में आगे होनेवाले का बोध कराना; एक साथ, देर से और शीघ्र होने का बोध कराना।"

"नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति।"[1]

"नित्य (परमात्मा) में नहीं रहने के कारण, अनित्य (सृष्टि) में रहने के कारण, कारण को काल कहते हैं।"

इन उक्तियों से काल के लिङ्ग (चिह्न) और आख्या (नाम) का बोध होता है, इसके यथार्थ रूप का नहीं।

न्याय के मत से—उत्पन्न होने योग्य वस्तु को उत्पन्न करनेवाला — काल है[2], किन्तु साधारण बुद्धि से, उत्पन्न होने योग्य वस्तु को उत्पन्न करनेवाला भगवान् है। इसलिए इससे भी यथार्थ तत्त्व का बोध नहीं होता है।

वेद, महाभारत और पुराणों में इसका विस्तृत विवरण मिलता है :

"कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वितिष्ठते॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
कालादापः समभवन्॥"[3]

"काल ने इस द्युलोक और इन पृथ्वियों को उत्पन्न किया। काल में भूत, वर्त्तमान (इषित) और भविष्य – सभी स्थित हैं। काल ने प्रजाओं की रचना की। प्रजापति से पहले काल था। काल से अप् उत्पन्न हुई।"

"कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे।
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः॥
संहरन्तं प्रजा कालं कालः शमयते पुनः।
कालो विकुरुते भावान् सर्वांल्लोके शुभाशुभान्॥
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजाः विसृजते पुनः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति चरत्यविधृतः समः।
अतीतानागता भावा ये च वर्त्तन्ति साम्प्रतम्।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां[4] हातुमर्हसि॥"[5]

"सृष्टि-संहार, सुख-असुख – इन सबके मूल में काल है। काल प्रजा (अव्यक्त महदादि) की सृष्टि करता है। सृष्टि का संहार करते हुए काल को काल ही शान्त करता है। सृष्टि में काल ही सभी शुभाशुभ भावों में परिवर्त्तन करता है। काल सारी सृष्टि को

१. वैशेषिकसूत्र, २.९
२. जन्यानां जनकः कालः। — न्यायमुक्तावली
३. अथर्ववेद, १९, ५३, ५ और १० एवं १९,५४, १
४. संज्ञा—ज्ञाननिष्ठा (नीलकण्ठ) = होशहवास
५. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १, श्लोक २७२—२७६

समेटता है और इसका संहार करता है। जब सभी सोये रहते हैं, काल जगता रहता है। यह एक-सा (आत्मा की तरह) आबाध गति से घूमता रहता है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान—सारी सृष्टि को काल-निर्मित समझकर व्याकुल न होना चाहिए।"

इन उक्तियों का भाव है कि काल एक शक्ति है, जिसका कार्य सृष्टि और संहार करना, अर्थात् बनाना और बिगाड़ना है।

"अनादि भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥
स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तम।
स संङ्कोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥"[१]

"हे द्विज! भगवान् काल का आदि-अन्त नहीं है। उनके द्वारा ही सृष्टि, स्थिति और संहार का नियम निरन्तर चल रहा है। हे पुरुषोत्तम! वे ही क्षोभ्य और क्षोभक हैं एवं संकोच-विकास द्वारा प्रधान (महत् या प्रकृति) का काम कर रहे हैं।"

इसका सारांश यह है कि काल एक निरन्तर गतिशील शक्ति है, जो स्वयं गतिशील रहता है और सबको गतिमान् बनाये रहता है। सृष्टि में संकोच और विकास, अर्थात्, ह्रास और वृद्धि, जन्म और मरण इसका धर्म है। श्रीमद्भागवत में भी काल का विस्तृत विवरण है :

"भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु।
विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा॥[२]
रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्॥
योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्यखिलाश्रयः।
स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः॥
न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत्।
यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥
यद्वनस्पतयो भीताः लताश्चौषधिभिः सह।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च॥
स्रवन्ति सरितो भीताः नोत्सर्पन्त्युदधिर्यतः।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात्॥
नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः।
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम्॥
गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात्।
वर्त्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम्॥

१. विष्णुपुराण (जीवानन्द); कलकत्ता, १.२.२६—३१
२. श्रीमद्भागवत, ३.११.१७

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम् ॥"[१]

"नाना रूपों का दिव्य आधार काल कहलाता है। महदादि और भिन्न दृष्टिवाले सभी जीव इससे त्रस्त रहते हैं। जो (काल) सबका आधार है, वह सब जीवों में प्रवेश कर जीवों द्वारा ही जीवों को खाता है। उसीका नाम विष्णु (सर्वव्यापी) है। वही यज्ञों का अधिष्ठाता है और समेटनेवालों में सबसे प्रबल काल है। इसका न कोई प्रिय है, न द्वेष्य है और न कोई बन्धु (अपना) है। अन्त करनेवाला यह असावधान लोगों में निरन्तर प्रवेश करता रहता है। जिसके भय से यह वायु बहती रहती है, जिसके डर से सूर्य गर्मी देता है, जिसके भय से मेघ बरसता है, जिसके भय से नक्षत्र चमकते हैं, जिसके भय से लता-ओषधि-सहित वनस्पति भीत हैं और अपने-अपने समय पर फूल और फल ग्रहण करते हैं, जिसके भय से नदियाँ बहती हैं, समुद्र सीमा से बाहर नहीं जाता, जिसके डर से आग जलती है, और पर्वत-समेत पृथ्वी डूब नहीं जाती; यह आकाश, जिसके डर से श्वास लेनेवालों को स्थान देता है, महान् और सातों लोकों से आवृत लोक अपनी देह को फैलाते हैं और जिसके भय से चराचर जगत् को वश में रखनेवाले गुणाभिमानी देवगण (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), युगानुसार सृष्टि इत्यादि में लगे रहते हैं, वह अन्त करनेवाला अनन्त काल है। वह अनादि और अव्यय है एवं सबका आदिकृत् (प्रवर्त्तक) है। लोगों से लोगों की उत्पत्ति कराता है और मारनेवाले को भी मृत्यु द्वारा मारता रहता है।"

इस विवरण के अलंकारों को छोड़ देने पर इसका सारांश इस प्रकार होगा— काल एक शक्ति है, जो अनन्त और सर्वव्यापी है। यह नाम-रूपात्मक जगत् में सबसे शक्तिशाली है और सबमें व्याप्त है। यह सबको गतिशील रखता है। कोई चाहे भी तो यह उसे स्थिर नहीं रहने देता, चाहे वे ब्रह्मा, विष्णु या कोई कीड़ा ही क्यों न हो। यह सबको आगे बढ़ाता है और समेट लेता है। अर्थात् यह गतिशक्ति है, जो सृष्टि में सभी वस्तुओं को उत्पत्ति की ओर चलाती है, उन्हें परिपक्वावस्था में पहुँचाती है और फिर समेट लेती है। जो आज अंकुर है, वह कल पौधा होगा, फूलेगा, फलेगा, पुराना पड़ेगा और लुप्त हो जायगा। जो आज गर्भस्थ है, वह कल भूमिष्ठ होगा; बाल, किशोर, युवा और वृद्ध होगा तथा लुप्त हो जायगा। यही दशा नाम-रूप के भीतर आनेवाले सभी पदार्थों की तरह ब्रह्मा, विष्णु आदि की भी होगी।

काल परमात्मा की इच्छा और क्रियाशक्ति का सम्मिलित रूप है। इच्छा होना ही क्रिया का प्रवर्त्तन है। इसलिए परमात्मा की गति-शक्ति, जिसका नाम काल है, वह उसकी इच्छा और क्रिया-शक्ति है :

"क्रमाक्रमात्मा कालश्च सर्वः (परः) संविदि वर्त्तते ।
काली नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥[२]

---

१. श्रीमद्भागवत्, ३.२९.३७—४५
२. अभिनवगुप्तकृत तन्त्रालोकः; काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः (श्रीनगर); सन् १९२२ ई०; चतुर्थो भागः आह्निक ६, श्लोक ७।

तत्त्वमध्यस्थितात् कालादन्योयं काल उच्यते ।
एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी ॥
क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः ।
एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते ॥
एतदीश्वररूपत्वं परमात्मनि यत्किल ।
तत्प्रमातरि मायीये कालतत्त्वं निगद्यते ॥"[1]

"क्रम और अक्रमवाला काल संवित् (चेतना) के अन्तर्गत है। देव की उसी पराशक्ति (काल) का नाम काली है। तत्त्व के भीतर काम करनेवाले काल से यह काल भिन्न है। यह काल, देव की क्रियाशक्ति है, जो सभी तत्त्वों को शरीर और विश्व को रूप प्रदान करनेवाली है। यही ईश्वर-तत्त्व है और इसे ही शिव का शरीर कहते हैं। यह जो प्रमाता, मायावान्, परमात्मा में ईश्वररूप है, उसी को कालतत्त्व कहते हैं।"

"विवर्त्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः॥"[2]

"जगत्-जाल को लगातार उलट-पुलट करता रहनेवाला काल इसका द्वारपाल है।"

"कलाकाष्ठादिरूपेण[3] परिणामप्रदायिनि ।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥"[4]

"कला, काष्ठा आदि के रूप में जो विश्व को परिणाम (परिणत अर्थात् परिपक्वावस्था) प्रदान करती है और उसे समेट ले सकती है, उस (काल-स्वरूपिणी) नारायण को प्रणाम है।"

यहाँ परिणाम और उपरति काल के धर्म कहे गये हैं, जिन्हें विष्णुपुराण में विकास-संकोच और महाभारत में विपेक्ष-संक्षेप कहा गया है।

जैन-दर्शन में काल की परिभाषा इस प्रकार है :

"वर्त्तनापरिणामक्रियाः परापरत्वे च कालस्य ॥"[5]

वर्त्तना (लगातार होते रहना), परिणाम (परिणत करना) की क्रिया, पर-अपरत्व (आगे-पीछे होने का बोध कराना)—ये काल के धर्म हैं।

इसमें 'योगवासिष्ठ' का 'विवर्त्तितजगज्जालः' 'मार्कण्डेयपुराण' का 'परिणामप्रदायिनी' और परापरत्व में 'अभिनवगुप्त' का 'क्रमाक्रमात्माकालः' सम्मिलित है; किन्तु मार्कण्डेयपुराण की 'उपरति' क्रिया छूट गई है। इन बिखरे हुए शब्दों और भावों को एकत्र करने से इसका रूप होगा :

विवर्त्तन, परिणाम और उपरति-रूप में कार्य करनेवाली विभु की गति-शक्ति का नाम काल है। यह पर-अपर अर्थात् क्रम-अक्रम का बोध कराता है।

---

१. अभिनवगुप्तकृत तन्त्रालोकः; काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः (श्रीनगर); १९२२; चतुर्थो भागः; श्लोक ३८—४०
२. योगवासिष्ठ (बम्बई); निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्द्ध, ३८-१६
३. कलाकाष्ठादि काल के सूक्ष्म विभाग हैं।
४. दुर्गासप्तशती, ११.८
५. उमास्वामी : तत्त्वाधिगमसूत्र, ५.२२

काल और समय शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ भी यही है। काल, कल् धातु से बनता है और प्रेरण, क्षेप, गति और संख्यान के अर्थ में इसका प्रयोग होता है। जो स्वयं गतियुक्त रहे, सबको चलाता रहे, किसी को स्थिर न रहने दे, उसे काल कहते हैं। समय[१] 'इ' धातु से बनता है : सम्+इ+अच्। 'इ' का अर्थ है गति। जो बराबर गतिमान् रहे, अर्थात् चलता-चलाता रहे, उसे समय कहते हैं।

काल और दिक् के सम्बन्ध में सर जॉन उडरफ का मत है :

"न्याय-वैशेषिक—आत्मा, मन, परमाणु और आकाश में—काल को भी जोड़ता है। जो हिन्दुओं के साधारण मतानुसार विश्वव्यापिनी गतिशक्ति है, जो वस्तुओं को उत्पन्न करती है, उनमें परिवर्त्तन लाती है और उन्हें समेट लेती है। इस प्रकार देखनेवालों में यह समय की भावना उत्पन्न करती है। दिक् वह शक्ति है, जो काल की गति-शक्ति के विरुद्ध, वस्तुओं को, अपने-अपने सापेक्ष स्थानों में 'यहाँ-वहाँ', 'दूर-निकट' अवकाश में स्थिर रखती है। इस पद्धति में काल और दिक् केवल भावना-मात्र नहीं हैं। वे द्रव्य अर्थात् ऐसी कोई वस्तु हैं, जो यथार्थ तत्त्व हैं और जिनकी स्वतन्त्र सत्ता है।[२]

---

१. सम्+इ+अच्=सम्यक् एतीति=समयः। इण् गतौ (पचाद्यच्)

२. To these (आत्मा, मन, परमाणु, आकाश) it (न्याय-वैशेषिक) adds Kāla, the principle of universal movement bringing according to general Hindu ideas—things into existence, subjecting them to change and carrying them out of existence, giving rise in the percipient to the notions of time : and Dik the principle which notwithstanding the impulse of the former, holds things together in their various relative positions as 'here and there', 'near and far' in Space. In this system, however, neither Time nor Space are mere notions. They are Dravya or Entities, that is something that is independently real and self-subsisting.

Foot-note : In the Panchrātra Tantras also time is defined 'as the mysterious power which urges on and matures everything.' It is three-fold as Supreme, Subtle, Gross. Transcendental time is traced back to Veda and is referred to in the saying कालः काले नयति माम्—Time leads me in time. This is अखण्डकाल or time without sections.

—*The World as Power : Reality*; Madras, 1953, p. 46.

According to the Nyāya-Vaisheshika Darshan, Kāla is a general principle of movement and Dik is a power which acts in exactly a contrary way, that is, by holding things together in a particular position. It is not space in the sense of room and is in the nature of spatial direction.

Foot-note : This is Ākash in which Dik operates. Space as extension or locus of finite body(स्थित्याधार)is called देश।*

* दिक्प्रकरण में इसपर विचार किया जायगा। —*Ibid.*, p. 47.

"पाद-टिप्पणी—'पाञ्चरात्रतन्त्र' में भी काल को एक अव्यक्त शक्ति कहा गया है, जो सभी वस्तुओं को चलाती रहती है और परिणत वा परिपक्व करती रहती है। यह तीन प्रकार की है—पर, सूक्ष्म और स्थूल। अपरोक्ष काल की उत्पत्ति का पता वेद से लगता है और कहा जाता है कि —कालः काले नयति माम्—काल मुझको काल में ले जाता है। यह अखण्ड काल है।"

"न्याय-वैशेषिक दर्शन के मतानुसार काल एक गत्यात्मक शक्ति है और दिक् एक शक्ति है, जो विपरीत रीति से काम करती है ; अर्थात् किसी विशेष स्थिति में वस्तुओं को स्थिर रखती है। अवकाश के अर्थ में आया हुआ 'स्पेस' इसका अर्थ नहीं है। इसका अर्थ है— अवकाश में उद्देश्य।"

"पाद-टिप्पणी—आकाश में दिक् के कार्य होते हैं। स्थित्याधार का नाम ही देश[1] है।"

काल—गति की साधारण शक्ति। दिक्—वस्तुओं को एकत्र रखनेवाली शक्ति।[2]

अद्वैत वेदान्त के मत से दिश् (दिशा का विस्तार) और काल (समयबोध) केवल कल्पना-मात्र हैं।[3]

संगृहीत सार

ज्ञानेच्छा क्रियात्मक विभु की क्रियाशक्ति के दो प्रधान रूप हैं—गति और स्थिति। गत्यात्मक शक्ति का नाम काल है।[4] यह स्वयं गतिशील रहता है और सारी सृष्टि में किसी को स्थिर नहीं रहने देता। सबको विकास द्वारा, परिणत या परिपक्वावस्था में पहुँचाकर उन्हें समेट लेता है। इसकी क्रिया का यही स्वभाव है। इसलिए सारी सृष्टि विवश होकर इसके वश में पड़ी हुई है और इसकी निरपेक्ष क्रिया-

---

१. दिक्प्रकरण में इसपर विचार किया जायगा।

२. Kāla general principle of movement and Dik, a principle, which holds things together.

—*Power of Mind*, Madras, 1922, p. 62.

३. देखिए : योगवासिष्ठ, ३.२०.२८; उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग ८०; उपशमप्रकरण, ५.३४.९२—१०२; महोपनिषद्, ६७, ६८; यो०वा०६.१२७.५२; उत्तरार्द्ध ६.१८, १६.७३।

४. निरुक्त और परशुरामकल्पसूत्र के अनुसार काल की छह अवस्थाएँ हैं : अस्ति, जायते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति। महाभारत ने इसे संकोच और विकास कहा है और तन्त्र ने इसे केवल एक रूप में स्पन्द अथवा स्पन्दन कहा है। अद्वैत वेदान्त इसे स्फुरण कहता है।

शीलता से त्रस्त रहती है ; क्योंकि अपनी अबाध गति में यह, छोटे-बड़े और अच्छे-बुरे, किसी का विचार नहीं करता । इसके चक्कर या लपेट में सारी सृष्टि पड़ी हुई है । इसलिए चक्र[1] या नाग[2] के रूप में इसके प्रतीक की कल्पना की जाती है ।

क्रियाशक्ति या शक्ति का आश्रय और उद्गम-स्थान परमात्मा है । जब तत्त्वों के भीतर संकुचित या लघुरूपों में उसकी क्रियाशक्ति काम करती है, तो उसका नाम काल वा काली है; किन्तु समस्त क्रियाशक्ति के रूप में यह स्वयं महाकाल या महाकाली है, जिससे निकलकर लघुकाल के असंख्य रूप भिन्न-भिन्न तत्त्वों और भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डों में काम करते रहते हैं । इसलिए इसका नाम अनन्त है ।

६. दिक्

काल के यथार्थ रूप के समझने में जो कठिनाई है, दिश् या दिक् के यथार्थ रूप के समझने में वही कठिनाई है । अँगरेजी शब्द 'स्पेस' (Space) को दिक् का पर्यायवाची शब्द मानकर जब इसे समझने की चेष्टा की जाती है, तब यह और भी जटिल हो उठता है; क्योंकि दिश् और स्पेस की भावनाओं में मौलिक भेद है ।

आकाश के अवकाश या शून्य स्थान को 'स्पेस' कहते हैं । साधारणतया लोग आकाश और 'स्पेस' को पर्यायवाची शब्द मानते हैं । दर्शनशास्त्र के बहुत-से पण्डित भी दिक् और आकाश में कोई भेद नहीं मानते । वे इन्हें एकार्थक शब्द मानते हैं, पर भारतीय दर्शन और पुराणों के अनुसार आकाश और दिक् दो भिन्न तत्त्व हैं । वैशेषिक ने आकाश और दिक् को दो भिन्न द्रव्य माना है ।[3] श्रीमद्भागवत ने दिश् को एक शक्ति माना है । यह जड़ आकाश नहीं है । यह सृष्टि में काम करनेवाली अनेक शक्तियों में से एक है ।

---

१. एव कालविभागेन कालचक्रं प्रवर्त्तते । —महाभारत, विराट्पर्व, ५२·१ ।

२. लिङ्गं पुरुष इत्युक्तो योनिस्तु प्रकृतिः स्मृता ।
नागः कालः समाख्यातः सम्बन्धस्तु तयोः द्वयो ॥
—प्राधानिक रहस्य की टीका में भुवनेश्वरी-संहिता से उद्धृत ।

पुरुष(ब्रह्म)का नाम लिङ्ग और प्रकृति का नाम योनि है । नाग काल है, जो दोनों के सम्बन्ध का बोधक है । पुरुष और प्रकृति–दोनों निराकार शक्तियाँ हैं । लिङ्ग और योनि का भी इसी अर्थ में प्रयोग होता है । इन शब्दों को जन्तुओं के नर-नारी और जननेन्द्रियों के अर्थों में समझने से तत्त्वार्थ लुप्त हो जाते हैं और एक विचित्र बीभत्स दृश्य उपस्थित हो जाता है । पुरुष, प्रकृति और काल हैं—शक्तिमान्, शक्ति और उसकी गति ।

३. पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशंकालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि–वैशेषिक सूत्र, १.५

"देवा वैकारिका दश ।
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ।"[1]

"दिक्, वायु, सूर्य, वरुण, अश्वी, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र—ये विकारोत्पन्न दस देव हैं ।"

विकार का अर्थ है—परिवर्त्तन । कूटस्थ ब्रह्म में क्षोभ होने से सृष्टि-प्रवर्त्तन के लिए जो शक्तियाँ प्रकट होती हैं, दिक् उनमें से एक शक्ति है ।

"दिशो वायुश्च सूर्यश्च वरुणश्चाश्विनावपि ।
ज्ञानेन्द्रियाणां पञ्चानां पञ्चाधिष्ठातृदेवता ।।"[2]

"दिक्, वायु, सूर्य, वरुण और अश्वी—पाँच ज्ञानेन्द्रियों के ये पाँच देवता हैं ।"

कोशकार भी दिक् और आकाश को एक नहीं मानते । अमरकोश की 'व्याख्या-सुधा' नामक टीका में भानुजी दीक्षित ने दिश् का अर्थ 'दिशति अवकाशम्' किया है, अर्थात् जो अवकाश का बोधक है । इससे बोध होता है कि अवकाश ही दिश् है ।

'बौद्धधर्म-दर्शन'[3] में आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी दिक् पर विचार किया है । वे आकाश और अनन्त दिक् को पर्याय समझते हैं । फिर 'धर्मकीर्त्ति' के मतानुसार अर्थों[4] के देशस्थ होने को वे दिक् कहते हैं । आकाश का अवकाश और विषयों का देशस्थ[5] होना दो वस्तुएँ हैं । वहीं इसी प्रसंग में वे कहते हैं कि 'दैशिक अर्थों की संगति का कोई कारण होना चाहिए, जो कालवर्त्ती भावों की परम्परा के सदृश हो.... दिक् से स्वतन्त्र एक आकाश है ।"

आचार्यजी ने यहाँ दिक् के मूलार्थ के निकट पहुँचने की चेष्टा की है । दिश् धातु का सीधा परिवर्तित रूप देश, इसका अन्वर्थक है । देश का अर्थ है स्थिति । इसलिए दिश् सृष्टि में काम करनेवाली स्थिति-शक्ति है । सृष्टिकार्य के लिए गति के साथ स्थिति आवश्यक है । यदि किसी प्राणी में भी केवल गति ही काम करती रहे तो उसके अवयव भी टूटकर छिटकते रहेंगे और कोई रूप या कार्य असम्भव हो जायगा । जगत् के कार्यों को सम्पादित करने के लिए अवयवों का एकत्र रहना उतना ही आवश्यक है जितना इनमें गति का रहना ।

जिस तरह काल गति-शक्ति है—किसी को स्थिर नहीं रहने देता, सबको चलाता

---

१. श्रीमद्भागवत, ३.५.३०
२. तत्रैव, ३.७.३५-३६
३. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना । विक्रम-संवत् २०१३ । पृ० ५८५
४. अर्थ—विषय ।
५. देशस्थ—स्थिर होना ।

रहता है—उसी तरह दिक् भी गति का अवरोध करती रहती है और सबको स्थिरता देती रहती है। इस गति और स्थिति की खींचाखींची में सृष्टि चक्कर काटती रहती है। यही स्थिति-शक्ति दिक् है। प्रकृति-विकृति, साधु-असाधु, स्थावर-जंगम आदि की तरह दिक्काल विपरीतार्थबोधक युग्म शब्द है।[1]

इन सभी तर्क-वितर्कों का सारांश है कि दिश् का प्रयोग प्रसंगानुसार दिशा (स्पेस) और स्थिति-शक्ति (डाइनामिक फोर्स)—दोनों ही अर्थों में होता है।

७. गुण

दार्शनिक अर्थ में गुण कहने से रज, सत्त्व और तम का बोध होता है। विभु क क्रियाशक्ति में प्रवर्त्तन का नाम रज, स्थिति का नाम सत्त्व और सिमटकर लय होने का नाम तम है। सृष्टि-क्रिया के प्रारम्भ का ही नाम माया है। यह क्रिया इन तीनों स्थितियों में उलटती-पुलटती रहती है। इसलिए इसे त्रिगुणात्मिका कहते हैं।

रजोगुण से सृष्टि-क्रिया का प्रवर्त्तन होता है, सत्त्वगुण से यह स्थिर रहती है और तमोगुण से इसका लय होता है। स्थिर सागर चंचल हो उठता है और जल, तरंग का रूप ग्रहण करता है, जिस पर फेन और बुलबुले निकल आते हैं। यह रजोगुण है। फेन और बुलबुलों के साथ तरंग की स्थिति सत्त्वगुण के कारण है और उसका फिर सागर में विलीन हो जाना तमोगुण का परिणाम है। अशेष कारण-रूप चिदानन्द के विस्तार में, उसकी अपनी इच्छा से क्रिया उत्पन्न होती है और इसके तीन रूप होते हैं—बनना, बने रहना और बिगड़ जाना। क्रिया के इन तीन रूपों का नाम त्रिगुण है। अशेष कारण चिदानन्द जब अपने आनन्द में विभोर निस्पन्द पड़ा रहता है, तब उसे निष्क्रिय ब्रह्म कहा जाता है; किन्तु जब वह सृष्टि, स्थिति, विनाश की क्रिया में प्रवृत्त होता है तब वह सक्रिय ब्रह्म कहलाता है।[2] ब्रह्म के इन सक्रिय और निष्क्रिय रूपों को नाना प्रकार की संज्ञा दी गई है—निर्गुण-सगुण, निष्क्रिय-सक्रिय, निष्कल-सकल, निराकार-साकार आदि। निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। यह एक ही वस्तु के दो नाममात्र हैं।

कला, साहित्य और उपासना-शास्त्र में इन सिद्धान्तों का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया गया है।

८. धर्म

वर्त्तमान युग में लोग साधारणतः 'धर्म' शब्द का अर्थ, मजहब, रेलिजन इत्यादि लगा लेते हैं और धर्म शब्द तथा इसके अर्थ में सन्निहित व्यापक सिद्धान्त को समझ

---

१. दिक् पर सर जॉन उडरफ का मत काल-प्रकरण में देखिए। काल के साथ उन्होंने दिक् की विवेचना की है।

२. स्मर्त्तव्य—'प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरसि हरसि अपने रँग खेलत।'

सूर

नहीं पाते और जहाँ धर्म को शान्तिप्रद शक्ति के रूप में प्रकट होना चाहिए, वहाँ यह भ्रान्ति, घृणा और बड़े-बड़े उपद्रवों का कारण बन जाता है।

महाभारत, रामायण और पुराणादि प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में यह सिद्धान्त-रूप में पाया जाता है कि जब-जब धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होने लगती है तब-तब परमात्मा कोई रूप ग्रहण कर अधर्म का नाश और धर्म की रक्षा या संस्थापना करते हैं। यदि धर्म का अर्थ 'रेलिजन' या मजहब मान लिया जाय तो एक धर्मावलम्बी की वृद्धि के लिए, परमात्मा दूसरे धर्मवालों का, और दूसरे की वृद्धि के लिए, तीसरे का संहार करता रहे तो अल्पकाल में ही सारी पृथ्वी मनुष्यों से सूनी हो जाय। (पशुओं से नहीं ; क्योंकि पशुओं के साथ ऐसे धर्म का बखेड़ा नहीं है।) इस प्रकार समझने से धर्म के सिद्धान्त और उनके प्रचलित अर्थ मेल नहीं खाते।

धर्म की परिभाषा वैशेषिक-सूत्र में पाई जाती है—**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः।**[1] जिससे अभ्युदय (उन्नति) और उसके निःश्रेयस् (कल्याण) की सिद्धि हो, उसे धर्म कहते हैं, अर्थात् जो ऊपर उठाता जाय और उन्नति को बनाये रखे, कभी नीचे आने न दे, वही धर्म है।

यह एक बहुत बड़ा और व्यापक सिद्धान्त हुआ, जिससे धर्म के यथार्थ रूप का निश्चयात्मक बोध नहीं होता है। इसके व्यावहारिक रूप के विषय में मनु ने इसका लक्षण इस प्रकार बताया है :

**"धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥"**[2]

"धृति (किसी भी परिस्थिति में न घबराना), क्षमा (अपने तथा दूसरों के मन की चंचलताओं को यथार्थ रूप में देखना), दम (प्रलोभनों के रहते भी मन की दृढ़ता), अस्तेय (दूसरे की वस्तुओं को अग्राह्य समझना), शौच (आभ्यन्तरिक और बाह्य पवित्रता), इन्द्रिय-संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध (क्रोध न करना)—ये दस धर्म के लक्षण हैं।"

किसी व्यक्ति-विशेष, समाज-विशेष या देश-विशेष के लिए ये नियम नहीं हैं। ये सार्वजनिक, सार्वभौम और चिरन्तन सिद्धान्त हैं, जो सृष्टि में विकास के कारण और आधार हैं।

दिक्कालादि की तरह, धर्म सृष्टि-क्रिया में काम करनेवाली एक शक्ति है, जिसपर लक्ष्यालक्ष्य सृष्टि स्थित है, अर्थात् धर्म के नियमों से ही सृष्टि में उत्पत्ति होती है, इसका विकास होता है और यह बनी रहती है। धर्म से इसकी स्थिति है और अधर्म (धर्म के नहीं रहने से) इसका नाश हो जाता है। मानव-समाज में भी ये ही नियम काम करते

---

१. वैशेषिकदर्शनम्—१.२। वैशेषिक धर्मविशेष को ही आदिकाल मानता है। वै० सू० १.४। बुद्ध का नाम धर्मराज है। ये सब एक ही सिद्धान्त के भिन्न नाम और रूप हैं।
२. मनुस्मृतिः, ६.९२

है। जो धर्म को अपना अवलम्ब बनाता है, उसे यह नीचे गिरने नहीं देता, ऊपर की ओर उठाये ही रहता है और उठाता जाता है। इसलिए कहा गया है कि **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** धर्म को बचाये रहने से अर्थात् धर्मानुसारी नियमों के अनुसार काम करते रहने से, धर्म रक्षा करता रहता है। गिरने नहीं देता।

धर्म का अर्थ 'रेलिजन' या मजहब करने से भ्रान्ति होती है। धर्म और 'रेलिजन' या मजहब की भावनाओं में बड़ा अन्तर है। 'रेलिजन' या मजहब का आधार, गॉड, खुदा या ईश्वर है। यदि गॉड या खुदा को निकाल दिया जाय तो रेलिजन आदि का अस्तित्व ही विपन्न हो जाता है। किन्तु, ध्यान देने की बात है कि धर्म के सिद्धान्त में अथवा व्यावहारिक लक्षण में ईश्वर का नाम ही नहीं है। धर्म ईश्वर-भावना पर आश्रित नहीं है। यह स्वयंसिद्ध शक्ति है।

धर्म के विरुद्ध जो कुछ है, वह अधर्म है। जिस प्रकार जीवन को आगे बढ़ाना और बनाये रखना धर्म का अटल सिद्धान्त है, उसी प्रकार जीवन को पीछे ढकेलना और गिरा देना अधर्म (धर्म के अभाव) का अटल परिणाम है। धीर और सत्यवादी का कभी पतन हो नहीं सकता। उसी प्रकार बात-बात में पिनकनेवाले चंचल और झूठे आदमी का उत्थान कभी नहीं होता।

आचार, अर्थात् धर्म के नियमों के व्यवहार को ही धर्म समझ लेने से, धर्म के सच्चे स्वरूप के समझने में भ्रम होता है। धर्म के सिद्धान्त निश्चित हैं, किन्तु देश-काल-पात्रानुसार इसके एक ही सिद्धान्त के आचरण भिन्न-भिन्न होते हैं। शुचि रहना धर्म का सिद्धान्त है। ठंढे देशों के लोगों को शुचि रहने के लिए उतनी बार स्नान करने या अपने अवयवों को धोने की आवश्यकता नहीं होती, जितनी गर्म देश के लोगों को। उसी प्रकार नीरोग मनुष्य के लिए शीतल जल से त्रिकाल स्नान शुचिकर हो सकता है; किन्तु रुग्ण व्यक्ति के शौच का आचार इससे भिन्न होगा। कभी-कभी बहुत दिनों तक स्नान नहीं करना ही उसके लिए हितकर होगा। स्नान करना धर्म है, किन्तु देश, काल, पात्रानुसार ही। धर्मशक्ति के एकत्व और उसके आचरण की भिन्नता को लक्ष्य कर ही वेदव्यास ने कहा है—**'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'**। धर्म का यथार्थ रूप अन्धकार में है। जिन्होंने **'आचारः प्रथमो धर्मः'** कहा, उनका तात्पर्य था कि धर्म के नियमों का आचरण करना ही धर्म का सबसे उत्तम रूप है।

धर्म के सिद्धान्त पर भारत में सामाजिक व्यवस्था की संस्थापना की गई है। प्राणिमात्र की प्रथम आवश्यकता है–भोजन, और तत्पश्चात् काम-वासना, अर्थात् सृष्टि का विस्तार। इन दोनों के पल्लवित और पुष्पित रूप ही विकास का विशाल रूप ग्रहण करते हैं। भोजन के विकसित रूप ही धन-सम्पत्ति, सुख-समृद्धि और वैभव हैं, जिन्हें अर्थ कहते हैं। उसी प्रकार सन्तान, परिवार, ग्राम, देश और अपने-पराये की नाना प्रकार की भावनाएँ काम की क्रियाओं के अन्तर्भुक्त हैं। इसलिए अर्थ और काम के आधार पर समाज-व्यवस्था हुई। अर्थ और काम को स्थिरता और संयत रूप देने के लिए, धर्ममूलक अर्थ और

धर्ममूलक काम का विधान हुआ। अर्थात् लोगों के अर्थ-सम्बन्धी उद्यम ऐसे हों, जिनसे अपनी और दूसरों की उन्नति हो और वह उन्नति बनी रहे। काम-सम्बन्धी उद्यम और चेष्टाएँ भी ऐसी हों, जिनसे अपनी और पड़ोसियों की उन्नति हो और वह स्थिर रहे। इसका नाम हुआ त्रिवर्ग—धर्मार्थकाम। इन्हें व्यावहारिक रूप देकर, समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का निर्माण हुआ। ये तीनों जीवन में अलग-अलग तो काम करते नहीं—एक साथ गुँथे रहकर काम करते हैं। इसलिए धर्मशास्त्र में अर्थ-काम की, अर्थशास्त्र में धर्म-काम की और कामशास्त्र में धर्मार्थ की व्यवस्था पाई जाती है।

धर्म के नियम चिरन्तन हैं और उनका व्यावहारिक रूप, देश-काल-पात्रानुसार बदलता रहता है। इसलिए अर्थ और काम के व्यावहारिक नियम भी देशादि के अनुसार भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं और उनमें परिवर्त्तन भी होता रहता है। अर्थशास्त्र के जो नियम दो-तीन सौ वर्ष पूर्व प्रचलित थे, उनमें से बहुत-से नियमों से आज काम नहीं लिया जा सकता। काम-सम्बन्धी भावनाओं में भी इसी प्रकार के परिवर्त्तन हो गये हैं और होते रहते हैं। त्रिवर्ग की सिद्धि, अर्थात् उन्नतिमूलक अर्थ और काम की व्यवस्था, भारतीय आदर्श के अनुसार, मानव-समाज का चरम लक्ष्य रहा है। चतुर्थ वर्ग अर्थात् मोक्ष, जिसमें आत्मा-परमात्मा और तत्त्व की बातें आती हैं, सबको न उसकी आवश्यकता है और न सबमें उसे ग्रहण करने की योग्यता ही रहती है तथा न सभी उसके पात्र ही हैं। वह ब्रह्मविद्या थोड़े-से विकसित महामानवों में सिद्ध और प्रकट होती है, जो सारी मानवता का मार्ग-दर्शन करते रहते हैं।

अशेष कारणभूत ब्रह्मशक्ति पर सारी सृष्टि की बाह्य और आभ्यन्तरिक क्रियाओं के आश्रित रहने के कारण मोक्षशास्त्र या ब्रह्मविद्या का त्रिवर्ग से आप-से-आप सम्बन्ध हो जाता है। किन्तु, त्रिवर्ग की उपेक्षा कर ब्रह्म और मोक्ष पर गाल मारते रहना, प्राणी की अधोगति का द्योतक है। त्रिवर्ग के मूल धर्म की साधना से मोक्ष पर आप-से-आप अधिकार हो जाता है।

भाव को स्पष्ट करने के लिए फिर एक बार कहना पड़ता है कि दिक्कालादि की तरह धर्म आगे बढ़ानेवाली और स्थिर रखनेवाली एक स्वतन्त्र चिरन्तन शक्ति है, जो सारी सृष्टि में काम करती रहती है। इस शक्ति के जितने रूप और कर्म हैं, उनका आदिरूप या उद्गम-स्थान महाधर्म अथवा धर्मराज ब्रह्म है।

भगवान् बुद्ध ने महाधर्म या धर्मराज के रूप में परब्रह्म को ग्रहण किया और धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन के रूप में ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) के बुद्ध और धर्म का यही स्वरूप है। धर्मराज, तथागत आदि बुद्ध के नाम हैं, जिनसे यह भावना स्पष्ट हो जाती है।[1] जैनों ने भी धर्म के पूर्ववर्त्ती रूप को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है।[2]

---

१. यह बुद्ध-प्रकरण में और भी अधिक स्पष्ट होगा।
२. यह जैन-प्रकरण में और भी अधिक स्पष्ट होगा।

९. परमात्मा, आत्मा और जीवात्मा

परमात्मा

विश्वव्यापी चित् और आन्दरूप ब्रह्म, आत्मा है। इसे ही परमात्मा भी कहते हैं।

आत्मा

'आत्मन्' शब्द 'अत्' धातु से बनता है। 'अत्' का अर्थ है—सतत गमन। इसका अर्थ है—जो स्वयं गतिधर्मा हो और जिसके संसर्ग से सभी वस्तुएँ गतिशील बन जायँ। परमात्मा ही जब संकुचित रूप में पिण्डों में काम करता है, तब इसका नाम आत्मा हो जाता है और विश्वव्यापी रूप में वह परमात्मा है। जैसे—वायु विश्वव्यापी है। इसका जितना अंश साँस से प्राणियों के शरीर के भीतर जाता है, उतना उस पिण्ड का वायु हुआ। छूटते ही वह विश्ववायु के साथ एकाकार हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्माण्डस्थ और पिण्डस्थ परमात्मा और आत्मा की स्थिति है, इनमें कोई अन्तर नहीं है।

जीवात्मा[1] और मोक्ष

आत्मा जब अविद्या-माया के मोह में पड़कर अपने को जड़ प्रकृति अर्थात् शरीर समझने लगता है, तब कर्मबन्धन में पड़कर यह जीवात्मा हो जाता है। जिस प्रकार किसी घर में रहनेवाला मनुष्य यह समझने लगे कि मैं ही घर हूँ और घर की दीवार के टूटने से यह समझे कि मेरा ही हाथ-पैर टूट गया और रोने-चिल्लाने लगे, उसी तरह जड़ शरीर की इन्द्रियों के कार्य (काम, क्रोध, सुख-दुःखादि) को जब आत्मा अपना सुख-दुःख समझकर रोने हँसने-लगता है, और तदनुसार कर्म में लीन हो जाता है तब यह कर्मबद्ध आत्मा, जीवात्मा कहलाता है। इस कर्मबन्धन से छुटकारा ही मोक्ष (छुटकारा) है। यह तत्त्वज्ञान से प्राप्त होता है। तत्त्व (तत् + त्व) का अर्थ है—उपाधि-रहित असली रूप। यहाँ जीवात्मा की उपमा उस सिंह से दी जा सकती है, जो गदहे की खाल ओढ़कर अपने को गदहा समझ ले और गदहे की तरह बोलने तथा अन्य व्यवहार करने लगे। किन्तु उसे मालूम हो जाय कि मैं सिंह हूँ तो खाल फेंककर सिंह की तरह गरजने और अन्य व्यवहार करने लगे, उसी तरह जीवात्मा का, अर्थात् गदहे की खाल में सिंह को अपने यथार्थ रूप का ज्ञान हो जाय तो वह बन्धन से छूटकर अपना रूप, अर्थात् आत्मा-परमात्मा का रूप ग्रहण कर लेता है। इस बन्धन का मूल कारण अविद्या है। अविद्या से आसक्ति और आसक्ति से बन्धन होता है। यदि भगवत्कृपा अथवा गुरु-कृपा से साधनाओं द्वारा अविद्या का नाश हो जाय तो जीवत्व नष्ट हो जाता है और आत्मा का अपना रूप प्रकट होता है।

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।"

---

१. जीव देखिए :
योगवासिष्ठ, ५·७४, १७—२०; ६·१८८, २,४
Talks with Sri Ramana Maharshi, p. 245.

"हे अर्जुन ! ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देता है।"—इसी का नाम मोक्ष है।

१०. अवतार

विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार परमात्मा का खेल है। खिलौने की तरह संसार की रचना कर वह उसके साथ खेलता रहता है। सृष्टि में जब उपद्रव और विनाश की क्रिया बढ़ जाती है तब इसकी रक्षा के लिए, अर्थात् धर्म-संस्थापना के लिए परमात्मा प्रकट होते हैं, ऐसा भारतीय संस्कारवालों का विश्वास है। सनातन मत के सभी सद्ग्रन्थ इस सिद्धान्त को मानते हैं। यही परमात्मा का अवतार है।

अवतार दो प्रकार के हैं—खण्डावतार और पूर्णावतार। साधारण या छोटे उपद्रवों की शान्ति के लिए जब परमात्मा विभूति के रूप में प्रकट होता है तब यह खण्डावतार कहलाता है और जब रावणादि-जैसे बड़े-बड़े उपद्रवों को शान्त करने के लिए शक्ति-व्यूह अर्थात् नाना प्रकार की शक्तियों के साथ प्रकट होता है तो यह पूर्णावतार कहलाता है। परमात्मा अपने सारे रूप को प्रकट नहीं कर सकता। किन्तु, जब अपने शक्तिव्यूह को लेकर प्रकट होता है तब यह पूर्णावतार कहा जाता है। जैसे—राम, कृष्ण।

परमात्मा का ही नियम है कि जीव माता-पिता से शरीर ग्रहण करे। यह भी माता-पिता का आश्रय ग्रहण कर शरीर धारण करता है।

"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।"

"अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया से प्रकट होता हूँ।"

जिसपर परमात्मा की बड़ी कृपा होती है, उसे सत्कर्म करने की शक्ति और प्रेरणा प्राप्त होती है। जिन भाग्यवानों पर उसकी कठोर तपश्चर्या के कारण भगवान् की असीम कृपा होती है, उसे यह माता-पिता के रूप में ग्रहण करता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार अवतारी पुरुष, मनुष्य होने पर भी परमात्मा है और परमात्मा होने पर भी मनुष्य है। प्रपंचसिद्धि के लिए लोग उनके मनुष्य-रूप को ग्रहण करते हैं और आध्यात्मिक सिद्धि के लिए परमात्म-रूप को। वे साकार अर्थात् मनुष्य-रूप और निराकार अर्थात् परमात्म रूप द्वारा प्रपंच और परमार्थ दोनों सिद्धि प्राप्त करते हैं। यह जिज्ञासु साधक की प्रवृत्ति और योग्यता पर आश्रित है।

जैनों ने भी इस मत का थोड़ा-सा अन्तर देकर ग्रहण किया है। जैन तीर्थंकर मनुष्य होकर जन्म ग्रहण करते हैं और तपश्चर्या द्वारा देवत्व प्राप्त करते हैं। वहाँ भी देव के मनुष्यत्व और मनुष्य के देवत्व में सनातन मत से कोई सिद्धान्त का भेद नहीं है।[1]

---

१. यह एक अत्यन्त प्राचीन वैदिक सिद्धान्त है; इसपर योगी अरविन्द का मत है :
It is supposed that men by the right use of their mental action in the inner sacrifice to the gods can convert them into their true and divine nature, the mortal can become immortal. Thus the Ribhus,

तीर्थंकर का अर्थ है—भवसागर से पार होने के लिए जो तीर्थ (सीढ़ी) बनावे। सनातन मत से अवतार का भी यही काम है। अवतार जगदुद्धार के लिए होता है।

बौद्धमत में भगवान् बुद्ध पूर्णब्रह्म हैं। अवलोकितेश्वर उनके खण्डावतार हैं। जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न द्वारा वे पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त करते हैं।

अवतार के सिद्धान्तानुसार साधारण जीव और अवतार में यही अन्तर है कि जीव पर कर्म-बन्धन रहता है और अवतार स्वतन्त्र है, इसलिए आवागमन से भी मुक्त है।

"परवश जीव स्ववश भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥"

सारोद्धार

इन्हीं भावनाओं और विचारों के आधार पर भारतीय सनातन, जैन और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्त्ति, चित्र, मन्दिर, स्तूप, स्तम्भादि के रूपों में प्रतीकों का निर्माण हुआ है। इन भावों को ठीक-ठीक समझ लेने से प्रतीकों का समझना सरल और आनन्दप्रद हो जाता है। प्रतीक मनुष्यों के स्वभाव के साथ लगा हुआ है। इसके विना वह जी नहीं सकता। जो जाति जितनी असभ्य है, उसके प्रतीक उतने ही सरल और टेढ़े-मेढ़े होते हैं और जो जाति जितनी सभ्य है, तदनुसार उसके प्रतीक भी उसके समुन्नत विचारों के अनुसार मनोहर और जटिल होते हैं तथा श्रमपूर्वक अनुशीलन करने से समझ में आते हैं। भारतीय प्रतीक उपर्युक्त भावनाओं के आधार पर बड़ी सरलता और सिद्धि से बनाये गये हैं। एक बार उन्हें समझ लेने से, उनसे आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है और अपने महान् पूर्वजों की विद्या, बुद्धि, तपश्चर्या एवं परिमार्जित भावनाओं के आधार पर बने हुए ये प्रतीक चकित कर देते हैं तथा अपने पूर्वजों के चरणों में श्रद्धा से हमारा मस्तक बार-बार झुकने लगता है।

अब आगे प्रतीकों के रूप में इन्हीं सिद्धान्तों के व्यवहार की आश्चर्यमयी लीला का विवरण है।

---

who were at first human beings or represented human faculties, became d vine and immortal powers by perfection in the work सुकृत्यया स्वपश्यया। —*On the Veda*, Pondicherry, 1956, p. 77.

"ऐसा अनुमान किया जाता है कि अपनी आन्तरिक क्रियाओं के उचित उपयोग द्वारा और उनसे देवताओं का यज्ञ करके मनुष्य अपने को अपने सच्चे और दैवी रूप में परिवर्त्तित कर सकता है और मर्त्य अमर हो जा सकता है। इस प्रकार ऋभु, जो पहिले मनुष्य थे अथवा मनुष्यों के प्रतीक थे, वे सुकृत और सुदृष्टि द्वारा देव और अमर हो गये।"

व्यवहार-प्रकरण

१. ॐकार

परब्रह्म शुद्ध चेतना है, इसलिए वह ज्ञानमय है। वह ज्ञान है, इसलिए उसे इच्छा होती है और इच्छा होने के कारण क्रिया होती है। इस इच्छा और क्रिया का नाम काम (इच्छा)-कला है, जो जगत् का मूल कारण है तथा नित्यज्ञान, नित्यइच्छा और नित्यक्रिया -- इस नित्यतत्त्व का स्वभाव है।

वाक्प्रकरण में इसकी चर्चा हो चुकी है कि पराशक्ति या परमात्मा की निष्क्रियावस्था में उसके स्व-भाव से स्पन्दन होता है, जिससे ध्वनि अथवा शब्द उत्पन्न होता है, जो नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में परिणत या परिवर्त्तित होता है। यह स्पन्दन दो प्रकार का है—सामान्य स्पन्द और विशेष स्पन्द। सामान्य स्पन्द से स्वाभाविक व्यापक ध्वनि उठती रहती है; जो सारी सृष्टि का आदि और मूल कारण है। विशेष ध्वनि व्यापक न होकर, सीमित होने के कारण, विशिष्ट नाम-रूप की सृष्टि करती रहती है।

सामान्य स्पन्द की आदि और व्यापक ध्वनि ॐकार है, जो शब्द या ध्वनि के रूप में ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप है। विशेष ध्वनि नाना प्रकार के बीजों और वर्णों का रूप ग्रहण कर, सूक्ष्म और स्थूल जगत् में काम करती रहती है। यही 'अ, आ' इत्यादि वर्णों के नाम से तथा श्रीं, ऐं इत्यादि बीजों के नाम से लोक और वेद में प्रचलित है।

ॐकार के दो रूप हैं—समस्त और व्यस्त। समस्त रूप में यह ब्रह्म या पराशक्ति का वाचक है और अर्द्धमात्रा-समेत ॐ, ब्रह्म का वाच्य और वाचक—दोनों ही है। अर्द्धमात्रा-सहित ॐ का, शब्दब्रह्म का, प्रत्यक्ष रूप होने के कारण इसमें और परब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता।

अ, उ, म के व्यस्त रूप में, यह नामरूपात्मक सृष्ट जगत् का वाचक बन जाता है और यह त्रिगुण तथा गुणाभिमानी त्रिदेव (रजस् = ब्रह्मा, सत्त्व = विष्णु, तमस् = महेश) आदि का द्योतक बन जाता है। त्रिगुण तथा त्रिदेव के, ब्रह्म के भिन्न रूप होने के कारण, यह प्रणव, समस्त और व्यस्त रूप में ब्रह्मवाची है।

> "त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्
> अकाराद्यं वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृतिः।
> तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
> समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥"[१]

---

१. शिव महिम्नःस्तोत्रम्, श्लो० २७
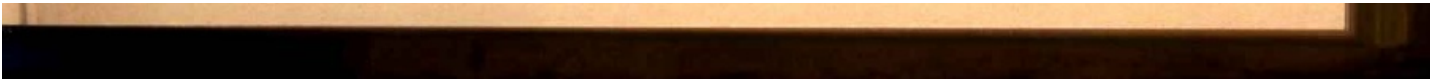
ॐकार, अकारादि वर्णों के द्वारा त्रयी तीन वृत्ति (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) त्रिभुवन और त्रिदेव के रूप में आपके व्याकृत (व्यस्त = अलग किये हुए) रूप का बोध कराता हुआ, हे शरणद ! सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ध्वनि द्वारा आपके चतुर्थ स्थान (तुरीय धाम) का बोध कराने में असमर्थ है और आपके समस्त और व्यस्त रूप का कथन करता है।

यहाँ शिवमहिम्नकार ने ॐ को ब्रह्म का वाच्य और वाचक दोनों कहा है। व्यस्त रूप मे ॐ ब्रह्म का वाचक रहता है, पर समस्त रूप में वाच्य और वाचक एकाकार हो जाते हैं।

शाक्त दर्शन में भी परमतत्त्व के समस्त और व्यस्त रूप की विवृति में इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है :

"गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि चिदानन्दमहिषी ॥"[1]

"तन्त्र के जाननेवाले तुम्हें ब्रह्मा की गृहिणी गिरा देवी, हरि की पत्नी पद्मा और हर की सहचरी पार्वती कहते हैं, पर तुम (इन तीनों के अतिरिक्त) कोई चौथी हो, जिसकी महिमा की सीमा नहीं है और जिसके निकट जाना कठिन है। तुम चेतना और आनन्द की स्वामिनी और संसार को घुमानेवाली महामाया हो।"

शिव महिम्नःस्तोत्र का तुरीय ही शाक्तों की तुरीया है।

"यद्भक्ताखिलकामपूरणचणस्वात्मप्रभावं महा-
जाड्यध्वान्तविदारणैकतरणिज्योतिः प्रबोधप्रदम्।
यद्वेदेषु च गीयते श्रुतिमुखं मात्रात्रयेणोमिति
श्रीविद्ये तव सर्वराजवशकृत्तत्कामराजं भजे ॥"[2]

"जो (बिन्दुत्रयात्मक) कामराज अपने प्रभाव से भक्तों की सभी कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, जो महामूर्खता के अन्धकार को विदीर्ण करने के लिए सूर्य की ज्योति जैसा है, ज्ञानदाता है, जो वेदों में वेदों का आरम्भ और तीन मात्राओं द्वारा ओम् कहा गया है, जो सबको और राजाओं को भी वश में करनेवाला है, श्रीविद्ये ! (संकेतसारे !) मैं उसकी वन्दना करता हूँ।"

शाक्तों के कूटत्रय अथवा कामकला के बिन्दुत्रय और ॐकार के मात्रात्रय एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस भाव को इस प्रकार और भी स्पष्ट किया गया है :

"आद्यं रग्निरवीन्दुबिम्बनिलयं रम्ब त्रिलिङ्गात्मभि-
मिश्रा रक्तसितप्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्तैस्त्रिभिः।
स्वात्मोत्पादितकाललोकनिगमावस्थामरादित्रयं-
रुद्भूतं त्रिपुरेति नाम कलयेद्यस्ते स धन्यो बुधः ॥"[3]

---

१. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ९८
२. शक्तिमहिम्नःस्तोत्रम्, श्लोक ८
३. तत्रैव, श्लो० १८
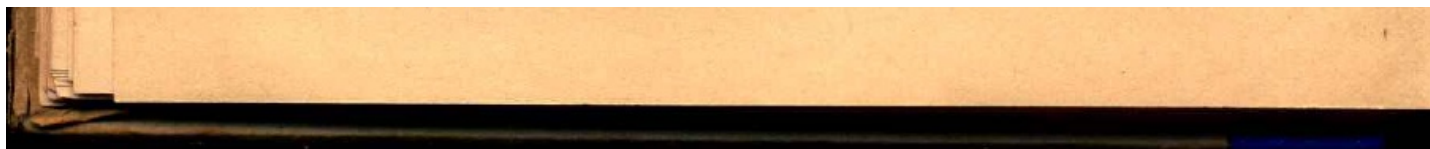
"हे अम्ब ! जो आद्य (अकथ) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमण्डलों के आधार, त्रिलिङ्ग (स्वयम्भू, बाण, इतर), श्वेत, रक्त और इसके मिश्रित वर्ण द्वारा और तुम्हारे चरणों की प्रभा के कारण अनुपम, त्रिस्थानस्थ, स्वयं त्रिकाल, त्रिलोक, त्रिवेद, तीन अवस्था आदि से प्रकट किया हुआ त्रिपुरा (आदि कारण का संकेतमात्र) नाम जो समझ लेता है, वह धन्य है, वही बुद्धिमान् है ।"

उपनिषदों का भी ॐ के सम्बन्ध में यही विचार है :

'ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम् ॥'[१]

"ओम ब्रह्म है । ओम् ही यह सब कुछ है ।"

नाद के साथ बिन्दु का अभिन्न सम्बन्ध है । ये दोनों एक भाववाची युग्म शब्द हैं ।

"नादेन बिन्दोरैक्यम्, बिन्दुना कलाया ऐक्यम्, कलायाश्च नादेनैक्यम्, एवं त्रितयं; कलया बिन्दोरैक्यम्, कलया नादस्यैक्यम् ।"[२]

"नाद से बिन्दु का ऐक्य है, बिन्दु से कला का ऐक्य है, कला से नाद का ऐक्य है, इस प्रकार ये तीनों हैं। कला से बिन्दु की एकता और कला से नाद की एकता है ।"

जैसे शान्त सागर में किसी कारण से क्षोभ उत्पन्न हो, तो शब्द होने लगता है और तरंग बनने लगती है। ये दोनों क्रियाएँ एक साथ होती हैं । इनमें पूर्वापर-क्रम निश्चित नहीं किया जा सकता । उसी प्रकार ब्रह्म या शक्ति के आत्म-विस्तार में, उसकी स्वाभाविक इच्छा से स्पन्दन आरम्भ होता है। इससे नाद उत्पन्न होता है और नाद की प्रवृत्ति के साथ-साथ शक्ति घनीभूत होकर रूप ग्रहण करती है, जिससे त्रिगुणात्मक सृष्टि का विकास होता है। इसलिए शक्ति, नाद और बिन्दु में कोई भेद नहीं है। शक्ति के ही बिन्दु और नाद के तीनों बिन्दुओं को मिलाकर त्रिकोण बनता है, जो ॐ का प्रतिरूप है। इसीका नाम योनि या महायोनि भी है ; क्योंकि यह सारी सृष्टि का उत्पत्तिस्थान है। ॐ के अ, उ, म की तरह योनि की तीन भुजाएँ भी त्रिगुण, त्रिदेव, त्रयी आदि के बोधक हैं। इसलिए कहा जाता है :

"नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येति बिन्दुताम् ।"[३]

"नाद ही घनीभूत होकर बिन्दु बन जाता है ।" इस भाव का विस्तार इस प्रकार किया गया है :

"निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥
सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ।
परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः ॥"[४]

---

१. तैत्तिरीयोपनिषत्, १.८
२. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ९९ पर लक्ष्मीधर की टीका।
३. शारदातिलक ।
४. तत्रैव ।

"सर्वदा स्थिर रहनेवाला शिव, साकार और निराकार है। वह प्रकृति-रहित निराकार है और कला (प्रकृति)-सहित साकार (सगुण) है। सत्, चित् और आनन्दवाले पूर्ण परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु प्रकट हुए। नाद और बिन्दु, परशक्ति-स्वरूप हैं—पुन: इसके तीन भेद होते हैं।" तीन भेद के अर्थ, त्रिगुण, त्रिदेवादि हैं।

यही ॐ का स्वरूप है, जो ब्रह्मविद्या का आधार है। वाक् ही ॐकार है। इसीके नाम माया, प्रकृति इत्यादि हैं।

"सैव वागब्रवीद्देवी प्रकृतिर्याभिधीयते।
विष्णुना प्रेरिता माता जगदीशा जगन्मयी ॥
ॐकारभूता या देवी मातृकल्पा जगन्मयी ॥"[1]

"वही दैवी वाक्, जो प्रकृति कहलाती है, जो माता जगदीशा, जगद्रूपिणी है, जो ॐकार बनी हुई है, उसने विष्णु से प्रेरित होकर कहा।"

अ, उ, म गुणाभिमानी अर्थात् सगुण ब्रह्म (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के द्योतक हैं और इनका समस्त रूप, अर्द्धमात्रा-सहित अक्षर (निराकार) ब्रह्म हैं। ये सभी महाशक्ति के विकारमात्र हैं।

"सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ॥"[2]

"तुम अमृत हो, अक्षर (अविनाशी) हो, नित्या हो, तीन मात्राओं (अ, उ, म) का प्राण हो, तुम अर्द्धमात्रा बनकर स्थित हो, जिसका विशेषतः उच्चारण हो नहीं सकता और नित्या (सनातनी) हो।"

वेद, ॐ या वाक् के परिणत रूप हैं। इसलिए वेद और ब्रह्म अभिन्न हैं और वेद का विकास ॐ से कहा जाता है।

'पुरा ह्येकार्णवे वृत्ते दिव्ये वर्षसहस्रके।
स्रष्टुकामः प्रजाः ब्रह्मा चिन्तयामास दुःखितः।
तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतः कुमारकः।
दिव्यगन्धः सुधापेक्षी दिव्यां श्रुतिमुदीरयन् ॥
अशब्दस्पर्शरूपां तामगन्धां रसवर्जिताम्।
श्रुतिं ह्युदीरयन्देवो यामविन्दच्चतुर्मुखः ॥
ततस्तु ज्ञानसंयुक्तस्तप आस्थाय भैरवम्।
चिन्तयामास मनसा त्रितयं कोऽन्वयन्त्विति ॥
तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतं तदक्षरम्।
अशब्दस्पर्शरूपं च रसगन्धविवर्जितम् ॥
अथोत्तमं सलोकेषु स्वमूर्त्तिञ्चापि पश्यति।
ध्यायन्वै स तदा देवमथैनं पश्यते पुनः ॥

१. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम, पूना; अध्याय १६१, श्लोक १४, १८
२. मार्कण्डेयपुराण, जीवानन्द, कलकत्ता; ८१·५५

तं श्वेतमथ रक्तञ्च पीतं कृष्णं तदा पुनः।
वर्णस्थं तत्र पश्येत न स्त्री न च नपुंसकम् ॥
तत्सर्वं सुचिरं ज्ञात्वा चिन्तयन्हि तदक्षरम्।
तस्य चिन्तयमानस्य कण्ठादुत्तिष्ठतेऽक्षरः ॥
एकमात्रो महाघोषः श्वेतवर्णः सुनिर्मलः।
स ॐकारो भवेद्वेदः अक्षरं वै महेश्वरः ॥
ततश्चिन्तयमानस्य त्वक्षरं वै स्वयम्भुवः।
प्रादुर्भूतं तु रक्तं तु स देवः प्रथमः स्मृतः।
ऋग्वेदं प्रथमं तस्य त्वग्निमीडे पुरोहितम् ॥"[1]

"प्राचीनकाल में देवताओं के सहस्रों वर्षों तक, जब जल-ही-जल था, तब सृष्टि की इच्छा से दुःखित होकर ब्रह्मा सोचने लगे। जब वे सोच ही रहे थे, उसी समय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरहित, दिव्य श्रुति को उच्चारण करता हुआ अमृततुल्य और दिव्य गन्धवाला एक कुमार प्रकट हुआ। उस श्रुति का ब्रह्मा ने ग्रहण किया। इसके बाद ज्ञान द्वारा भयङ्कर तप में लीन होकर तीन बार उन्होंने मन में सोचा, यह कौन है। जब वे सोच ही रहे थे, उसी समय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-विहीन वह अक्षर (अविनाशी तत्त्व) प्रकट हुआ। तब जगत् में उन्हें अपनी उत्तम मूर्त्ति दिखाई पड़ी और ध्यान करके उन्होंने इसे फिर देखा। देखते हैं कि यह न स्त्री, न पुरुष और न नपुसंक है। उजला, लाल, पीला, और काला भी है और वर्णों में (वर्णस्थं = अक्षरों के आकार में) है। बहुत देर तक सोच-समझकर ये अक्षर की चिन्ता करने लगे। सोचते-सोचते उनके कण्ठ से एक मात्रा-वाला महाघोष, श्वेतवर्ण का निर्मल अक्षर (ब्रह्म) निकला। वह ॐकार, वेद हुआ। अक्षर ही महेश्वर हैं। स्वयंभू जब अक्षर के विषय में विचार रहे थे, उसी समय वह अक्षर रक्तवर्ण में प्रकट हुआ। वह पहिला देव हुआ। उसका सबसे पहिला ऋग्वेद हुआ— 'अग्निमीडे पुरोहितम्'।"

इस उद्धरण में ये तीन पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं:

"तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतं तदक्षरम्।
अशब्दस्पर्शरूपं च रसगन्धविवर्जितम्।
अथोत्तमं सलोकेषु स्वमूर्त्तिञ्चापि पश्यति ॥"

इनसे ज्ञात होता है कि ॐकार में ब्रह्मा को अपना रूप दिखाई पड़ा। यह शब्दब्रह्म का आत्मरूप है, जिसका दूसरा नाम वाक् या वाग्देवता है। पुराणों में इस विषय का विस्तृत विवरण मिलता है:

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गुहायां निहितं पदम्।
ओमित्येतत्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ॥
विष्णुक्रमास्त्रयस्त्वेते ऋक्सामानि यजूंषि च।
मात्राश्चात्र चतस्रस्तु विज्ञेयाः परमार्थतः ॥

१. वायुपुराण, आनन्दाश्रम, पूना; अध्याय २६, श्लोक १६–२७

तत्र युक्तश्च यो योगी तस्य सालोक्यतां व्रजेत् ।
अकारस्त्वक्षरो ज्ञेय उकारः स्वरितः स्मृतः ॥
मकारस्तु प्लुतो ज्ञेयस्त्रिमात्र इति संज्ञितः ।
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारो भुव उच्यते ॥
सव्यञ्जनो मकारश्च स्वर्लोकश्च विधीयते ।
ॐकारस्तु त्रयो लोकाः शिरस्तस्य त्रिविष्टपम्॥
भुवनान्तं च तत्सर्वं ब्राह्मं तत्पदमुच्यते ।
मात्रापदं रुद्रलोको ह्यमात्रन्तु शिवं पदम् ॥
एवं ध्यानविशेषेण तत्पदं समुपासते ।
तस्माद्ध्यानरतिर्नित्यममात्रं हि तदक्षरम् ॥"[1]

"ॐ एकाक्षर ब्रह्म है, जिसका स्थान गुहा में है । ॐ तीनों वेद, तीनों लोक, तीनों अग्नि और त्रिदेव है । यथार्थ में इसमें चार मात्राएँ जाननी चाहिए । उसमें जो योगी लग जाता है, वह सालोक्यता प्राप्त करता है । अकार को अक्षर, उकार को स्वरित और मकार को प्लुत जानना चाहिए । इसी का नाम त्रिमात्र है । अकार भूर्लोक, उकार भुवर्लोक और व्यञ्जनसहित मकार स्वर्लोक कहलाता है । ॐकार तीनों लोक है । उसका मस्तक त्रिविष्टप (स्वर्ग) है । जगत् के भीतर जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी ब्रह्मलोक कहलाती हैं । मात्रापद रुद्रलोक कहलाता है और मात्राहीन शिवस्वरूप है । इस प्रकार नाना रीति से ध्यान कर उसकी उपासना की जाती है । वह अक्षर मात्राहीन है । इसलिए उसमें, ध्यान में आनन्द आता है ।"

"त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रैलोक्यं पावकस्त्रयः ।
त्रैकाल्यं त्रीणि कर्माणि त्रयो वर्णास्त्रयो गुणाः ॥"[2]

"(ॐकार के) तीन वर्ण, तीन लोक, तीन वेद, तीन अग्नि, तीन काल, तीन कर्म और तीन गुण हैं ।" यह ॐकार के व्यस्तरूप का विवरण है । समस्त रूप में ॐकार परमतत्त्व है ।

"सूक्ष्मं परं ज्योतिरनन्तरूपमोङ्कारमात्रं प्रकृतेः परं यत् ।
चिद्रूपमानन्दमयं समस्तमेवं वदन्तीश मुमुक्षवस्त्वाम् ॥"[3]

"हे ईश ! आप चित्, आनन्द और सूक्ष्मज्योतिस्वरूप हैं । आप प्रकृति के परे ॐकारमात्र हैं । मुमुक्षुगण आपका ऐसा ही वर्णन करते हैं ।" यहाँ ॐ को ब्रह्म का वाच्य और वाचक–दोनों ही कहा है । इस भाव को अन्यत्र इस प्रकार पल्लवित और पुष्ट किया गया है :

"अकारं ब्रह्मणो रूपमुकारं विष्णुरूपवत् ।
मकारं रुद्ररूपं स्यादर्धमात्रं परात्मकम् ॥
वाच्यं तत्परमं ब्रह्म वाचकः प्रणवः स्मृतः ।
वाच्यवाचकसम्बन्धस्तयोः स्यादौपचारिकः ॥"[4]

---

१. वायुपुराण, आनन्दाश्रम, पूना ; अध्याय २०, श्लोक ६–१२
२. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम, पूना ; अध्याय १७९, श्लोक ३७
३. ब्रह्मपुराण, आनन्दाश्रम, पूना ; अध्याय १२२, श्लोक ७४ । हरिहर-स्तुति में बृहस्पति की उक्ति ।
४. बृहन्नारदीय, ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्करव्याख्या, बम्बई, शाके १८५७); पृ० २६ में उद्धत ।

"अकार, उकार और मकार क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के रूप हैं। अर्धमात्रा परात्मा है। वाच्य परम ब्रह्म है और वाचक प्रणव (ॐ) है। वाच्य-वाचक का सम्बन्ध केवल उपचारमात्र है, अर्थात् यथार्थ में एक ही है।"

"प्रणवो हि परं तत्त्वं त्रिवेदं त्रिगुणात्मकम्।
त्रिदेवतं त्रिधामं च त्रिप्रज्ञं त्रिरवस्थितम्॥
त्रिमात्रं च त्रिकालं च त्रिलिङ्गं कवयो विदुः।
सर्वमेतत्त्रिरूपेण व्याप्तं हि प्रणवेन तु॥
अग्निः सोमश्च सूर्यश्च त्रिधामेति प्रकीर्त्तितम्।
अन्तःप्रज्ञं बहिःप्रज्ञं घनप्रज्ञमुदाहृतम्॥
हृत्कण्ठे तालुके चेति त्रिस्थानमिति कीर्त्यते।
अकारोकारमकारैस्त्रिमात्र उच्यते स तु॥
कर्मारम्भेषु सर्वेषु त्रिमात्रं तं प्रकीर्त्तयेत्।
स्थित्वा सर्वेषु शब्देषु सर्वं व्याप्तमनेन हि॥
न तेन हि विना किञ्चिद्वक्तुं याति गिरा यतः॥"[1]

"प्रणव परम सत्य है, त्रिवेद, त्रिगुणात्मक, त्रिदेवता, त्रिधाम, त्रिप्रज्ञ, तीन अवस्था, त्रिमात्र, त्रिकाल और त्रिलिङ्ग है। बुद्धिमान् इसे जानते हैं। तीन रूप में ये सभी प्रणव से व्याप्त हैं। यह अग्नि, सोम, सूर्य, त्रिधाम, अन्तःप्रज्ञ, बहिःप्रज्ञ और घनप्रज्ञ है। हृदय, कण्ठ और तालु त्रिस्थान कहलाते हैं और अकार, उकार, मकार, त्रिमात्र हैं। सभी कर्मों के आरम्भ में त्रिमात्र का उच्चारण करना चाहिए। यह सभी शब्दों में व्याप्त है। इसके बिना वाणी से कुछ भी नहीं बोला जा सकता है।"

पुराणकारों ने इस सिद्धान्त को एक मनोहर कथानक का रूप दिया है। एक समय शङ्खासुर नामक दैत्य वेदों को चुराकर पाताल ले गया। विष्णु ने उसको मारकर उसकी हड्डी शङ्ख को फूँका। उससे ॐ निकला, जिससे चारों वेद निकले। तात्पर्य यह कि शङ्ख का शब्द वेदयोनि ॐ है। इसलिए सर्वकर्म में शङ्खनाद माङ्गलिक कर्म है। गीता का भगवद्वाक्य है :

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥"[2]

"ॐ इस एकाक्षर ब्रह्म को बोलता हुआ और मुझे स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़ता है, वह परमगति प्राप्त करता है।" ॐ के इस स्वरूप के कारण शैव-शाक्त, जैन-बौद्ध-वैष्णव, योगी-तान्त्रिक—सभी बड़ी श्रद्धा और स्वच्छन्दता से इसका प्रयोग करते हैं।

---

१. तत्रैव बृहत्पाराशरस्मृति, पृ० २७ में उद्धृत।
२. गीता ; ८.१३

२. गणेश

सभी प्रधान देवताओं की तरह दो रूपों में गणेश की उपासना होती है—(१) आदिशक्ति परमात्मा ब्रह्म और (२) गुणाभिमानी तथा निमित्ताभिमानी देवता के रूप में। स्तोत्रों में इन्हें परब्रह्म कहा गया है :

"परब्रह्मरूपं चिदानन्दरूपं परेशं महेशं गुणाब्धिं गुणेशम्।
गुणातीतमीशं मयूरेशवन्द्यं गणेशं नताः स्मो नताः स्मो नताः स्मः ॥"[१]

"परब्रह्मरूप, चिदानन्दरूप, परेश, महेश, गुणसागर, गुणेश, गुणातीत, ईश, मयूरेश के पूज्य गणेश को मेरा बारम्बार नमस्कार।" यहाँ गणेश को चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म और गुणातीत कहा गया है।

"अजं निर्विकल्पं निराकारमेकं निरानन्दमानन्दमद्वैतपूर्णम्।
परं निर्गुणं निर्विशेषं निरीहं परब्रह्मरूपं गणेशं भजेम ॥"[२]

"अजन्मा, कल्पना से रहित, निराकार, एक, आनन्दस्वरूप किन्तु स्वयं आनन्दरहित, द्वितीयरहित अर्थात् अकेला, पूर्ण, पर (कारणस्वरूप) निर्गुण, विशेषताहीन, इच्छारहित और परब्रह्मरूप गणेश की मैं वन्दना करता हूँ।"

इसके परवर्ती दस श्लोकों का ध्रुवपद है—'परब्रह्मरूपं गणेशं भजेम'।

"सदात्मरूपं सकलादिभूतममायिनं सोऽहमचिन्त्यबोधम्।
अनादिमध्यान्तविहीनमेकं तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥"[३]

"सत्स्वरूप अर्थात् सत्तामात्र रूपवाले, आत्मा के रूप में वर्त्तमान, मायारहित, सोऽहंभाव से भी अचिन्त्य, आदि-मध्य-अन्त-विहीन, मैं एकदन्त का शरणापन्न हूँ।"

"स्वबिम्बभावेन विलासयुक्तं बिम्बस्वरूपा रचिता स्वमाया।
तस्यां स्ववीर्यं प्रददाति यो वै तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥"[४]

"अपनी लीला के लिए अपने प्रतिरूप की तरह बिम्बरूपवाली अपनी माया की जिसने रचना की और उसमें जो अपना वीर्य (सामर्थ्य, शक्ति) प्रदान करता है, हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।"

"त्वदीयवीर्येण समर्थभूता माया तया संरचितं च विश्वम्।
नादात्मकं ह्यात्मतया प्रतीतं तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥"[५]

"तुम्हारे सामर्थ्य से समर्थ बनकर अपने ही रूप नाद से माया ने विश्व की रचना की। हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।" यहाँ गणेश की शक्ति को ही माया और नाद कहा गया है, अर्थात् गणेश ही माया और नादरूप से विश्व की रचना करते हैं।

---

१. मयूरेश्वरस्तोत्रम्, श्लोक १
२. गणपतिस्तवः, श्लोक १
३. एकदन्तस्तोत्रम, श्लोक ३
४. तत्रैव, श्लोक ६
५. तत्रैव, श्लोक ७

गणेश की सत्ता से उद्बोधित होकर त्रिगुण, त्रिदेव का रूप ग्रहण करते हैं। इनकी प्रेरणा से प्रेरित होकर नाद विश्व की रचना करता है :

"त्वदीयसत्ताधरमेकदन्तं गणेशमेकं त्रयबोधितारम्।
सेवन्तमापुस्तमजं त्रिसंस्थास्तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥
ततस्त्वया प्रेरित एव नादस्तेनेदमेवं रचितं जगद्वै।
आनन्दरूपं समभावसंस्थं तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥"[1]

"तीनों (त्रिगुण या शक्ति, नाद, बिन्दु) को जगानेवाले अज, एकदन्त और अपनी सत्ता को धारण करनेवाले गणेश की सेवा से तीनों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) ने अपनी संस्था प्राप्त की। उस एकदन्त के हम शरणापन्न हैं।"

"तब तुमसे प्रेरित होकर नाद ने इस प्रकार आनन्दरूप और समभाव स्वरूप भाववाले इस जगत् की रचना की। हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।"

गणेश की आज्ञा से ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं।

"त्वदाज्ञया सृष्टिकरो विधाता त्वदाज्ञया पालक एव विष्णुः।
त्वदाज्ञया संहरको हरोऽपि तमेकदन्तं शरणं व्रजाम ॥"[2]

"तुम्हारी आज्ञा से विधाता सृष्टि, विष्णु पालन, और हर संहार करते हैं। हम उस एकदन्त की शरण में जाते हैं।" तन्त्र-ग्रन्थों और उपनिषदों में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है :

"यं वदत्यमलात्मानः पुरुषं प्रकृतेः परम्।
चिद्रूपं परमानन्दं वन्दे देवं विनायकम् ॥"[3]

"विमल बुद्धिवाले लोग जिन्हें प्रकृति के भी कारण, चिद्रूप, परमानन्द और पुरुष कहते हैं, उस देव विनायक की मैं वन्दना करता हूँ।"

"मोदन्ते स्वे-स्वे पदे पुण्यलब्धे सर्वैर्देवैः पूजनीयो गणेशः।
प्रभुः प्रभूणामपि विघ्नराजः सिन्दूरवर्णः पुरुषः पुराणः ॥
लक्ष्मीसहायोऽद्वयकुञ्जराकृतिश्चतुर्भुजश्चन्द्रकलाकलापः ।
मायाशरीरो मधुरस्वभावस्तस्य ध्यानात् पूजनात्तत्स्वभावाः ॥
संसारपारं मुनयोऽपि यान्ति स वा ब्रह्मा स प्रजेशो हरिः सः।
इन्द्रः स चन्द्रः परमः परात्मा स एव सर्वो भुवनस्य साक्षी ॥"[4]

"अपने पुण्य से प्राप्त अपने पदों पर सभी प्रसन्न रहते हैं। गणेश सभी देवताओं के पूज्य हैं। ये प्रभुओं के भी प्रभु (शक्तिमान्) विघ्नराज हैं। ये सिन्दूरवर्ण के, पुराने और पुरुष हैं। चन्द्रकलाधारी, चतुर्भुज, कुञ्जराकृति ये एक हैं और लक्ष्मी इनकी सहचरी हैं।

---

१. एकदन्तस्तोत्रम्, श्लोक ८, ९
२. एकदन्तस्तोत्रम्, श्लोक १७
३. गन्धर्वतन्त्रम्, श्रीनगर, १९३४ ; १.१
४. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, १९३३ ई०) ; हेरम्बोपनिषत्, श्लोक ५, ६, ७

माया ही इनका शरीर है और स्वभाव मधुर है। इनके ध्यान और पूजन से ऐसा ही स्वभाव हो जाता है। मुनि भी संसार का पार कर जाते हैं। वे ही प्रजेश ब्रह्मा, हरि, इन्द्र, चन्द्र और परम परमात्मा हैं। वे ही सभी भुवनों के साक्षी हैं।"

यहाँ लक्ष्मी को गणेश की सहचरी कहा है। इससे गणेश और विष्णु का अभिन्नत्व व्यक्त होता है।

"हरिः ॐ। **नमस्ते गणपतये। त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्त्तासि। त्वमेव केवलं धर्त्तासि। त्वमेव केवलं हर्त्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि नित्यम्। ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि। अव त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अवानूचानमव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अव चोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव चोर्ध्वात्तात्। अवधरात्तात्। सर्वतो मां पाहिपाहि समन्तात्। त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः। त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः। त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि। सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति। त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नमः। त्वं चत्वारि वाक्पदानि। त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्वं शक्तित्रयात्मकः। त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्।** .....

"एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्।
अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्॥
रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्॥
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः॥"[1]

"ॐकार हरि है। गणपति को प्रणाम। आप प्रत्यक्ष तत्त्व हैं। केवल आप ही कर्त्ता, धर्ता, हर्त्ता हैं। आप ही यह सब कुछ और ब्रह्म हैं। आप साक्षात् नित्य आत्मा हैं। मैं सच कहता हूँ, ठीक कहता हूँ। आप मेरी और वक्ता की रक्षा कीजिए। श्रोता की रक्षा कीजिए। दाता की रक्षा कीजिए। धाता की रक्षा कीजिए। उपाध्याय की रक्षा कीजिए, शिष्य की रक्षा कीजिए। पीछे से रक्षा कीजिए, आगे से रक्षा कीजिए। उत्तर से रक्षा कीजिए, दक्षिण से रक्षा कीजिए। ऊपर से रक्षा कीजिए, नीचे से रक्षा कीजिए। सर्वत्र और सब ओर से रक्षा कीजिए। आप वाङ्मय और चिन्मय हैं। आप आनन्दमय और ब्रह्ममय हैं। आप एक और सत्-चित्-आनन्द हैं। आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आप ज्ञानमय और विज्ञानमय हैं। यह सारा जगत् आपसे उत्पन्न होता है। यह सारा जगत् आपसे ही ठहरा हुआ है। यह सारा जगत् आपमें ही लीन हो जायगा। यह सारा जगत् आपसे ही

---

१. गणपत्युपनिषत्।

निकलता है। आप भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। आप वाक् के चार स्थान हैं। आप तीनों गुणों से बाहर हैं। आप तीनों काल से बाहर हैं। आप तीनों देह से बाहर हैं। आप नित्य और मूलाधार में स्थित हैं। आप तीन शक्ति-स्वरूप हैं। योगी आपका नित्य ध्यान करते हैं। आप ब्रह्मा हैं, आप विष्णु हैं, आप रुद्र हैं, आप इन्द्र हैं, आप अग्नि हैं, आप वायु हैं, आप सूर्य हैं, आप चन्द्रमा हैं, आप ब्रह्म हैं, आप भूः भुवः सुवः और ओम् हैं।

एक दाँत, चार हाथ, पाश-अंकुश धारण करनेवाले, अभय वरद हस्तवाले, मूषक ध्वजवाले, रक्तवर्ण, लम्बोदर, शूर्पकर्ण, रक्त वस्त्रवाले, रक्तगन्धविलेपित अंगवाले, लाल फूल से पूजित, भक्त पर दया करनेवाले, जगत् के कारण, अच्युत देव, सृष्टि में सबसे पहले प्रकट होनेवाले, प्रकृति और पुरुष से भी आगे हैं। इस प्रकार जो (गणेश का) ध्यान करते हैं, वे योगियों में श्रेष्ठ हैं।"

ऊँकार गणेश

ॐ गणेश का प्रतीक है। इसमें ॐ का ऊपरवाला भाग मस्तक का वृत्त, नीचेवाला भाग उदर का विस्तार, सूँड़ नाद और लड्डू बिन्दु हैं। इस रूप में गणेश की कल्पना की गई है और इस प्रकार की मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं।

शिवमानस-पूजा[1] में इन्हें 'प्रणवाकृते' कहा गया है।

"जयदेव गजानन प्रभो जय सर्वासुर गर्वभेदक।
जय सङ्कटपाशमोचन प्रणवाकार विनायकाऽव माम्॥"[2]

"प्रभो! गजानन! देव! आपकी जय! सभी राक्षसों के गर्व का नाश करने-वाले! आपकी जय! दुःख के बन्धन खोलनेवाले! आपकी जय! प्रणवरूपवाले विनायक! मेरी रक्षा कीजिए।

सत्त्वप्रधान रूप में गणेश का रंग श्वेत माना जाता है :

'सत्त्वात्मकं श्वेतमनन्तमाद्यम्।'[3]

'आदि, अनन्त और सत्त्वात्मक देव (गणेश) श्वेत हैं।'

रजःप्रधान रूप में इनका रंग लाल है :

"खर्वस्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरम्।
विघ्नेशं मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतगण्डस्थलम्॥
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरम्।
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम्॥"[4]

"सिद्धि देनेवाले और इच्छा पूर्ण करनेवाले पार्वती-पुत्र गणपति की मैं वन्दना करता हूँ। ये नाटे, मोटे शरीरवाले, सुन्दर हाथी के मुखवाले, बड़े पेटवाले और सुन्दर हैं।

१. श्लोक ४२
२. गजाननस्तोत्र, श्लोक १
३. एकदन्तस्तोत्रम्, श्लोक ११
४. प्रचलित ध्यानश्लोक।
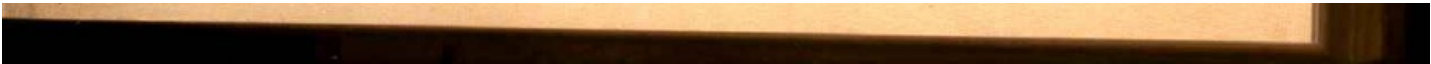
ये विघ्नेश हैं और मधु की गन्ध के लोभ से भौंरे इनके गालों के पास पंख चालन करते रहते हैं। दन्त के प्रहार से शत्रुओं को इन्होंने चीर दिया है और उनके रुधिर से इनके (शरीर पर) सिन्दूर की शोभा बन गई है।"—यहाँ दन्त एक प्रकार का छुरा है। रुधिर और सिन्दूर का रक्तवर्ण तथा अरि का संहार, रज:प्रधान कर्म और वर्ण हैं।

त्रिगुणाधार होने के कारण तम:प्रधान रूप में इनका वर्ण श्याम होना चाहिए, किन्तु ऐसा ध्यान मिलता नहीं है। ये बुद्धि, सिद्धि, ऋद्धि आदि के देवता हैं और तम:प्रधानता इनके विरुद्ध पड़ती है। बोध होता है कि इसीलिए साधारणत: इस रूप में इनकी उपासना नहीं होती है। किन्तु, घोर आभिचारिक क्रियाओं में इस रूप का प्रयोग हो सकता है।

गणेश की भुजाएँ चार हैं। एक में पाश और दूसरे में अंकुश है। तीसरा अभय और चौथा वरद मुद्रा में है :

"गजेन्द्रवदनं नौमि रक्तं विघ्नविदारकम्।
पाशांकुशवराभीतिलसद्भुजचतुष्टयम् ॥"[१]

"रक्तवर्ण, विघ्नविदारक गजानन को मैं प्रणाम करता हूँ, जिनके चारों हाथों में पाश, अंकुश, वर और अभय सुशोभित हैं।"

इनकी चार भुजाएँ चार दिशाओं के प्रतीक हैं।[२] यह सर्वव्यापित्व का लक्षण है। पाश और अंकुश की नाना प्रकार से व्याख्या की गई है :

'रागः पाशः, द्वेषोऽङ्कुशः।'[३]

'राग पाश है, द्वेष अंकुश है।'

"इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।"[४]

"इच्छाशक्ति पाश है और अंकुश ज्ञान है।"

"इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव तदाज्ञया पाशादिस्वरूपमापन्नास्तदुपासनमाचरन्ति।"[५]

"इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियाँ ही उनकी आज्ञा से पाशादि-स्वरूप धारण कर उनकी उपासना करती हैं।"

गणेश मोदकप्रिय हैं। ॐकार-स्वरूप में सूँड़ नाद का और मोदक बिन्दु का प्रतीक है। अन्यथा मोदक असंख्य जीव हैं, जो इनके आकाशरूपी विशाल उदर में निवास करते हैं। सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा इनके तीन नेत्र हैं :

"शशिभास्करवीतिहोत्रदृक्।"[६]

कभी काल-सर्प और कभी त्रिगुणात्मक प्रणव इनका यज्ञोपवीत है।

"यज्ञोपवीतं त्रिगुणस्वरूपं सौवर्णमेवं ह्यहिनाथभूतम्।"[७]

---

१. श्यामारहस्यम्, जीवानन्द, कलकत्ता, १८९६ ई०; पृ० ९२। कालिकाकवचम्, श्लोक २।
२. विष्णु और शिव-प्रसंग में यह स्पष्ट होगा।
३. भावनोपनिषत्।
४. वामकेश्वरतन्त्रम्।
५. कामकलाविलास, श्लोक ३८ पर टीका।
६. गणेशस्तवराज, श्लोक ८
७. गणेशमानस-पूजा, श्लोक २१

"त्रिगुणात्मक यज्ञोपवीत ही सोने के शेषनाग बने हुए हैं।"

"उपवीतं गणाध्यक्ष गृहाण च ततः परम्।
त्रैगुण्यमयरूपं तु प्रणवग्रन्थिबन्धनम्॥"[1]

"हे गणाध्यक्ष! उपवीत ग्रहण कीजिए। यह त्रिगुण है, जिसमें प्रणव (ॐकार) की ग्रन्थि लगी हुई है।" गणेश के वाहन मूषिक, वृष, सिंह, गरुड और मयूर हैं। मूषिक, वृष, सिंहादि की तरह धर्म के प्रतीक हैं:

"अधुना सम्प्रवक्ष्यामि रहस्यं मूषिकस्य च।
वृषाकारमहाकाय वृषरूप महाबल।
धर्मरूप वृषस्त्वं हि गणेशस्य च वाहनम्
नमस्करोम्यहन्त्वाखो पूजासिद्धिं प्रयच्छ मे॥[2]

"अब मैं मूषिक का रहस्य कहता हूँ। वृष की तरह विशाल शरीरवाले वृषरूपधारी, महाबलवान्, धर्मरूप वृषभ आप ही गणेश के वाहन हैं। हे मूषिक! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मुझे पूजा की सफलता प्रदान कीजिए।" यहाँ शिव के वृषभ और दुर्गा के सिंह की तरह मूषिक को धर्म का रूप कहा गया है।

"ध्यायेत्सिंहगतं विनायकममुं दिग्बाहुमाद्ये युगे।
त्रेतायां तु मयूरवाहनममुं षड्बाहुकं सिद्धिदम्॥
द्वापरे तु गजाननं युगभुजं रक्ताङ्गरागं विभुम्।
तुर्ये तु द्विभुजं सिताङ्गरुचिरं सर्वार्थदं सर्वदा॥[3]

"आदि (सत्य) युग में, सिंह पर बैठे हुए, चार अथवा आठ (दिक्) भुजाओंवाले विनायक का ध्यान करना चाहिए। त्रेता में मयूरवाहन पर, छह बाहुवाले सिद्धिदाता का ध्यान करना चाहिए। द्वापर में हाथी के मुख, दो हाथ और रक्तविलेपनवाले सर्वव्यापी का ध्यान करना चाहिए। चतुर्थ (कलियुग) में सुन्दर उज्ज्वल अङ्गों और दो भुजाओंवाले सर्वार्थदाता का सर्वदा ध्यान करना चाहिए।"

"रहस्यं शृणु वक्ष्यामि मयूरस्य यथोचितम्।
नाना चित्रविचित्राङ्ग गरुडाज्जननं तव॥
अनन्तशक्तिसंयुक्तंकालाहेर्भक्षणं ततः।"[4]
"गरुडस्त्वं महाभाग सदा त्वां प्रणमाम्यहम्॥"[5]

"मयूर के उचित रहस्य को बताता हूँ, सुनो! नाना प्रकार के चित्रविचित्र अंगोंवाले आप हैं और गरुड से आपका जन्म हुआ है। अनन्त शक्तिवाले हैं, इसलिए कालसर्प का भक्षण करते रहते हैं। हे महाभाग! आप गरुड हैं। आपको मैं सदा प्रणाम करता हूँ।"

---

१. गणेशबाह्यपूजा, श्लोक २९
२. कालीविलासतन्त्रम् (लन्दन, १९१७ ई०), पटल १८, श्लोक १०-११
३. गणेश-कवच का ध्यानश्लोक।
४. पा० बालाहेर्भक्षणम्।
५. कालीविलासतन्त्रम्, पटल १८, श्लोक ८, ९

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मूषिक, मयूर, वृषभ[१], सिंह, गरुडादि धर्म के प्रतीक हैं और सर्वाधार ब्रह्म, साकार रूप में, सारी सृष्टि को धारण करनेवाली अपनी ही शक्ति धर्म पर आरूढ़ रहता है। मयूर रूप में धर्म काल से भी प्रबल कहा गया है, जो काल सर्प का भक्षण करता है। काष्ठजिह्वा स्वामी की उक्ति से भी इसकी पुष्टि होती है। कृष्ण के मयूरपंख के सम्बन्ध में इन्होंने कहा है :

"मोरपक्ष ये ही दरसावत सर्प काल को काल
श्याम ब्रह्म अस श्रुति बोलत सो देवकिसुत गोपाल
याको तुम भजन करो।।"

शक्ति और शक्तिमान् की अभिन्नता के सिद्धान्त पर मायाशक्ति को सिद्धि और बुद्धि के रूप में इनकी सहचरी कहा गया है :

"वामाङ्गके शक्तियुता गणेशं सिद्धिस्तु नानाविध सिद्धिभिस्तम् ।
अत्यन्तभावेन सुसेवते तु मायास्वरूपा परमार्थभूता ।
गणेश्वरं दक्षिणभावसंस्था बुद्धिः कलाभिश्च सुबोधिकाभिः ।
विद्याभिरेवं भजते परेशं मायासु सांख्यप्रदचित्तरूपा ।।"[२]

"बाईं ओर[३] नाना प्रकार की सिद्धियों और शक्तियों के साथ सिद्धि एकान्त भाव से गणेश की सेवा करती है। यथार्थ में यह माया का ही अपना रूप है। अनेक सुबोध कलाओं और विद्याओं के साथ बुद्धि दक्षिण भाव से[४] परेश गणेश की सेवा करती है। मायाओं में ज्ञान देनेवाली ये (शुद्ध) चेतन हैं।"

गणेश का विशाल उदर साकार ब्रह्म का विशाल ब्रह्माण्ड अथवा हिरण्यगर्भ है। यह विभु के अमृतत्व से भरा अमृत-घट है।

बाह्य अर्थात् लौकिक दृष्टि से गणेश का वाहन मूषिक विघ्न का प्रतीक है। सारी सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र इत्यादि के प्रत्येक कार्य के साथ विघ्न लगा रहता है और बुद्धि से यह वश और विवश किया जाता है। जितना विशाल कार्य होता है, उतना ही विशाल विघ्न भी होता है और उसे शान्त रखने के लिए उतनी ही बड़ी बुद्धि की भी आवश्यकता होती है। सारी सृष्टि के विघ्नों का नाश करने के लिए विशाल बुद्धि के प्रतीक गणेश का विशाल शरीर है। इस महाबुद्धि की शक्ति के सामने सभी विघ्न चूहे-से बन जाते हैं और विवश रहते हैं।

गणेश के गजानन में भी कुछ इसी तरह की कल्पना दिखाई पड़ती है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शरीर के लक्षणों में लम्बी नाक प्रखर बुद्धि का लक्षण है। मालूम होता है कि इसी भाव का अनुसरण कर बुद्धि के अधीश्वर और महाबुद्धिरूप गणनायक को संसार की सबसे लम्बी हाथी की नाक देकर इन्हें गजानन बना दिया गया। चाहे जिस रूप की कल्पना की जाय, यह स्पष्ट है कि इन रूपों में एक अखण्डित सत्ता की उपासना होती है और तदनुरूप नाना रूपों का निर्माण किया जाता है।

---

१. शिव और बुद्ध-प्रकरण में वृषभ का और दुर्गा-प्रकरण में सिंह के धर्मत्व का विस्तृत विवरण है।
२. गणेश-मानस-पूजा, श्लोक ६१, ६२।
३. उदारभाव से।
४. दाहिनी ओर।

नटेश गणेश

विभु के स्पन्दन का ही नाम उसकी इच्छा और क्रिया है। उसकी इच्छा से उसमें जो स्पन्दन होते हैं, वे सृष्टि में नाना प्रकार की क्रियाओं का रूप ग्रहण करते हैं। यही विभु की लीला है। कला की भाषा में इसको ही विश्वात्मा का नृत्य कहते हैं। विश्वात्मा की जितने रूपों में कल्पना की गई, उन सभी का नृत्तरूप है। नटेश गणेश का एक वर्णन इस प्रकार है :

"शेषाहेः फणभङ्गभीरुरवनौ मन्दं निधत्ते पदं
चीत्कारं जगदण्डसम्पुटभिदा भीत्या विधत्ते मनाक्।
नोद्धीयेत जगज्जवादिति शनैः कर्णाश्चलं दोलय-
त्येवं योऽखिललोकरक्षणचणः पायाद्गणेशः स वः॥"[1]

"शेषनाग के फण टूट न जायँ, इसलिए पृथ्वी पर धीरे-धीरे पैर रखते हैं, संसार-गोलक फट न जाय, इसलिए संक्षिप्त चीत्कार करते हैं, वेग में पड़कर संसार उड़ न जाय, इसलिए बड़े-बड़े कानों को धीरे-धीरे हिलाते हैं, इस प्रकार संसार की रक्षा में चतुर गणेश हमारी रक्षा करें।"

नृत्त गणेश की मूर्त्तियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं। असम प्रदेश में कामाख्या देवी के मन्दिर पर भी यह मूर्त्ति बनी हुई है। इसके अतिरिक्त इन्हीं भावों के आधार पर पुराणों में गणेश के सम्बन्ध में नाना प्रकार की रोचक कथाओं की रचना की गई है। इसके गजानन और एकदन्त होने की कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

पुराणों में एक प्रकार के प्रेत या क्षुद्रदेवयोनिवालों को गण[2] कहा गया है और उनके नेताओं को भी गणेश (गण+ईश) और विनायक[3] गण कहा गया है। ब्रह्मप्रतीक गणेश और भूत-प्रेतों के नायक गणेश और विनायक दो भिन्नार्थक शब्द हैं। इनका कोई पारस्परिक सम्पर्क नहीं है।

३. सरस्वती

'सरस्वती' शब्द का अर्थ है गतिमती[4]। वाग्देवता या सरस्वती, आध्यात्मिक पक्ष में, निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय रूप है। इसलिए यह ब्रह्मविष्णुशिवादि सभी को गति प्रदान करनेवाली शक्ति है। इसलिए इसे ब्राह्मी, हरिहरदयिते इत्यादि कहा जाता है। ध्यान-श्लोकों में सरस्वती को, ब्रह्मविचारसारपरमा, आद्या, जगद्व्यापिनी इत्यादि कहा है :

---

१. मुद्राराक्षस (काले का संस्करण, बम्बई, शाके १८३८), ढुण्ढिराज की टीका, पृ० ९

२. गणेशैर्विधाकारैर्हास संजनयन् मुहुः।
देवीं बालेन्दुतिलको रमयंश्च रराम च॥
—ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), अ० ३८, श्लो० २२

३. पूतना नाम भूतानां ये च लोकविनायकाः।
सहस्रशतसंख्यानां मर्त्यलोकविचारिणाम्।
एवं गणशतान्येव चरन्ति पृथिवीमिमाम्॥
—वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), अ० ६९, श्लो० १९२-१९३

४. वाक्प्रकरण देखिए।

"शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीम्
वीणापुस्तकधारिणींमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थिताम् ।
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥"

"शुक्ल वर्णवाली, ब्रह्मविद्या का अन्तिम सार, आद्याशक्ति, जगत् में व्याप्त, वीणा और पुस्तक धारण करनेवाली, अभय देनेवाली, जड़तारूपी अन्धकार का नाश करनेवाली, हाथ में स्फटिक की माला धारण करनेवाली, पद्मासन पर बैठी हुई, बुद्धि देनेवाली उस परमेश्वरी भगवती शारदा की मैं वन्दना करता हूँ।" यहाँ आद्या, जगद्व्यापिनी, ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी आदि शब्दों से सरस्वती को ब्रह्मस्वरूपिणी कहा गया है। दूसरा प्रचलित ध्यान-श्लोक इस प्रकार है :

"या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा माम्पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥"

"कुन्द, चन्द्रमा, हिम और हार जैसा जिनका उज्ज्वल वर्ण है, जो उजले वस्त्रों से आवृत हैं, सुन्दर वीणा से जिनका हाथ अलंकृत है, जो श्वेतकमल पर बैठी हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवगण सर्वदा जिनकी स्तुति करते रहते हैं, जो सभी प्रकार की जड़ताओं का विनाश करनेवाली हैं, वही सरस्वती देवी मेरी रक्षा करें।"

सरस्वती का उज्ज्वल वर्ण, ज्योतिर्मय ब्रह्म का प्रतीक है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूज्या होना भी यही सिद्ध करता है।

दुर्गासप्तशती के प्राकृतिक रहस्य में[1] इन्हें महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, महाधेनु, वेदगर्भा (अर्थात् ॐकार की तरह वेदमाता) सुरेश्वरी इत्यादि कहा है। उपनिषत् में महाधेनु का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

"वाचं धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वारस्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकार-स्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च । हन्तकार मनुष्याः स्वधाकारं पितरः । तस्याः प्राण ऋषभो मनोवत्सः ॥"[2]

"वाग्धेनु की उपासना करें। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार, स्वधाकार। स्वाहाकार और वषट्कार—ये दो स्तन देवताओं के उपजीव्य हैं। हन्तकार मनुष्य के और स्वधाकार पितरों के। प्राण उसका वृषभ है और मन बछड़ा है।" निम्नलिखित उपनिषद्वाक्यों में भी सरस्वती के ब्रह्मरूप का विस्तृत विवरण मिलता है :

"या वेदान्तार्थतत्त्वैकस्वरूपा परमार्थतः ।
नामरूपात्मनाव्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥
या साङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते ।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती ॥

१. प्राकृतिकरहस्यम्, श्लोक १५
२. बृहदारण्यकोपनिषत्, ५, ८, १

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्त्तते ।
अनादिनिधनानन्ता सा मां पातु सरस्वती ॥
अन्तर्याम्यात्मना विश्वं त्रैलोक्यं या नियच्छति ।
रुद्रादित्यादिरूपस्था यस्यामावेश्य तां पुनः ।
ध्यायन्ति सर्वरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥
या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यंज्यमानानुभूयते ।
व्यापिनी ज्ञप्तिरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥
नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता ।
निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥
नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः ।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥"[1]

"जो यथार्थ में वेदान्त के अर्थ (विषय) के तत्त्व हैं और नामरूप से प्रकट हैं वे सरस्वती मेरी रक्षा करें। साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों में जिनका गान होता है, जो ब्रह्म की अभिन्न शक्ति हैं, वे सरस्वती मेरी रक्षा करें। जो आदि और अन्तरहित अनन्ता, वर्ण, पद, वाक्य और अर्थ के रूप में वर्तमान हैं, वे सरस्वती मेरी रक्षा करें।

"अन्तर्यामी आत्मा द्वारा सम्पूर्ण त्रैलोक्य का जो नियन्त्रण करती, जो रुद्र, आदित्य इत्यादि के रूप में वर्त्तमान है, जिसमें प्रवेश कर लोग उस एक और सर्वरूपिणी का ध्यान करते हैं, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे।

"जिसे अन्तर्दृष्टिवाले जीव अनुभव और प्रकट करते हैं, जो व्यापिनी, एक और ज्ञान (ज्ञप्ति) रूपिणी है, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे। नाम, जाति आदि भेदों द्वारा आठ प्रकार से जिनकी कल्पना की जाती है और कल्पनारहित होने के कारण आप-से-आप जो प्रकट होती है, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे।

"नामरूपात्मक सब कुछ जिसमें प्रवेश कर (जिसके भीतर रहकर) उसका ध्यान करते हैं, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे।"

स्तोत्रों में इनके स्थूल और सूक्ष्म रूप को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है :

"सरस्वतीं नमस्यामि चेतन्यां हृदि संस्थिताम् ।
कण्ठस्थां पद्मयोनेश्च ह्रीं ह्रींकारप्रियां सदा ॥
मतिदां वरदां चैव सर्वकामफलप्रदाम् ।
केशवस्य प्रियां देवीं वीणाहस्तां वरप्रदाम् ॥
ऐं ऐं मन्त्रप्रियां देवीं कुमतिध्वंसकारिकाम् ।
स्वप्रकाशां निरालम्बामज्ञानतिमिरापहाम् ॥
मोक्षप्रदां शुभां नित्यां शुभाङ्गीं शोभनप्रियाम् ।
पद्मसंस्थां कुण्डलिनीं शुक्लवस्त्रां मनोहराम् ॥

१. सरस्वतीरहस्योपनिषत् ।

आदित्यमण्डले लीनां प्रणमामि जनप्रियाम्।
ज्ञानाकारां जगद्दीपां भक्तजाड्यविनाशिनीम् ॥
इति सा संस्तुता देवी वागीशेन महात्मना।
आत्मानं दर्शयामास रविबिम्बसमप्रभाम् ॥"[1]

"सरस्वती को मैं नमस्कार करता हूँ। वे हृदय में रहनेवाली चेतना हैं। पद्मयोनि (ब्रह्मा) के कण्ठ में सदा रहती हैं और ह्रींह्रींकार उनको प्रिय है। मति, वर और सभी उद्यमों के फल देनेवाली हैं। देवी, केशव की प्रिया हैं, हाथ में वीणा है और वरद (मुद्रा में) हैं। देवी को ऐं-ऐं मन्त्र प्रिय है, दुर्बुद्धि का नाश करनेवाली हैं। स्वतः प्रकाशवाली हैं, अवलम्बविहीन (अर्थात् अशेष कारणस्वरूपा) हैं और अज्ञान के अन्धकार का नाश करनेवाली हैं। मोक्षप्रद, शुभस्वरूपा, नित्या, शुभाङ्गी और शोभन (अच्छे विचारवालों) को प्रिय हैं। (षट्चक्रों के) पद्मों में निवास करनेवाली कुण्डलिनी हैं और इनका मनोहर शुक्लवर्ण है। सबको प्रिय हैं और आदित्यमण्डल (गगनलिङ्ग)[2] में लीन हैं। मैं इन्हें प्रणाम करता हूँ। ज्ञानस्वरूप संसार (को दृष्टि देनेवाली) दीप हैं। भक्त की जड़ता का नाश करनेवाली हैं। महात्मा बृहस्पति ने जब इस प्रकार स्तुति की, तब देवी ने रविबिम्ब की प्रभा की तरह अपने को दिखलाया।"

यहाँ सरस्वती को चित्, स्वप्रकाश, नित्य-निरालम्ब और ज्ञानस्वरूप कहा गया है। यह वेदान्त का 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है। ये तान्त्रिकों की कुण्डलिनी हैं। केशव की प्रिया हैं और ब्रह्मा के मुख में निवास करती हैं।

एक अन्य स्तोत्र का कुछ अंश इस प्रकार है :

"ह्रीं ह्रीं ह्रीं हृद्यबीजे, शशिरुचिकमले कल्पविस्पष्ट शोभे।
भव्ये भव्यानुकूले, कुमतिवनदवे विश्ववन्द्यांघ्रिपद्मे।
पद्मे पद्मोपविष्टे, प्रणतजनमनोमोदसम्पादयित्री।
प्रोत्फुल्लज्ञानदीपे, हरिहरदयिते देवि-संसारसारे ॥
ध्रीं ध्रीं ध्रीं धारणाख्ये धृतिमतिनुतिभिर्नामभिः कीर्त्तनीये।
नित्ये नित्ये निमित्ते मुनिजननमिते नूतने वै पुराणे।
पुण्ये पुण्यप्रवाहे हरिहरनमिते पूर्णतत्त्वे सुवर्णे।
मात्रे मात्रार्द्धतत्त्वे मतिमतिमतिदे माधवि प्रीतिनादे ॥
सौं सौं शक्तिबीजे कमलभवमुखाम्भोजभूतिस्वरूपे।
रूपारूपप्रकाशे सकलसुरमये निर्गुणे निर्विकल्पे।
नो स्थूले नैव सूक्ष्मेऽप्यविदितविभवे जाप्यविज्ञानतत्त्वे।
विश्व विश्वान्तराले .सकल गुणमये निष्कले नित्यशुद्धे ॥"

"ह्रींकार के रूप में हृदयबीज हो, चन्द्रमा-जैसी (शीतल और आह्लाददायिनी) कमला हो, सृष्टि, तुम्हारी प्रत्यक्ष शोभा है, भव्य हो, भव्य लोगों पर तुम्हारी कृपा

---

१. बृहस्पतिकृतं सरस्वतीस्तोत्रम्।

२. लङ्ग-प्रकरण[illegible] का विवरण है।

रहती है, कुमति-वन के लिए तुम दावानल हो, सभी तुम्हारे चरणों की वन्दना करते हैं, तुम पद्मा हो, पद्म पर तुम्हारा आसन है, प्रणत लोगों के मन को प्रसन्नता प्रदान करनेवाली हो, प्रोत्फुल्ल ज्ञानप्रदीप हो, हरि और हर की प्रिया हो और संसार का सार हो।

श्रीं रूप में तुम्हारा नाम धारणा है, तुम्हें ही लोग धृति, मति, नुति इत्यादि कहते हैं। तुम नित्या हो, (संसार का) नित्य (चिरन्तन) कारण हो, मुनिजनों के प्रणम्य हो और नवीन तथा प्राचीन हो। पुण्य हो, पुण्यप्रवाह हो, हरि और हर की पूज्या हो, तुम पूर्णतत्त्व (ब्रह्म) हो और मनोहर वर्णवाली हो। तुम मात्रा हो, अर्धमात्रा का तत्त्व हो, हे महाबुद्धि देनेवाली! बुद्धि दो। हे माधवि! तुम ही प्रेम का स्वर हो।

सौं रूप में शक्तिबीज हो, ब्रह्मा के मुख की विभूति हो, साकार और निराकार का प्रकाश हो, सभी देवताओं के रूप में तुम्हीं हो, निर्गुण और रूपरहित हो। न स्थूल और न सूक्ष्म (किन्तु कारणस्वरूपा) हो, तुम्हारा वैभव जाना नहीं जा सकता और जपविज्ञान के तत्त्व तुम्हीं हो। विश्व और विश्वव्यापिनी तुम्हीं हो, सभी गुणों में तुम व्याप्त हो, निराकार हो और नित्य शुद्ध हो।"

इन श्लोकों में सरस्वती को पद्मा कमला हरिहरदयिते, और हरिहररमिते कहा गया है। ये कमलभवमुखाम्भोजस्वरूपा हैं। इससे यही स्पष्ट है कि ये व्यस्त रूप में ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर की शक्ति और समस्त रूप में परब्रह्ममयी ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति हैं। नित्य, निमित्त, मात्रार्धतत्त्व, निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार, कारणस्वरूपादि विशेषणों से इनका ब्रह्मरूप ही स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा, बुद्ध और त्रिपुरा की तरह सृष्टिपद्म इनका आसन है। इसे तान्त्रिक सप्तकमल पर निवास करनेवाली कुण्डलिनी कहते हैं।

सरस्वती का गौर उज्ज्वल वर्ण है। इनके वस्त्राभूषणादि सभी उजले हैं—'सर्वशुक्ला सरस्वती'। ज्ञान की देवी होने के कारण इनका परमोज्ज्वल शुभ्र वर्ण है। अध्यात्म-पक्ष में यह 'ज्ञानं ब्रह्म' का ज्योतिर्मय रूप है।

इनकी चार भुजाएँ हैं। ये चारों दिशाओं के प्रतीक हैं, जो सर्वव्यापित्व के लक्षण हैं। एक हाथ में पुस्तक है। स्थूल रूप में यह ज्ञान-प्राप्ति का प्रधान साधन है और अध्यात्म-पक्ष में सर्वज्ञानमय वेद का लक्षण है। दूसरे हाथ में माला है। यह स्थूल रूप में एकाग्रता का चिह्न है। अध्यात्म-पक्ष में यह विष्णु की वैजयन्ती काली और महाकाल की मुण्डमाला और बुद्ध की पद्ममाला की तरह विश्वजननी मातृका वर्णशक्ति की माला[1] है। इनके दो हाथों में वीणा है। यह स्थूल रूप में जीवन-संगीत का प्रतीक है। हमारी जितनी क्रियाएँ और विचार हैं, उनका सर्जनात्मक नादरूप पुञ्जीभूत होकर महाविश्व-संगीत के रूप में काम करता है। यही इनकी वीणा है। अध्यात्म-पक्ष में ऐं और ह्रीं बीज इनके सूक्ष्म रूप हैं और इनका नाद सरस्वती का पर, अर्थात् कारण-रूप है। इन बीजों की अभिव्यक्ति वीणा के नाद में होती है, जो साधकों को सिद्धि और निर्वाण प्रदान करते हैं।

१. माला के विशेष विवरण के लिए वाक्, विष्णु और काली-प्रकरण देखना चाहिए।

सरस्वती कमल पर ज्ञान-मुद्रा[1] में बैठी रहती हैं। कमल, सृष्टि का प्रतीक है। इस रूप से यही अभीष्ट है कि यह शक्ति सारी सृष्टि में सर्वव्यापिनी है।

मयूर[2] और सिंह[3] भी सरस्वती के वाहन माने जाते हैं; पर इनका प्रसिद्ध वाहन राजहंस है। इसका निष्कलंक उज्ज्वल वर्ण और नीरक्षीरविवेक, सरस्वती के उपासकों के निष्कलंक चरित्र और गुण-दोष को जानकर गुण को ग्रहण करने का प्रतीक है।

अध्यात्म-पक्ष में हंस जीव का प्रतीक है। जीव, प्राणशक्ति के द्वारा काम करता है, जिसका लक्षण निःश्वास और प्रश्वास की क्रिया है। निःश्वास से 'हं' और प्रश्वास से 'सः' ध्वनि निकलती है। यही निःश्वास-प्रश्वास का आवागमन 'हंसः' है, जिसके द्वारा चिद्रूपिणी सरस्वती क्रिया-निष्पादन करती है। यह हंस निर्विकल्प समाधि में अशेषकारण की जलराशि में तैरता रहता है। यही शाक्तों की सहस्रारगत कुण्डलिनी और बौद्धों का शून्यगत परमानन्दमय निर्वाण है।

उपनिषद् में आत्मा का नाम हंस है :

> "स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
> शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एक हंसः॥
> प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतं चरित्वा।
> स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥"[4]

"स्वयं असुप्त है; किन्तु निद्रावस्था में शरीर को छोड़कर भी निद्रितों को जीवित रखता है और तेज को ग्रहण कर फिर अपने स्थान (शरीर) में आ जाता है, वह हिरण्यमय पुरुष एक हंस है।

प्राण (निःश्वास-प्रश्वास से लक्षित) द्वारा अवर कुलाय (घोंसला-शरीर) की रक्षा करता हुआ कुलाय (शरीर) से बाहर इच्छापूर्ण अमृत-पान कर जो पुनः आ जाता है, वह हिरण्यमय पुरुष एक हंस है।"

ब्रह्ममयी सरस्वती के ये नाना नाम और रूप हैं।

४. गायत्री

शैवों और वैष्णवों के तुरीय तथा शाक्तों की तुर्या वा तुरीया ही ब्रह्ममयी गायत्री हैं। गायत्री के नाम हैं :

> "विश्वा तुर्या परा रेच्या निर्घृणी यामिनी भवा।"[5]

"विश्वा (विश्वरूपिणी), तुर्या (त्रिगुण और त्रिदेव से परे चतुर्थ), परा (सृष्टि का कारण), रेच्या, निर्घृणी, यामिनी और भवा।"

१. इसमें एक पैर ऊपर समेटकर और दूसरा आसन से नीचे लटकाकर बैठा जाता है। विष्णु, बुद्ध, शिव आदि की प्रतिमाएँ ऐसी मुद्रा में पाई जाती हैं।

२. मयूर का विवरण गणेश के प्रसंग में दिया जा चुका है।

३. सिंह का विवरण दुर्गा-प्रकरण में देखिए।

४. बृहदारण्यकोपनिषत्, ४, ३, ११-१२

५. गायत्रीनामाष्टाविंशतिस्तोत्रम्, श्लोक २०

इन नामों से गायत्री के ब्रह्मस्वरूप को व्यक्त किया गया है। मातृशक्ति के रूप में ब्रह्म की उपासना गायत्री के रूप में की जाती है। गायत्री का ही नाम सावित्री है।

गायत्री का साधारण ध्यान इस प्रकार है :

"श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयवसना तथा।
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलङ्कारैश्च भूषिता॥
आदित्यमण्डलस्था च ब्रह्मलोकगताऽथवा।
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा॥"[1]

"इनका वर्ण श्वेत है, रेशमी वस्त्र हैं, श्वेत विलेपन, पुष्प और अलंकार से विभूषित हैं, सूर्यमण्डल या ब्रह्मलोक में हैं, कल्याणी (देवी) पद्मासन पर हैं और हाथ में अक्षसूत्र अर्थात् (वर्णमाला) है।"

ब्रह्मरूपिणी होने के कारण इनका वर्ण प्रकाशमय (श्वेत) है और आदित्यमण्डल में भी इनका ध्यान किया जा सकता है।

अक्षसूत्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है

"आदिक्षान्तसबिन्दुयुक्तसहितं मेरुं क्षकारात्मकम्।
व्यस्ताव्यस्तसमस्तवर्गसहितं पूर्णं शताष्टोत्तरम्॥"[2]

"अ से क्ष तक बिन्दुसहित (सभी वर्ण) और क्ष मेरु हो। सीधा और उल्टा ये (५०+५०=१००) और वर्गाष्टक (अ, क, च, ट, त, प, य, श) मिलकर १०८ होते हैं।"

"अकारः प्रथमो देवि क्षकारोऽन्त्यस्ततः परम्।
अक्षमालेति विख्याता मातृका वर्णरूपिणी।
शब्दब्रह्मस्वरूपेयं शब्दातीतं तु जप्यते॥"[3]

"देवि ! प्रथम अक्षर अकार है और अन्तिम क्षकार है। यही अक्षमाला के नाम से प्रसिद्ध है। यह मातृ-वर्ण का अपना रूप है। यह माला शब्द-ब्रह्ममयी है। इसके द्वारा शब्दातीत का जप किया जाता है।"

उपर्युक्त ध्यान-श्लोक में मस्तक और हाथों की संख्या नहीं देने से बोध होता है कि गायत्री का एक मस्तक, दो हाथ, और दो पैरवाला साधारण रूप ही अभीष्ट है। जिस हाथ में अक्षसूत्र रहेगा, वह अभय-मुद्रा में और दूसरा वरदमुद्रा में रहेगा।

गायत्री का चतुर्मुख, चतुर्भुज, पञ्चमुख, अष्टभुज, रक्त-श्वेत-श्याम वर्णादि—किसी भी रूप में ध्यान किया जाता है। बाला, युवती और वृद्धा रूप में भी इनका ध्यान किया जाता है। चतुर्मुख चारों वेद के प्रतीक हैं। चतुर्भुज और अष्टभुज, दिशाओं के प्रतीक हैं। इससे इनके सर्वव्यापित्व का बोध होता है।

---

१. गायत्री का प्रचलित ध्यान।

२. गायत्रीस्तवराज, श्लो० २०

३. ज्ञानार्णवतन्त्रम्; ललितासहस्रनाम के १६७वें श्लोक की टीका में भास्करराय द्वारा उद्धृत।

इनके पाँच मस्तक की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

"व्याकरणमस्याः प्रथमशीर्षं भवति, शिक्षा द्वितीयं, कल्पसूत्रस्तृतीयं, निरुक्तं चतुर्थं, ज्योतिषामयनं पञ्चमम् ।"[१]

"व्याकरण इनका प्रथम मस्तक है, शिक्षा दूसरा, कल्पसूत्र तीसरा, निरुक्त चौथा, और ज्योति के अयन पञ्चम ।"

सिंह, वृषभ, गरुड, मृग, हंस—सभी इनके वाहन हैं ।

"मृगेन्द्रवृषपक्षीन्द्रमृगहंसासने स्थिताम् ।"[२]

एक ही शक्ति का नाम गायत्री और कुण्डलिनी है :

"मूले तु कुण्डलीशक्तिर्व्यापिनी केशमूलगा ।"[3]

"(गायत्री ही) मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति है, जो केशमूल तक व्याप्त है ।"

"आरोहादवरोहतः क्रमगता श्रीकुण्डलीत्थं स्थिता ॥"[४]

"(गायत्री) श्रीकुण्डली के रूप में आरोह और अवरोह के क्रम से अवस्थित है ।"[५]

गायत्री का आध्यात्मिक ध्यान इस प्रकार है :

तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि ।
प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥

"तुम तेज हो, ज्योति (शुक्रम्) हो, अमृत (परमात्मा) हो, प्रकाश (धाम) हो, देवों का प्रिय, निर्विघ्न, देवयज्ञ हो ॥"

गायत्री को हृदय में स्थापित (उपस्थान) करने का मन्त्र है :

गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी
अपदासि, नहि पद्यसे, नमस्ते, तुरीयाय
दर्शनाय पदाय परो रजसे सावदोम् मा प्रापत् ॥

"गायत्री एकपदी हो, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी हो, तुम (अपने स्थान से) हिलती नहीं हो अर्थात् कूटस्थ हो, मैं तुम्हारा शरणापन्न हूँ, सृष्टि से परे चतुर्थ पद के दर्शन के लिए वह मेरी रक्षा (मार्गदर्शन) करे और मुझे प्राप्त हो ॥"

एकपदी = अद्वय, एक । द्विपदी = गति-स्थिति । त्रिपदी = ज्ञानेच्छाक्रिया । चतुष्पदी = चारों वेद । अपदा = स्थिर । नहि पद्यसे = ब्रह्मरूप, अपनी महिमा पर स्थिर हो, परमायास सृष्टि का कारण होने पर भी अनायास हो ।

---

१. गायत्रीहृदयस्तोत्रम् ।
२. सावित्रीपञ्जरस्तोत्रम्, श्लोक ४८
३. गायत्रीस्तोत्रम्, श्लोक २
४. गायत्रीस्तवराजः, श्लोक ११
५. इसके अधिक ज्ञान लिए सर जौन उडरफ के 'Garland of Letters' में गायत्री पर निबन्ध देखना चाहिए ।

३. ब्रह्मा

सभी प्रधान देवों के प्रतीकों के निर्माण में ब्रह्म, वाक्, माया, दिक्, काल, त्रिगुण और धर्म के सिद्धान्तों का प्रधानतया प्रयोग होता है। कोई विशेष प्रयोजन ध्यान में रहने से, इनके अतिरिक्त, अन्य सिद्धान्तों के आधार पर भी प्रतीक की कल्पना की जाती है।

विष्णु और शिव की तरह ब्रह्मा के भी दो रूप हैं—पूर्णब्रह्म और रजोगुण के अधिष्ठाता गुणाभिमानी देव।

ब्रह्मा, ब्रह्म हैं, आत्मभू (आप-से-आप उत्पन्न होनेवाले) हैं। स्वयम्भू हैं और सारी सृष्टि के धाता (बनानेवाले) हैं। ये सृष्टिस्वरूप हैं, अर्थात् इनमें और सृष्टि में कोई अन्तर नहीं है :

"जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव।
जगद्यत्त विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम्।
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः॥"[1]

"पवन और उसके स्पन्दन की तरह जगत् और विराट् एक ही सत्ता हैं; जो जगत् है, वही विराट् है, जो विराट् है, वही जगत् है। जगत्, विराट् और ब्रह्मा—ये तीन पर्यायवाची (एकार्थक) शब्द हैं।"

इनके चतुर्मुखादि की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

"ऋग्वेदादिप्रभेदेन कृतादियुगभेदतः।
विप्रादिवर्णभेदेन चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम्॥"[2]

ऋग्वेदादि चारों वेद, कृत इत्यादि चारों युग और ब्राह्मणादि चार वर्णों के प्रतीक इनके चारों मुख और चारों भुजाएँ हैं॥"

"अरुणादित्यसंकाशं चतुर्वक्त्रं चतुर्मुखम्।
चतुर्वेदमयं देवं धर्मकामार्थमोक्षदम्॥"[3]

"ब्रह्मा के बालसूर्य के समान लाल वर्ण, चार शिर और चार मुख, चारों वेदमय और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के देनेवाले हैं।"

लाल रंग रजोगुण का संकेत है।

मायाशक्ति ही वाक्, वाणी या सरस्वती हैं, जो ब्रह्म के भिन्न-भिन्न कल्पित रूपों के साथ संलग्न हैं।

"लक्ष्मीर्मेधा धरा पुष्टिर्गौरी तुष्टिः प्रभा मतिः।
एताभिः पाहि चाष्टाभिस्तनुभिर्मां सरस्वति॥"[4]

---

१. योगवासिष्ठ (निर्णयसागर, बम्बई, शाके १८५९, सन् १९३७ ई०), निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध, सर्ग ७४, श्लोक २४, २५

२. रूपमण्डन

३. कालीविलासतन्त्रम् (लन्दन, सन् १९१७ ई०), पटल २०, श्लोक १२।

४. मत्स्यपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), ६६.९६

"देवि सरस्वति ! लक्ष्मी, मेधा, धरा, पुष्टि, गौरी, तुष्टि, प्रभा और मति—इन आठ रूपों से आप मेरी रक्षा करें।"

इनका वाहन राजहंस है[1], जो शान्ति, पवित्रता इत्यादि का प्रतीक है। यह हंसः अहं सः सोऽहं अजपाजप करनेवाले जीव और प्राणशक्ति का भी प्रतीक है, जिसके द्वारा ब्रह्मा सृष्टि का संचालन करते हैं।

रजोगुणाभिमानी ब्रह्म के प्रतीक होने पर ये सत्त्व और तम—दोनों गुणों को क्रियाशील करनेवाले रजोगुण के अधीश्वर हैं और विधाता तथा स्रष्टा हैं।

इनका नाम अब्जयोनि है। ये कमल से उत्पन्न होते हैं और उसपर बैठे रहते हैं। यह कमल विष्णु की नाभि से निकलता है।

विश्वव्यापी और अविनाशी तत्त्व में जब स्पन्दन होता है तब यह बिन्दु का रूप ग्रहण करता है। इससे शैवों के मूलस्तम्भ, शाक्तों के नाद-बिन्दु और वैष्णव तथा शाक्तों के कमलनाल और कमल का उत्थान होता है। इस पद्म का रूप है :

"प्रकृतिमयपत्रविकारमयकेसरसंविन्नालादिविशेषणशीलं पद्मम्।"[2]

"प्रकृति इसके पत्ते हैं, परिवर्त्तन या विवर्त्त इसका केसर है और चेतना इसका नाल है। इस पद्म के ऐसे ही विशेषण हैं।" इसलिए कहा गया है :

"पद्मं विश्वं करे स्थितम्॥"[3]

"विष्णु के हाथ में पद्म के रूप में विश्व है।" यही चेतना का पद्मनाल बौद्धों का स्तूप और स्तम्भ है। यही शैवों का शिवलिङ्ग और जैनों की दण्डायमान तीर्थंकर-प्रतिमा है।

पद्म के विषय में हैवेल का अनुमान इस प्रकार है :

"हमलोग देख चुके हैं कि अरबों का धार्मिक आदर्श और दर्शन कोणवाले मेहराब में एकत्रित था। मुसलमानों के लिए जो मेहराब है, हिन्दुओं और बौद्धों के लिए वही कमल है। तालों के प्रशान्त काले जल पर तैरते हुए और झलमलाते हुए कमल, प्रभात-काल में बाल-सूर्य की किरणों के प्रथम स्पर्श से उनके असंख्य दलों का खुल पड़ना, और सूर्यास्त के समय फिर बन्द हो जाना और नीचे कीच में छिपे हुए कन्द में, सृष्टि का पूर्ण प्रतीक दिखाई पड़ता था। इसमें आकाश की स्थिरता में अन्धकारमय शून्य की विसृष्टि (chaos) से सृष्टि की दिव्य पवित्रता और सुन्दरता थी। उनके लाल, उज्ज्वल और नील वर्ण त्रिमूर्त्ति के प्रतीक थे, जो एक के ही तीन रूप थे। लाल ब्रह्मा, स्रष्टा; उजला शिव, परमात्मा; नीला विष्णु, जगत् के त्राता। घण्टे के आकार का पुष्कर (उनके लिए) रहस्यमय हिरण्यगर्भ था, जो जगत् का उत्पत्ति-स्थान है और जिसमें अजात अनेक जगत् के बीज पड़े हुए हैं। कमल देवताओं का आसन और पादपीठ था, जो जड़ जगत् और

---

१. हंस के लिए वाक् और सरस्वती-प्रकरण भी देखिए।

२. ललितासहस्रनाम (सौभाग्य-भास्करभाष्य, बम्बई, १९३५ ई०), पृ० ८१

३. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्, श्लोक २६

अण्डकटाह (heavenly spheres) का प्रतीक है। यह सारे हिन्दूधर्म का उसी प्रकार प्रतीक था, जिस प्रकार सारे इसलाम के लिए मेहराब था।"[1]

ब्रह्मा के एक हाथ में पुस्तक और दूसरे में कभी स्रुव और कभी माला रहती है। एक में कमण्डल और एक में चरुपात्र रहता है। चरुपात्र और स्रुव यज्ञ के चिह्न हैं। पुस्तक वेद है। कमण्डल अमृत से भरा हुआ पात्र है, जो उपनिषदों का अमृतत्व, बौद्धों का निर्वाण और वेदान्तियों का आनन्द-तत्त्व है। यही काली, तारा इत्यादि के हाथ में कपाल के रूप में अमृतत्व का सुधापात्र है।

कलश के विषय में हैवेल कहते हैं :

"कमल के प्रतीक के साथ लोटा, कलश या कुम्भ का निकट सम्बन्ध है, जिसमें सृष्टि-तत्त्व अर्थात् अमृत भरा हुआ है, जिसे देव और दानवों ने विराट् उदधि को मथकर निकाला था। भारत के गृह-निर्माण और कला में, निर्माण और सजावट में असंख्य रीति से इन दोनों प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। विकसित पद्म सूर्य के प्रतीक की तरह भरहुत, साँची और अमरावती के बौद्ध घेरों पर बनाये गये हैं। जिसे घोड़े के नाल-जैसा मेहराब कहा गया है और जो झुकाये हुए बाँस से बनाये जाते थे तथा बौद्ध-गृहों के छज्जों के पास और झरोखों में पाये जाते हैं, वे भी कमल-दल के प्रतीक हैं। बौद्ध तथा हिन्दू-गुम्बज की बनावट भी बाँस की नकल पर होती थी और उसमें पुष्कर का अनुकरण किया जाता था। यह कमल-दल के साथ पत्थरों पर अंकित किया जाता था। अधिकांश हिन्दू-मन्दिरों के स्तम्भ, पद्म, पुष्कर और कलश को मिलाकर बनाये जाते थे। इनका मूल रूप काम की

१. "We have already seen that the religious idealism and philosophy of the Arabs were summed up in the pointed arch. What the mihrab was to the Musalman, the lotus was to the Buddhist and the Hindu. The shining lotus flowers floating on the still dark surface of the lake, their manifold petals opening as the sun's rays touched them at break of day, and closing again at sunset, the roots hidden in the mud beneath, seemed perfect symbols of creation, of divine purity and beauty, of the cosmos, evolved from the dark void of chaos and sustained an equilibrium by the cosmic ether, Akash. Their colours red, white and blue, were emblems of the Trimurti, the three aspects of the One—red for Brahma, the creator; white for Shiva, the Divine Spirit; blue for Vishnu, the preserver and upholder of the universe. The bell-shaped fruit was the mystic Hiranyagarbha, the womb of the universe, holding the germ of world's innumerable still unborn. The lotus was the seat and footstool of the gods, the symbol of the material universe, and of the heavenly spheres above it. It was the symbol for all Hinduism as the mihrab was for all Islam".

—*Indian Architecture* :E. B. Havell; London, 1913, Chapter II.

हुई लकड़ी के बने हुए यूपस्तम्भ थे, जो यज्ञ-स्थल के चिह्न थे और जिनसे बलि-पशु बाँधे जाते थे।"[१]

बौद्धों ने पुष्कर, माला, पुस्तक, कमण्डल वा कलश, पद्म आदि का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया है।

६. विष्णु

विष्णु शब्द विष् धातु से बनता है।[२] इसका अर्थ है—व्याप्त होना। जो विश्व में सर्वत्र परिव्याप्त है, वह विष्णु है।

"यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥"[3]

"क्योंकि उस महात्मा की शक्ति से यह सम्पूर्ण विश्व है, जिसमें वह प्रविष्ट है; इसलिए वह विष्णु कहलाता है।

विष्णु ब्रह्म है और ब्रह्म ही विष्णु है। इसलिए ब्रह्म, विष्णु, महेशादि में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। भेद है केवल कल्पित रूपों में।

"ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै।
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेकस्तस्मात्त्वमेव शरणं मम शङ्खपाणे ॥"[४]

---

१. "Closely connected with symbolism of the lotus was that of the water-pot—the Kalash or Kumbha—which held the creative element, or the nectar of immortality, churned by gods and demons from the Cosmic Ocean. These two pregnant symbols were employed in Indian architecture and art, both structurally and decoratively, in an infinite variety of ways. The open lotus-flower is used as a sun-emblem on the Buddhist rails of Bharhut, Sanchi and Amaravati, the so-called 'horse-shoe' arch of the early Buddhist gables and the windows, derived from bent bamboo, suggested the lotus-leaf; Buddhist and Hindu domes, constructively derived from the bamboo also, were made to imitate the bell-shaped lotus fruit and sculptured with the petals of the flower. The combination of the lotus-flower, the bell-shaped fruit, and the water-pot forms the basis of the design of most Hindu temple pillars, the prototypes of which were doubtless the carved wooden posts marking the sacrificial area in the ancient Vedic rites, to which the victims were bound".

२. विष्लृ व्याप्तौ।

३. विष्णुपुराण, ३. १. ४६

४. श्रीहरिशरणाष्टकम्, श्लोक १

"कोई शिव का ध्यान करने कहते हैं और कोई शक्ति का, कोई गणेश का और कोई सूय का। किन्तु शङ्खपाणे ! एक तुम्हीं इन रूपों में प्रकट हो, इसलिये केवल तुम्हीं मेरे रक्षक हो।"

"चिदेशं विभुं निर्मलं निर्विकल्पं निरीहं निराकारमोंकारवेद्यम् ।
गुणातीतमव्यक्तमेकं तुरीयं परं ब्रह्म यं वेद तस्मै नमस्ते ॥"[1]

"जो (विश्वव्यापी) चेतना का आधार, विभु (सर्वव्यापी), निर्मल, निर्विकल्प, निरीह, निराकार, ॐकार द्वारा जानने योग्य, गुणातीत, अव्यक्त, एक, चतुर्थ और परब्रह्म है, उसे प्रणाम।"

अक्रूर श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं—

"भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान् ।
आत्मा च परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधास्थितः ।।
प्रसीद सर्व सर्वात्मन् क्षराक्षरमयेश्वर ।
ब्रह्मविष्णुशिवाद्याभिः कल्पनाभिरुदीरितः ॥
अनाख्येयस्वरूपात्मन् अनाख्येयप्रयोजन ।
अनाख्येयाभिधानं त्वां नतोऽस्मि परमेश्वर ॥
न यत्र नाथ विद्यन्ते नाम जात्यादिकल्पनाः ।
तद्ब्रह्म परमं नित्यमविकारि भवानज ॥
न कल्पनामृतेऽर्थस्य सर्वस्याधिगमो यतः ।
ततः कृष्णाच्युतानन्तविष्णुसंज्ञाभिरीड्यते ॥

पुस्तक वेद है। कमण्डल अमृत से भरा हुआ पात्र है, जो उपनिषदों का अमृतत्व, बौद्धों का निर्वाण और वेदान्तियों का आनन्द-तत्त्व है। यही काली तारा इत्यादि के हाथ में कपाल के रूप में अमृतत्त्व का सुधापात्र है।

कलश के विषय में हैवेल कहते हैं—

"कमल के प्रतीक के साथ लोटा, कलश या कुम्भ का निकट सम्बन्ध है, जिसमें सृष्टि-तत्त्व अर्थात् अमृत भरा हुआ है, जिसे देव और दानवों ने विराट् उदधि को मथ कर निकाला था। भारत के गृह-निर्माण और कला में, निर्माण और सजावट में असंख्य रीति से इन दोनों प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। विकसित पद्म सूर्य के प्रतीक की तरह भरहुत, साँची और अमरावती के बौद्ध घेरों पर बनाये गये हैं। जिसे घोड़े के नाल-जैसा मेहराब कहा गया है और जो झुकाये हुए बाँस से बनाये जाते थे तथा बौद्ध गृहों के छज्जों के पास और झरोखों में पाये जाते हैं, वे भी कमल-दल के प्रतीक हैं। बौद्ध तथा हिन्दू-गुम्बज की बनावट भी बाँस की नकल पर होती थी और उसमें पुष्कर का अनुकरण किया जाता था। यह कमल-दल के साथ पत्थरों पर अंकित किया जाता था। अधिकांश हिन्दू-मन्दिरों के स्तम्भ, पद्म, पुष्कर और कलश को मिलाकर बनाये जाते थे। इनका मूल रूप काम की हुई लकड़ी के बने हुए यूपस्तम्भ थे, जो यज्ञ-स्थल के चिह्न थे और जिनसे बलि-पशु बाँधे जाते थे।"

बौद्धों ने पुष्कर, माला, पुस्तक, कमण्डल वा कलश, पद्म आदि का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया है।

---

१. विष्णुभुजंगप्रयातस्तोत्र, श्लोक १.
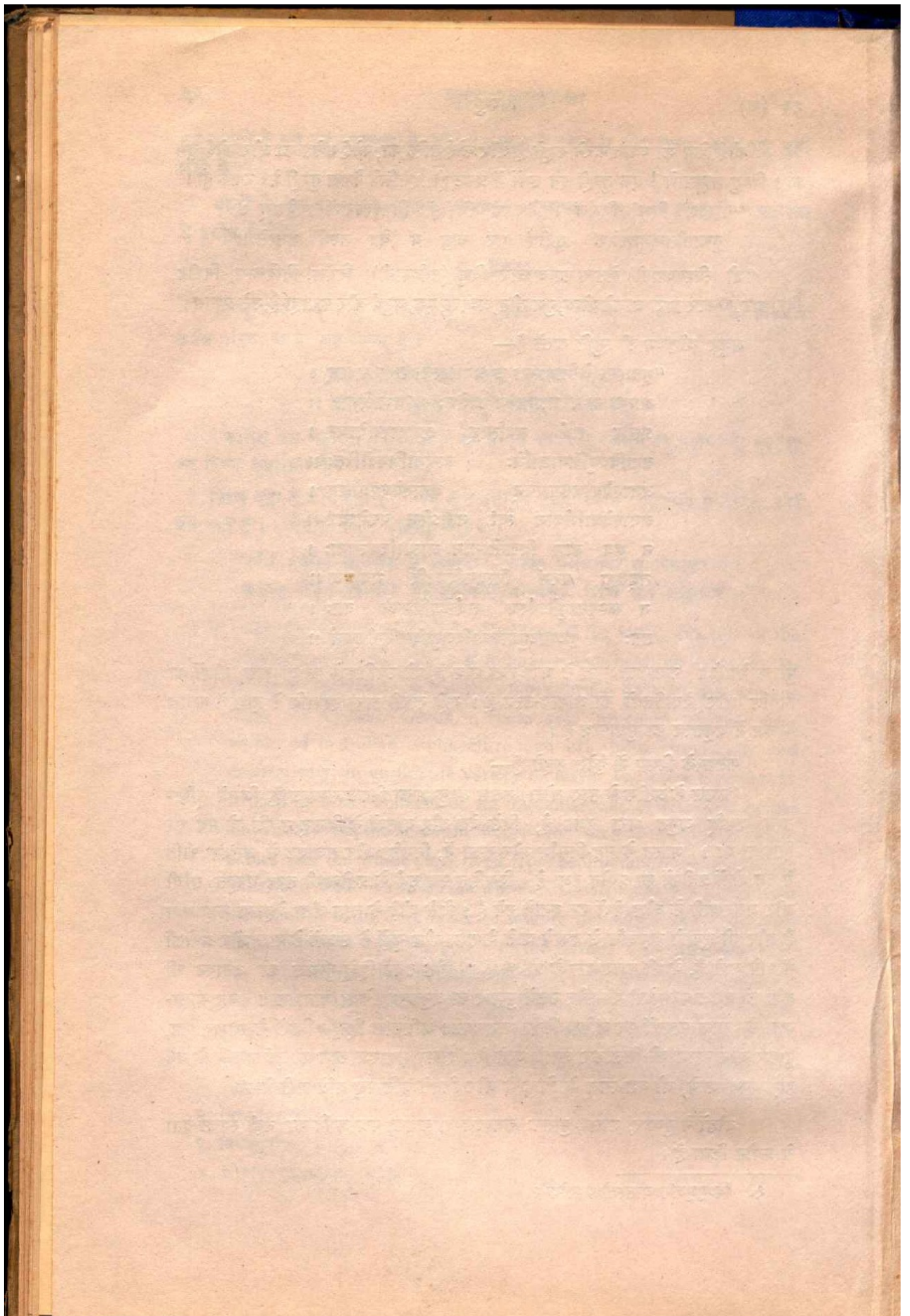
सर्वार्थास्त्वमज विकल्पनाभिरेतत्
देवाद्यं जगदखिलं त्वमेव विश्वम् ।
विश्वात्मंस्त्वमिति विकारभावहीनः
सर्वस्मिन् न हि भवतोऽस्ति किञ्चिदन्यत् ॥
त्वं ब्रह्मा पशुपतिरर्यमा विधाता
धाता त्वं त्रिदशपतिः समीरणोऽग्निः ।
तोयेशो धनपतिरन्तकस्त्वमेको
भिन्नार्थैर्जगदपि पासि शक्तिभेदैः ॥"[1]

"आप ही भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा तथा परमात्मा—इन पाँचों रूपों में स्थित हैं। ब्रह्मा, विष्णु शिवादि कल्पनाओं द्वारा आप ही कहे जाते हैं। आप क्षर और अक्षर हैं। हे सर्व ! हे सर्वात्मन् ! आप प्रसन्न हों। आपके स्वरूप, प्रयोजन और नाम के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हे परमेश्वर ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे नाथ ! जहाँ नाम और जाति आदि की कल्पना भी नहीं है, आप वही अज, अविकारी, नित्य परम ब्रह्म हैं। विना कल्पना के कोई विषय समझ में नहीं आ सकता। इसलिए कृष्ण, अच्युत, अनन्त, विष्णु नाम से आप पूजे जाते हैं। हे अज ! ये सभी कल्पित विषय आप ही हैं। देवों से लेकर सारा विश्व आप ही हैं। हे विश्वात्मन् ! आप परिवर्त्तन से रहित हैं। सबमें आपको छोड़कर और कुछ नहीं है। आप ब्रह्मा, पशुपति, अर्यमा और विधाता हैं। आप धारण करनेवाले, देवताओं के स्वामी, वायु और अग्नि हैं। एक आप ही वरुण, कुबेर और यम हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोजनवाली शक्तियों द्वारा संसार की भी आप ही रक्षा करते हैं।"

"सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥
स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यश्च पाति च ।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः ॥"[2]

"सृष्टि, स्थिति और संहार करने के कारण, एक भगवान् जनार्दन ही, ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नाम और रूप धारण करते हैं। अपने को ही स्रष्टा बनाकर सृष्टि करते हैं, विष्णु बनकर पाल्य बनते हैं और पालन करते हैं। प्रभु स्वयं ही संहर्त्ता बनकर उपसंहार करते हैं।

अनन्त आकाश के रंग से ही विष्णु के श्यामवर्ण की कल्पना की जाती है। श्रुति कहती है—'आकाशशरीरं ब्रह्म'।[3] ध्यानश्लोक में विष्णु का गगन-सदृश मेघ वर्ण कहा गया है :

---

१. विष्णुपुराण (जीवानन्द, कलकत्ता, अंश ५), अध्याय ९, श्लोक ५०—५६। श्लोक ५०—५४ तक ज्यों-के-त्यों ब्रह्म और वायुपुराण में भी मिलते हैं।

२. तत्रैव, १. २. ६२-६३

३. तैत्तिरीयोपनिषत्, १. ६. २

"शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥"

साधारणतः श्यामवर्ण में इनकी कल्पना की जाती है। पर निमित्त-भेद से अर्थात् मोहन, वशीकरण, शान्ति कर्मादिकों के लिए इनका रंग श्वेत, पीत और रक्त भी होता है।

"शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥"

इस ध्यान-श्लोक में विष्णु को शशिवर्णवाला और शुक्लाम्बरधारी कहा गया है। यह शान्तिकर्म के लिए है।

"उद्यदादित्यसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
शङ्खचक्रगदापाणिं ध्यायेल्लक्ष्मीपतिं हरिम् ॥"[१]

"बालसूर्य की तरह, पीत वस्त्रधारी, हाथ में शंख, चक्र और गदा—इस प्रकार लक्ष्मीपति हरि का ध्यान करना चाहिए।" यहाँ रजोगुण का चिह्न लाल, विष्णु का रंग कहा गया है।

स देवो भगवान् सर्वं व्याप्य नारायणो विभुः ।
चतुर्धा संस्थितो ब्रह्मा सगुणो निर्गुणस्तथा ॥
एका मूर्त्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः ।
ज्वालामालावनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा ॥
दूरस्था चान्तिकस्था च विज्ञेया सा गुणातिगा ।
वासुदेवाभिधानासौ निर्ममत्वेन दृश्यते ॥
रूपभावादयस्तस्या न भावाः कल्पनामयाः ।
आस्ते च सा सदा शुद्धा सुप्रतिष्ठैकरूपिणी ॥
द्वितीया पृथिवीं मूर्ध्ना शेषाख्या धारयत्यधः ।
तामसी सा समाख्याता तिर्यक्त्वं समुपागता ॥
तृतीया कर्म कुरुते प्रजापालनतत्परा ।
सत्त्वोद्रिक्ता तु सा ज्ञेया धर्मसंस्थानकारिणी ॥
चतुर्थी जलमध्यस्था शेते पन्नगतल्पगा ।
रजस्तस्या गुणः सर्गं सा करोति सदैव हि ॥
या तृतीया हरेर्मूर्त्तिः प्रजापालनतत्परा ।
सा तु धर्मव्यवस्थानं करोति नियतं भुवि ॥
प्रोद्धतानसुरान् हन्ति धर्मव्युच्छित्तिकारिणः ।
पाति देवान् सगन्धर्वान् धर्मरक्षापरायणान् ॥[२]

"वही सगुण और निर्गुण देव, भगवान्, सर्वव्यापी नारायण, विभु, ब्रह्मा, चार रूपों में

१. नारायणहृदयम्

२. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना); अध्याय १८०, श्लोक १७—२६

अवस्थित हैं। एक मूर्त्ति का पता नहीं है। बुद्धिमानों को वह ज्वाला की लपटों से घिरी हुई[1] शुक्लवर्ण की दिखाई पड़ती है, जिस पर योगियों की परम श्रद्धा है। उसे गुणरहित दूरस्थ तथा निकटस्थ अर्थात् सर्वव्यापी जानना चाहिए। इसका नाम वासुदेव-मूर्त्ति है। अनासक्त लोग इसे देख सकते हैं। कल्पनामय नामरूपादि उसके नहीं हैं। वह स्वस्थ (अपने पर ही स्थित) और सदा शुद्धरूप है। दूसरी मूर्त्ति शेष है, जो नीचे से पृथ्वी को माथे पर धारण करती है। यह तिर्यक् (वक्रगति) रूप धारण करने के कारण तामसी कही जाती है। तीसरी प्रजापालन-कर्म में तत्पर रहती है। यह धर्म का आधार और सत्त्वप्रधान है। चौथी जल में सर्पशय्या पर सोती है। वह रजोगुणवाली है और सदा सृष्टि करती रहती है। हरि की जो तीसरी प्रजापति-मूर्त्ति है, वह संसार में धर्म की व्यवस्था करती है। वह उद्धत और धर्म के नाश करनेवाले असुरों का संहार करती है और धर्मरक्षापरायण देवगन्धर्व की रक्षा करती है।"[2]

विष्णु के विश्वरूप के विस्तृत विवरण के लिए श्रीमद्भागवत २.१-२३-३९ देखिए।

"पितामहादपि परः शाश्वतः पुरुषो हरिः।
कृष्णो जाम्बुनदाभासो बभ्रे सूर्य इवोदितः॥
दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिषूदनः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतयूथपः॥"[3]

"ब्रह्मा के भी कारण, चिरन्तन, पुरुष, हरि, कृष्ण ने उदयकालीन सूर्य-जैसे सोने का प्रकाश धारण किया। राक्षसों के संहर्त्ता, अत्यन्त तेजवान्, दशभुजाओंवाले, श्रीवत्स चिह्नवाले सभी देवताओं के नायक हृषीकेश थे।"

इन्द्र उवाच :

अक्षरं परमं ब्रह्म ज्योतीरूपं सनातनम्।
गुणातीतं निराकारं स्वेच्छामयमनन्तकम्॥
भक्तध्यानाय सेवायै नानारूपधरं वरम्।
शुक्लरक्तपीतश्यामं युगानुक्रमणेन च॥
शुक्लं तेजः स्वरूपं च सत्ये सत्यस्वरूपिणम्।
त्रेतायां कुङ्कुमाकारं ज्वलन्तं ब्रह्मतेजसा॥
द्वापरे पीतवर्णं च शोभितं पीतवाससा।
कृष्णवर्णं कलौ कृष्णं परिपूर्णतमं प्रभुम्॥
वन्दे इति शेषः॥

(श्रीब्रह्मवैवर्त्त, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, इन्द्रकृत श्रीकृष्णस्तोत्र)

"इन्द्र ने कहा—मैं उस पूज्य (वरम्) की वन्दना करता हूँ, जो अक्षर, परम, ब्रह्म, सनातन, ज्योतिःस्वरूप, गुणातीत, निराकार, स्वेच्छामय, आनन्दहीन, भक्तों की सेवा और ध्यान के लिए अनेकरूपधारी, युग के अनुसार शुक्ल, रक्त, पीत, श्याम वर्णधारी, सत्ययुग

१. यहाँ नटराज, बुद्ध आदि की मूर्त्तियों की तरह प्रभामण्डल का वर्णन है।
२. विष्णु के विश्वरूप के विस्तृत विवरण के लिए श्रीमद्भागवत २.१. २३—३९ देखिए।
३. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), २२६.११-१२

में सत्यस्वरूप शुक्ल तेजःस्वरूप, त्रेता में ब्रह्मतेज से जलते हुए कुंकुमाकार, द्वापर में पीतवर्ण और पीत वस्त्रधारी, कलि में पूर्णब्रह्म कृष्ण, कृष्णवर्ण हैं ॥"

यहाँ विष्णु का रंग उदित सूर्य और सोने-जैसा कहा गया है।

"पीतवर्णं तु देवानां रक्तवर्णं भयानकम् ।
नारसिंहो भवेद्देवो मोक्षदं च प्रकीर्त्तितम् ॥"[1]

"देवताओं का पीला[2] और रक्तवर्ण भयानक होता है। ऐसा नृसिंह का रूप है। इस रूप में भगवान् को मोक्षदाता कहा गया है।"[3]

आकाश ही विष्णु का मस्तक है—**'नभः शिरस्ते देवेशः ।'**[4]

शिरस्ते गगनं देव ॥—महा०, वन० २०१.१५

चन्द्र और सूर्य इनके नेत्र हैं—**'शशिसूर्यनेत्रम् ॥'**[5]

दिक् के अंशों के रूप में कल्पित पूर्वादि दिशाएँ ही विष्णु की भुजाएँ हैं। जब आगे और पीछे अथवा दोनों पार्श्वों में दिशाओं की संख्या दो मानी जाती है, तब भुजाओं की संख्या भी दो होती है। जब पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के रूप में दिशाओं की संख्या चार मानी जाती है, तब भुजाओं की संख्या चार होती है। अग्निकोणादि चार उप-दिशाओं के मिला देने से दिशाओं की संख्या आठ होने पर भुजाओं की संख्या भी आठ हो जाती है। ऊर्ध्व और अधः को मिला देने से दिशाओं की संख्या दस हो जाती है, और तिल-तिल कर दिश् का सब ओर विभाग करने से दिशाओं की संख्या असंख्य होने के कारण भुजाओं की संख्या भी असंख्य हो जाती है।

ऋग्वेद में दिशाओं को बाहु मानने का उल्लेख है।

"यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।"[6]

पुराणों में इसी भाव को पुष्ट और स्पष्ट किया गया है।

बाहवस्ते दिशः सर्वाः । बाहवः ककुभो नाथ ॥[7]
बाहवो विदिशश्चास्य । (हरिवंश, ३.७१.४७)

'नाथ ! दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं।' इसके अतिरिक्त भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

"दिशश्चतस्रव्ययबाहवस्ते ।"[8]

१.शालग्रामस्तोत्रम् ।

२. विष्णु के विभिन्न रंगों के लिए श्रीमद्भागवत ११.५. २०—३१ देखिए । महा०,वन०, १४९.११—३४;१८९.३२

३. बगला का भी यही वर्ण है और कार्य शत्रुशमन है।

४. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड), २७.४०

५. गीता, ११.१९

६. ऋग्वेद, १०.१२१.४

७. महा०, वन०, २०१.१६; स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड, २७.४२

८. विष्णुपुराण, ५.४.९६

'हे अविनाशी ! चारों दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं।

"दिशा दश भुजास्ते वै केयूराङ्गदभूषितः ।"[१]

'दस दिशाएँ केयूर और अङ्गद से भूषित आपकी भुजाएँ हैं।'

"उग्राय च नमो नित्यं नमस्ते दशबाहवे ।"[२]

'दस बाहुवाले उग्र को नित्य मेरा नमस्कार।'

वेदान्त-ग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त को मान्य समझा गया है :

"अनन्तदिक्तटाभोगभुजमण्डलमण्डितम् ।"[३]

"अनन्त दिशाओं के विस्ताररूपी भुजाओं से मण्डित ।"

'दिग्दोषौ यस्य ।"[४]

"दिक् जिनकी भुजाएँ हैं।"

साधारणतः विष्णु के चार हाथों की ही कल्पना की जाती है। ये चारों दिशाओं के ही प्रतीक हैं, और इनसे यही अभीष्ट है कि विष्णु की शक्ति सर्वत्र फैली हुई है।

तमोगुणाभिमानी विष्णु की आभिचारिक क्रियाओं में दो भुजाओंवाले प्रतीक का भी विधान है, और वस्त्र का रंग काला होता है। इसे आभिचारिकासन-मूर्त्ति कहते हैं :

"देवं वेदिकासने समासीनं द्विभुजं चतुर्भुजं वा नीलाभं श्यामवस्त्रधरं तमोगुणान्वित-मूर्ध्वाक्षम् । इत्यादि ।"[५]

"देव (विष्णु) को वेदिकासन पर बैठा हुआ, द्विभुज अथवा चतुर्भुज, नीलवर्ण का, काले वस्त्रोंवाला, तमोगुणयुक्त, ऊपर देखता हुआ—इत्यादि ।"

आभिचारिक शयनमूर्त्ति का विवरण इस प्रकार है :

शेषशयनं लक्षणहीनं द्विफणं द्विवलयमनुन्नतं शिरःपार्श्वे देवनीलाभं द्विभुजं चतुर्भुजं वा समनयनं महानिद्रासमायुतं शुष्कवस्त्रं शुष्काङ्गं श्यामवस्त्रधरं सर्वदेवैर्विहीनं कारयेत् ।[६]

"देव (विष्णु) को शेष पर पड़ा हुआ, लक्षणहीन, नीलवर्ण, द्विभुज अथवा चतुर्भुज, दो आँखोंवाला (विषम = तीन), महानिद्रा में पड़ा हुआ सूखे वस्त्रोंवाला, सूखे अङ्गों-वाला, काले वस्त्रोंवाला, सभी देवताओं से रहित (और शेष को) दो फणोंवाला, दो वलय ऊँचा (देव के) मस्तक के निकट बनावे ।"

---

१. वायुपुराण, पूना, २४.१५३

२. यह उक्ति शिव के सम्बन्ध में है।—वायुपुराण, पूना, ३०.१९१

३. योगवासिष्ठ, बम्बई, पूर्वार्द्ध, निर्वाण-प्रकरण, ३८.९

४, पारमात्मिकोपनिषत्, अप्रकाशिता उपनिषदः, मद्रास, १९३३ ई०, पृ० १७७

५. Elements of Hindu Iconography, Madras, 1914, Vol. I, Pt. I. पृ० २२ में प्रतिमालक्षणानि से उद्धृत ।

६. तत्रैव, पृ० २५

इनके प्रत्येक हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं। शङ्ख, वाक् या शब्द ब्रह्म का प्रतीक है, जो सृष्टि का कारण होने के कारण रजोगुण का चिह्न है। चक्र रक्षाशक्ति का चिह्न है। यह अधर्म का संहारक और धर्म का रक्षक भी है। इसलिए सत्त्वगुण का प्रतीक है। गदा तमोगुणात्मक संहारशक्ति है।

चेतना के विस्तार में स्पन्दन-स्थान अर्थात् नाभि-बिन्दु है, जिससे सृष्टि-पद्म का नाल और शैवों का मूलस्तम्भ प्रकट होता है। सृष्टि के साकाररूप ब्रह्मा इस कमल पर प्रकट होते हैं।

"सिसृक्षायां ततो नाभेस्तस्य पद्मं विनिर्ययौ।
तन्नालं हेमनलिनं ब्रह्मणो लोकमद्भुतम्॥
तत्त्वानि पूर्वरूपाणि कारणानि परस्परम्।
समवायप्रयोगाच्च विभिन्नानि पृथक् पृथक्॥
चिच्छक्त्या सज्जमानोऽथ भगवानादिपूरुषः।
योजयन् मायया देवो योगनिद्रामकल्पयत्॥
योजयित्वा तया चैव प्रविवेश स्वयं गुहाम्।
गुहां प्रविष्टे तस्मिंस्तु जीवात्मा प्रतिबुध्यते॥
स नित्योऽनित्यसम्बद्धः प्रकृतिश्च परैव सा।
एवं सर्वात्मसम्बन्धं नाभ्यं पद्मं हरेरभूत्॥
तत्र ब्रह्माऽभवद्भूयश्चतुर्वेदो चतुर्मुखः॥"[१]

"तब (विष्णु ने) सृष्टि की इच्छा की और उनकी नाभि से पद्म निकला। उसके नाल पर सोने का अद्भुत कमल निकला, जो ब्रह्मलोक है। मिले रहने और प्रयुक्त नहीं होने के कारण, तत्त्व, उनके पूर्वरूप, और परस्पर कारण, जो मिले हुए थे, वे टूटकर पृथक् हो गये। भगवान् आदिपुरुष ने चित्-शक्ति से माया द्वारा मिलाये जाने पर योगनिद्रा की कल्पना की। उससे मिलकर, उन्होंने गुहा-प्रवेश किया। गुहा में उनके प्रविष्ट होने पर, जीवात्मा जग उठता है। यह नित्य का अनित्य से सम्बन्ध हुआ और जो परा है, वही प्रकृति है। इस प्रकार हरि की नाभि से सबका सबसे सम्बन्धवाला पद्म उत्पन्न हुआ। उसपर चारों वेद-रूपी चार मुखवाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए।"

इस प्रकार ये चारों अस्त्र त्रिगुणात्मक चार शक्तियों के प्रतीक हैं। ये स्थूल अस्त्र नहीं हैं। ये चैतन्य शक्ति हैं और विभु के इच्छानुसार काम करते रहते हैं।

"ज्ञानाहङ्कारकैश्वर्यशब्दब्रह्मासि केशव।
चक्रपद्मगदाशङ्खपरिणामानि धारयन्॥"[२]

---

१. योगशास्त्र, ब्रह्मसंहिता (वसुमती प्रेस, कलकत्ता, वंगाक्षर), पृ० ३११, श्लोक १८—२२। पद्म-प्रतीक के लिए ब्रह्मा और त्रिपुरा-प्रकरण भी देखना चाहिए।

२. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड), १०, ३२

"हे केशव ! ज्ञान, अहङ्कार, ऐश्वर्य और शब्दब्रह्म का परिवर्त्तित रूप चक्र, पद्म, गदा और शङ्ख आप धारण किये रहते हैं।"

उपनिषत् में आयुध-तत्त्वों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

"श्रीवत्सस्य स्वरूपं तु वर्त्तते लाञ्छनैः सह ॥
श्रीवत्सलक्षणं तस्मात्कथ्यते ब्रह्मवादिभिः ।
येन सूर्याग्निवाक्चन्द्रतेजसा स्वस्वरूपिणा ॥
वर्त्तते कौस्तुभाख्यमणिं वदन्तीशममानिनः ।
सत्त्वं रजस्तम इति अहङ्कारश्चतुर्भुजः ॥
पञ्चभूतात्मकं शङ्खं करे रजसि संस्थितम् ।
बालस्वरूपमत्यन्तं मनश्चक्रं निगद्यते ।
आद्या माया भवेच्छार्ङ्गं पद्मं विश्वं करे स्थितम् ॥
आद्या विद्या गदा वेद्या सर्वदा मे करे स्थिता ॥
धर्मार्थकामकेयूरैर्दिव्यैर्दिव्यमयेरितैः ।
कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यते आद्ययाऽजया ॥
माला निगद्यते ब्रह्मंस्तव पुत्रैस्तु मानसैः ।
कूटस्थं सत्त्वरूपं च किरीटं प्रवदन्ति माम् ॥
क्षरोत्तरं प्रस्फुरन्तं कुण्डलं युगलं स्मृतम् ॥"[1]

"श्रीवत्स (विष्णु) का लक्षणों-सहित रूप है। इसलिए ब्रह्मवादी गण श्रीवत्स के लक्षण का विवरण देते हैं। मान-रहित पुरुष कहते हैं कि सूर्य, अग्नि, वाक् और चन्द्र शक्तिस्वरूप तेज ही कौस्तुभ नामक मणि है। सत्त्व, रज, तम और अहंकार ही चारों भुजाएँ हैं। रजःस्वरूप हाथ में पञ्चभूतात्मक शङ्ख है। मन ही बालरूप में (छोटे और मनोहर रूप में) चक्र है। आदिमाया शार्ङ्ग धनुष है, हाथ में पद्मरूप सृष्टि है। आदि विद्या को गदा जानना चाहिए। यह सर्वदा मेरे हाथ में रहती है। मेरे द्वारा प्रयुक्त धर्मार्थकाम ही दिव्य केयूर हैं। निर्गुण कण्ठ है, जिसमें आद्या अजया (शक्ति) लिपटी रहती हैं।[2] हे ब्रह्मन् ! आपके मानसपुत्र (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार) उसे माला कहते हैं। कूटस्थ सत्त्व मेरा किरीट कहलाता है। क्षर और अक्षर—ये दोनों चमकते हुए मेरे दो कुण्डल हैं।"

पद्म—अथाम्बुजं यजेत्।

आनन्दकन्दं प्रथमं संविन्नालमनन्तरम् ।
सर्वतत्त्वात्मकं पद्ममभ्यर्चेत् तदनन्तरम् ॥
मन्त्री प्रकृतिपत्राणि विकारमयकेशरान् ।
पञ्चाशद्वर्णबीजाढ्यां कर्णिकां पूजयेत्ततः ॥

---

१. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्, श्लोक २२—२८

२. यह मन्दिरों की मिथुनमूर्त्ति है।

कलाभिः पूजयेत्तार्द्धं तस्यां सूर्येन्दुवाचकान् ।
प्रणवस्य त्रिभिर्भागैरथ सत्त्वादिकान् गुणान् ॥
आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमर्चयेत् ।
ज्ञानात्मानं च विधिवत् पीठमन्त्रावसानकम् ॥
पीठशक्तीः केसरेषु मध्ये च सवराभयम् ॥[1]

"तब पद्म की पूजा करे—

पहिले आनन्दकन्द की, अनन्तर संवित् (चेतना) नाल की, पश्चात् सर्वतत्त्वमय पद्म की पूजा करे। तब मन्त्री प्रकृतिमय पत्र, विकारमय केसर, पचास वर्णमय बीजयुक्त कर्णिका की पूजा करे। उसमें सूर्य-चन्द्र वाचक की कलाओं के साथ पूजा करे। ॐकार के तीन भागों (अ उ म) के साथ सत्त्वादि गुणों की, आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की पूजा करे। ज्ञानात्मा की, पीठमन्त्र की और पीठशक्तियों की अभय और वरद के साथ केसरों में विधिवत् अर्चना करे ॥"

दिक्, विष्णु का वस्त्र, पीताम्बर है :

"अनन्तपादं बहुहस्तनेत्रम् ।
अनन्तकर्णं ककुभौघवस्त्रम् ॥"[2]

"(विष्णु के) असंख्य पैर, बहुत-से हाथ और आँखें तथा असंख्य कान हैं। दिशाओं का समूह (समस्त रूप में दिक्) उनका वस्त्र है।"

दिक् स्थिति-तत्त्व है और स्थिरता के लिए उसमें भार का होना आवश्यक है। पाँच तत्त्व जगत् के निर्माण के उपादान हैं। इनमें आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से अप् और अप् से पृथ्वी, क्रमशः अधिकतर स्थूल और भारी हैं। इन तत्त्वों में पृथ्वी-तत्त्व सबसे अधिक स्थूल और भारी है। स्थिरता के लिए इसके साथ विशालकाय दिग्गज लगे हुए हैं। यह स्थिति-तत्त्व का प्रतीक पृथ्वी के रूप में शेषनाग के मस्तक पर है। ये दोनों अर्थात् शेष और पृथ्वी गति और स्थिति-शक्ति के प्रतीक हैं, जिनके द्वारा लीलामय अपनी लीला करता रहता है।

तत्त्व और तत्त्व के किसी प्रकट रूप का अन्तर, ध्यान में रखने योग्य है। आकाश-तत्त्व का कोई स्थूल रूप देखने में नहीं आता। इसकी शून्यता और विस्तार के भीतर भरा हुआ ईथर इसका स्थूल रूप कहा जा सकता है। सृष्टि में जितने वायवीय पदार्थ हैं, वे मरुत्तत्त्व के स्थूलरूप हैं। वायु उनमें से एक है। तेजस् तत्त्व के स्थूल रूप अग्नि, सूर्य इत्यादि हैं। जितने तरल पदार्थ हैं, वे अप्-तत्त्व के अन्तर्गत हैं। जल उसके अनेक रूपों में एक रूप है। सृष्टि में जितने ठोस पदार्थ काम कर रहे हैं, वे पृथ्वी-तत्त्व के रूप हैं।

---

१. पुरश्चर्यार्णव, बनारस, संवत् १९५७, तरंग ३, पृ० २११, मेरुतन्त्र से उद्धृत।
२. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड), नृसिंह-स्तुति, अध्याय १६, श्लोक ४४

पृथ्वी उसका एक रूप है। तत्त्व का स्थूलरूप एकदेशीय होता है; किन्तु तत्त्व सारी सृष्टि में काम करता है, जैसे सौरमण्डल आकाश की एक निश्चित सीमा के भीतर घूमता और काम करता है; किन्तु क्षिति-तत्त्व इसके बाहर भी क्रियाशील रहता है। अन्य तत्त्वों की क्रियाएँ भी इसी प्रकार होती हैं। इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है :

"तारकासन्निवेशस्य दिवि यावद्धि मण्डलम् ।
पर्यासः सन्निवेशस्य भूमेस्तावत्तु मण्डलम् ॥
पर्यासपारिमाण्येन भूमेस्तुल्यं दिवं स्मृतम् ।
सप्तानामपि लोकानामेतन्मानं प्रकीर्तितम् ॥
पर्यासपारिमाण्येन मण्डलानुगतेन च ।
उपर्युपरि लोकानां छत्रवत् परिमण्डलम् ॥
संस्थितिर्विहिता सर्वा येषु तिष्ठन्ति जन्तवः ।
एतदण्डकटाहस्य प्रमाणं परिकीर्तितम् ॥"[1]

"आकाश में तारकमण्डल का जहाँ तक विस्तार है और विस्तार की जहाँ तक स्थिति है, वहाँ तक भूमिमण्डल है। विस्तार के परिमाण से भूमि के तुल्य आकाश भी है। सप्तलोकों का भी इतना ही मान (विस्तार) है। मण्डल के अनुसार स्थिति के परिमाण से, लोकों के ऊपर, यह छाते की तरह मण्डलाकार फैला हुआ है। यह सब प्रकार की स्थिति का विधान है, जिसमें जीव ठहरे हुए हैं। यही अण्डकटाह (अण्डे और कड़ाही की तरह दिखाई पड़नेवाली सृष्टि) का प्रमाण (विस्तार) कहा गया है।"

तत्त्वज्ञ, स्थिति के प्रतीक पृथ्वी-तत्त्व का रंग पीला बताते हैं। यही विष्णु का पीताम्बर है। शिव के नाम दिगम्बर (दिक् + अम्बर) में यह और भी स्पष्ट हो गया है।

विष्णु के गले में वैजयन्ती नामक माला है। इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है :

"पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः ।
सा भूतहेतुसङ्घाता भूतमाला च वै द्विज ॥"[2]

"गदाधर की पाँचरूपोंवाली वैजयन्ती-माला तत्त्वों के हेतु का समूह है और हे ब्रह्मन्! वह भूतमाला है।"

"नानारत्नमयी माला विद्युत्कोटिसमप्रभा ।
पञ्चाशन्मातृकावर्णसहिता विश्वमोहिनी ॥
तत्राश्चर्यं महेशानि वर्णितुं न हि शक्यते ।
अकारादिक्षकारान्ता पञ्चाशन्मातृकाऽव्यया ॥
अव्यया चापरिच्छिन्ना त्रिपुरा कण्ठसंस्थिता ।
ककारात् परमेशानि कोटिब्रह्माण्डराशयः ॥
प्रसूय तत्क्षणात् सर्वं संहारं च तथापि वा ।
एवं क्रमेण देवेशि पञ्चाशन्मातृका सदा ॥

---

१. वायुपुराण, ५०. ७५—७८
२. विष्णुपुराण, १.२२.७०

सृष्टिस्थितिं च कुरुते संहारं च तथा प्रिये ।
रहस्यं परमं गुह्यं पञ्चाशत्तत्त्वसंयुतम् ॥
कलावती महामाला मम कण्ठे सदा स्थिता ॥"[1]

"करोड़ों बिजली की चमकवाली, पचास मातृकावर्णमयी, विश्वमोहिनी नानारत्नमयी माला है। महेशानि ! उसके आश्चर्य का वर्णन नहीं हो सकता है। अकार से क्षकार तक पचास अक्षर मातृका, अव्यया और सीमा-रहित है और त्रिपुरा के कण्ठ में पड़ी हुई है। परमेशानि ! ककार से कोटि ब्रह्माण्डों को उत्पन्न कर साथ-साथ संहार भी करती है। इस प्रकार हे देवेशि ! पचास मातृका सदा सृष्टि, स्थिति और संहार करती रहती है। पञ्चाशत् तत्त्ववाला यह रहस्य अत्यन्त गोपनीय है। यह कलावती महामाला मेरे कण्ठ में सदा स्थित है।"

"वासुदेवस्य कण्ठे या माला सा च कलावती ॥
पञ्चाशदक्षरश्रेणी कलारूपेण साक्षिणी ॥
अव्यया अपरिच्छिन्ना नित्यरूपा पराक्षरा ।
पञ्चाशदक्षरं देवि मूर्त्तिविग्रहधारिणी ॥ "[2]

"वासुदेव के कण्ठ की माला भी कलावती है। पचास अक्षरों की श्रेणी कला (सृष्टि) रूप से साक्षिणी है। यह अव्यय, असीम, नित्या, परा और अक्षर है। हे देवि ! पचास अक्षर, मूर्त्त और प्राणमय शरीरवाली है।"

कला सृष्टि का नाम है। इसलिए निराकार और साकार ब्रह्म का नाम निष्कल और सकल ब्रह्म है। इसलिए कलावती माला और भूतमाला (वैजयन्ती) एक ही वस्तु है।[3]

---

१. राधातन्त्र, पटल ३, श्लोक २१—२७, ३५
२. तत्रैव, श्लोक ९, १०
३. The Vaijayanti is a necklace composed of successive series of groups of gems, each group wherein has five gems in a particular order; it is described in the Vishnu Puran thus—"Vishnu's necklace called Vaijayanti is five formed, as it consists of the five elements, and therefore it is called the elemental necklace. 'Here five formed points to five different kinds of gems, namely the pearl, ruby, emerald; blue stone and diamond'. The Vishnu-Rahasya also says—'From the earth comes the blue gem, from water the pearl, from fire the Kaustubh, from air the cats-eye and from ether the Pusparaga'."
—*Elements of Hindu Iconography*; Madras, 1914; Vol. II, Pt. I, p. 26.

अर्थात्—"वैजयन्तीमाला रत्नसमूह की श्रेणियों की बनी होती है। प्रत्येक समूह में पाँच रत्न एक क्रम से गुँथे रहते हैं। विष्णुपुराण में इसका विवरण इस प्रकार दिया गया है—विष्णु की वैजयन्तीमाला पञ्चरूपा है। यह पञ्चतत्त्व की बनी है। इसलिए यह तत्त्वमाला कहलाती है। यहाँ पञ्चरूपा पाँच प्रकार के रत्नों की ओर संकेत करती है। जैसे मोती, लालमणि, गोमेध, नीलमणि और हीरा। विष्णुरहस्य में भी लिखा है—पृथ्वी से नीलमणि, जल से मोती, तेज से कौस्तुभ, वायु से गोमेध और आकाश से पुष्पराग।"

विष्णु के विग्रह के साथ एक और कभी-कभी दो स्त्री-मूर्त्तियाँ रहती हैं। यह माया-शक्ति है। इसीके नाम श्री, लक्ष्मी, सरस्वती, वाक्, गौरी, उमा आदि हैं। इसलिए लक्ष्मी, सरस्वती आदि विग्रहों का व्यवहार, त्रिदेव के साथ बड़ी स्वच्छन्दता से किया जाता है।

विष्णु के विषय में उक्ति है :

"बिभ्रत्सरस्वतीं वक्त्रे सर्वज्ञोऽसि नमोऽस्तु ते।
लक्ष्मीवान् अस्यतो लक्ष्मीं बिभ्रद् वक्षसि चानघ॥"[1]

"सरस्वती को मुख में धारण करके आप सर्वज्ञ हैं। आपको नमः। लक्ष्मी को हृदय पर धारण कर आप लक्ष्मीवान् हैं।" यहाँ लक्ष्मी और सरस्वती, दोनों को ही विष्णु की सहचरी कहा गया है :

"वामपार्श्वगता लक्ष्मीः संश्लिष्टा पद्मपाणिना।
वल्लकीवादनपरा भगवन्मुखलोचना॥"[2]

"वामपार्श्व में लक्ष्मी (विष्णु के) कमलवाले हाथ के अन्तर्गत हैं। वे वीणा बजा रही हैं और उनकी आँखें भगवान् के मुख पर लगी हैं।" यहाँ लक्ष्मी को वल्लकीवादनपरा कहा गया है।

शिव का नाम श्रीकण्ठ और विष्णु का नाम श्रीधर है :

"मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा।
श्रीकैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा॥"[3]

"देवि! आप सभी शास्त्रों का तत्त्व जाननेवाली मेधा हैं, दुर्गम भवसागर की अकेली नौका होने के कारण आप दुर्गा हैं, विष्णु के हृदय पर अकेली निवास करनेवाली श्री आप ही हैं, तथा शङ्कर द्वारा प्रतिष्ठित गौरी आप ही हैं।" यहाँ एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम को मेधा (सरस्वती), दुर्गा, श्री और गौरी कहा गया है।[4]

---

१. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना), १२२—७१

२. स्कन्दपुराण (विष्णुखण्ड), १०.३४

३. दुर्गासप्तशती, ४.११

४. यह CXII के प्रथम चित्र सरस्वती के विषय में श्रीगोपीनाथ राव कहते हैं : It is obviously intended here that Saraswati is to be looked upon as a Shakti of Shiva. She is also sometimes conceived as a Shakti of Vishnu. Indeed Lakshmi, Saraswati and Parwati are all identified with one Devi.

—*Elements of Hindu Iconography*, Madras; 1914,
Vol. II, Pt. I, p. 378.

अर्थात् "यह स्पष्ट है कि यहाँ सरस्वती शिव की शक्ति है। कभी-कभी इन्हें विष्णु की शक्ति भी माना गया है। यथार्थ में लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती एक ही देवी के रूप हैं।"

शुल्कयजुः के उत्तर पुरुष-सूक्त में श्री और लक्ष्मी को पुरुष अर्थात् परमात्मरूप विष्णु की पत्नी कहा गया है :

"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ ।"[१]

इससे सिद्ध होता है कि वैदिक युग में ही इन भावनाओं का पूर्ण विकास हो चुका था।

श्री और लक्ष्मी से लोग साधारणतः धन समझ लेते हैं और धनवान् पुरुष को श्रीमान् और लक्ष्मीवान् कहते हैं, किन्तु यह मूलभाव का संकुचित रूप है। धन, श्री का एक लघु प्रतीक अथवा संकेत-मात्र है। धन रहने पर भी लोग श्रीहीन हो सकते हैं और धन नहीं रहने पर भी लोग श्रीमान् हो सकते हैं। धन श्रीमान् के उद्देश्यों का साधन है, साध्य नहीं। वह धन अर्जन करता है और उसके द्वारा ऊँचे उद्देश्यों की पूर्ति करता है, उसे पकड़कर उससे चिपका नहीं रहता। धनशक्ति, ज्ञानशक्ति, बल और सत्त्वशक्ति इत्यादि के रहने से किसी में जो आत्मविश्वास, कान्ति, योग्यता आदि प्रकट होती है, वही श्री है। श्री की जो पराकाष्ठा है, वह उसके उद्गम-स्थान परमात्मा में अपने पूर्ण रूप में वर्तमान रहती है। इसलिए उसका नाम श्रीपति है। परमात्मा की जिसपर कृपा होती है, उसमें श्री चमकने लगती है और उसका खेल उस मनुष्य के द्वारा होने लगता है।

ऋग्वेद के श्रीसूक्त में श्री का वर्णन मिलता है। श्रीसूक्त की कुछ ऋचाएँ इस प्रकार हैं :

"अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥
कांसो स्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥"

"आगे अश्व, मध्य में रथ और हाथियों के चिग्घाड़ से जगानेवाली श्रीदेवी का मैं आह्वान करता हूँ। श्रीदेवी मुझे सम्प्राप्त हों।

ब्रह्मस्वरूपिणी, स्फुटस्मितवाली, सरसा, तेजोमयी स्वयं तृप्ता और दूसरों को तृप्त करनेवाली, पद्मस्थिता, पद्मवर्णवाली, श्री का मैं आह्वान करता हूँ।"

पुराणों ने भी इसी भाव को पुष्ट किया है :

यतः सत्त्वं ततो लक्ष्मीः सत्त्वं भूत्यनुसारि च ।
निःश्रीकानां कुतः सत्त्वं विना तेन गुणाः कुतः ।
सत्वेन शीलशौचाभ्यां तथा शीलादिभिर्गुणैः ।
त्यज्यन्ते ते नराः सद्यः सन्त्यक्ता ये त्वयामले ॥
स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान् ।
स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः ॥[२]

१. शुक्लयजुः, ३१.२२
२. विष्णुपुराण, १.९०.२९, १२७, १२९

"जहाँ सत्त्व (आन्तरिक बल) है, वहीं लक्ष्मी है। लक्ष्मी के अनुसार ही सत्त्व होता है। श्रीहीन को सत्त्व कहाँ, और उसके विना गुण कहाँ ? अमले ! आप जिसका त्याग कर देती हैं, वह सत्त्व, शील-शौच और शीलादि गुणों को छोड़ बैठता है। हे देवि ! जिसपर आपकी कृपादृष्टि होती है, वही प्रशंसनीय, धन्य, कुलीन, बुद्धिमान्, शूर और विक्रान्त है।" अर्थात् सत्त्व, शील, कुलीनता, बुद्धि, पवित्रता आदि और श्री एक ही हैं। इन पंक्तियों से श्री के यथार्थ रूप का आभास मिलता है।

पद्मस्थिता और पद्मवर्ण का अर्थ है कि श्री सृष्टि (पद्म) में सर्वत्र व्याप्त हैं।

लक्ष्मी का वाहन उलूक है। पञ्चतन्त्र में इसे नीति-निपुण और चतुर कहा है, किन्तु यह दिवान्ध होता है। धन-संग्रह में यह बड़ा चतुर होता है। किन्तु, ज्ञान के प्रकाश को नहीं सह सकता। इसलिए उचित-अनुचित का इसे विचार नहीं होता है।

गरुड़

विष्णु का वाहन गरुड़ है। गरुड़ को वेद का प्रतीक माना गया है। वेद पर ही ब्रह्म आरूढ़ रहते हैं, अर्थात् वेद ही ब्रह्म और ब्रह्मविद्या के आधार हैं।

"गरुडो भगवाँस्तोत्रस्तोमछन्दोमयः प्रभुः।"

"समर्थ भगवान् गरुड़ वेद की ऋचाएँ हैं।"[1]

"वन्दे छन्दोमयं तं खगपतिमनलस्वर्णवर्णं सुवर्णम्॥"

"वेदस्वरूप, अमल स्वर्णवर्ण, सुन्दर पंखोंवाले पक्षिराज की मैं वन्दना करता हूँ।" दुर्गा के सिंह और शिव के वृषभ की तरह गरुड़ को भी धर्म का प्रतीक माना गया है।

वाहन का रूप है कि ईश्वर से यदि वह बड़ा हो तो उसे वहन कर सकता है, किन्तु यह कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। अतः, सिद्धान्त है कि स्वयं देव-वाहन का रूप धारण कर स्वयं को वहन करते हैं :

ततः सञ्चिन्तयामास गरुडं पक्षिपुङ्गम्।
आगच्छत्वरितं तार्क्ष्य इति विष्णुर्जगत्पतिः॥
ततः स भगवाँस्तार्क्ष्यो वेदराशिरिति स्मृतः।
बलवान् विक्रमी योगी शास्त्रनेता कुरूद्वहः॥
यज्ञमूर्तिः पुराणात्मा साममूर्द्धा च पावनः।
ऋग्वेदपक्षवान् पक्षी पिङ्गलो जटिलाकृतिः॥
ताम्रतुण्डहरः सोमहरः शक्रजेता महाशिराः।
पन्नगारिः पद्मनेत्रः साक्षाद्विष्णुरिवापरः॥
वाहनं देवदेवस्य दानवीगर्भकृन्तनः।
राक्षसासुरसङ्घानां जेता पक्षबलेन यः॥
प्रादुरासीन्महावीर्यं केशवस्याग्रतस्तदा॥[2]

१. नारायणवर्म, श्लोक २९
२. हरिवंश, पूना, ३.७६.१—५

तब (वामन ने) पक्षिपुंगव गरुड़ की चिन्ता की। तुरत जगत्पति विष्णु तार्क्ष्यरूप में उपस्थित हुए। तब हे कुरुवंशधर! हे भगवान् गरुड़, जिन्हें वेद कहते हैं, बलवान्, विक्रमी, योगी, शास्त्रनेता, यज्ञमूर्त्ति, पुराणात्मा, साममूर्धा, पवित्रकर्त्ता ऋग्वेदरूपी पक्षवाले, पिङ्गल, जटाधर, ताम्रवर्ण मुखवाले, सोमहारक, शक्रजेता, महामस्तकवाले, पन्नगारि, पद्मनेत्र, साक्षात् दूसरे विष्णु-जैसे, देवों के भी देव के वाहन, दानवी गर्भनाशक, अपने पक्ष के बल से राक्षस और असुरों के जेता, महाबली, केशव के आगे प्रकट हुए।"

विजयो विक्रमेणेव प्रकाश इव तेजसा।
प्रज्ञोत्कर्षः श्रुतेनेव सुपर्णेनायमुह्यते॥[१]

"विजय को विक्रम की तरह, प्रकाश को तेज की तरह, बुद्धि की निर्मलता को विद्या की तरह गरुड़ इन्हें वहन करते हैं॥" अर्थात् विष्णु और गरुड़ एक ही हैं।

शेष

शेषनाग की शय्या बनाकर विष्णु योगनिद्रा में इसपर पड़े रहते हैं। कहा जाता है कि इस शेषनाग के दस सहस्र अर्थात् असंख्य मस्तक हैं, जिन पर पृथ्वी पड़ी हुई है। यह शेष 'काल' का प्रतीक है, जो असंख्य रूपों में सारी सृष्टि में विकास और संकोच का काम करता रहता है।

"त्वया धृतेऽयं धरणीं बिभर्त्ति चराचरं विश्वमनन्तमूर्त्ते।
कृतादिभेदैरजकालरूपो निमेषपूर्वो जगदेतदत्सि॥"[२]

"हे अनन्त रूपवाले! तुम जिस धरती को धारण किये रहते हो, वह चराचर विश्व को धारण किये रहती है। हे अज! निमेष (पल) से लेकर कृत (सत्य) युग आदि विभागयुक्त काल-रूप से इस संसार को खाते रहते हो।"

काल की कल्पना चक्र के रूप में भी की गई है [3]; किन्तु साधारणतः सर्प ही काल का प्रतीक माना गया है।

"रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगः।"[४]

"राम से भयङ्कर काल-सर्प डरता रहता है।"

"कालव्यालकरालभूषणधरम् (काशीशम्)।"[५]

"(काशीश शिव) काल-रूपी भयङ्कर सर्प को भूषण की तरह धारण किये रहते हैं।"

---

१. योगवासिष्ठ,, ६.१२८.८९
२. विष्णुपुराण, ५.९.२९
३. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽपि ताः षष्टिर्न चलाचलासः॥
ऋग्वेद, १.२२.१६४.४८
४. स्कन्दपुराण (उत्तरखण्ड)
५. रामचरितमानस (तुलसीदास), लंकाकाण्ड के प्रारम्भिक श्लोक।

"यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥"[१]

"जिस प्रकार सर्प के मुँह में पड़ा हुआ बेंग, मच्छड़ इत्यादि को खाना चाहता है, उसी तरह काल-सर्प से ग्रस्त से लोग क्षणिक सुख को भोगना चाहते हैं।"

"ततः स भगवान् कृष्णो रुद्ररूपधरोऽव्ययः।
क्षयाय यतते कर्त्तुमात्मस्थाः सकलाः प्रजाः ॥
ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूतसर्गहरो हरः।
शेषाहिश्वाससन्तापात् पातालानि दहत्यधः ॥"[२]

"तब अव्यय भगवान् कृष्ण, रुद्ररूप धारण कर सारी सृष्टि को आत्मस्थ करने के लिए संहार का यत्न करते हैं। तत्पश्चात् सृष्टि के हरण करनेवाले ये कालाग्निहर, शेषनाग की साँसों के ताप से नीचे पाताल-लोकों को भी जला देते हैं।" यहाँ सृष्टि की संहारक शक्ति को काल, रुद्र, कृष्ण और शेष कहा गया है। इनमें कोई भेद नहीं माना गया है।

पहले कहा गया है कि काल के उत्क्षेप और संकोच-क्रिया की लपेट में सारी सृष्टि पड़ी हुई है। संसार के ऊपर यही काल-सर्प की लपेट है। काल की गति और दिक् की स्थिति—इन दोनों की खींचा-खींची में सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रिया चलती रहती है। दिक् की स्थिति-शक्ति का प्रतीक पृथ्वी है। पृथ्वी और सर्प—अर्थात् दिक् और काल—इस महालीला में, प्रभु के प्रधान सेवक बनकर उनके इच्छानुसार अपने कार्य में लगे रहते हैं। जब सारी सृष्टि का लोप हो जाता है, तब सबके अन्त के बाद अन्तिम लय तक यह गति-शक्ति कुछ-न-कुछ बची रहती है। इसलिए इसका नाम शेष है। यह शेष (बचा हुआ) भी अन्त में अपनी उद्गम-भूमि महाकाल में लीन हो जाता है। 'शेष' कारण के अर्णव में तैरता रहता है। यह कारण भी पीछे अशेष कारण ब्रह्म में लीन हो जाता है।

वेद में 'आप्' का प्रयोग ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः और ओम् के अर्थ में होता है :

"आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम् ॥"

इनका समूह अर्णव है। यह वेद का ऋतं बृहत्, सत्यं बृहत्, तप इत्यादि, दार्शनिकों का अशेष कारण चेतना इत्यादि और योगियों का ब्रह्म और अमृत तथा पौराणिकों का मधुर क्षीर है, जिसके विस्तार में ऐसा साकार ब्रह्म अपने माया-व्यूह के साथ पड़ा रहता है।

"यः कारणार्णवजले भजति च योग-
निद्रामनन्त जगदण्ड स्वरोमकूपात्।
आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्त्तिं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"[३]

"जो अपने रोमकूपों से असंख्य जगत् के अण्डों को लेकर, अपनी ही दूसरी मूर्त्ति अनन्त का आधार बनाकर, कारणरूपी अर्णव के जल में सोता है, उस आदिपुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ।"

१. अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, ४.२१

२. ब्रह्मपुराण, अध्याय २३२, श्लोक १६ और २४

३. योगशास्त्र, ब्रह्मसंहिता (कलकत्ता; वंगाक्षर), श्लोक ४१

"अनन्तकोटिब्रह्माण्डानामुपरि कारणजलोपरि महाविष्णोर्नित्यं स्थानं वैकुण्ठः। पद्मासनासीनः कृष्णध्यानपरायणः शेषदेवोऽस्ति। तस्यानन्तरोमकूपेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि अनन्तकोटिकारणजलानि तस्य सप्तकोटिपरिसहस्रपरिमिताः फणाः तदुपरि वैकुण्ठो विष्णुलोक इति रुद्रलोक शिववैकुण्ठ इति॥"[1]

"अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के ऊपर, कारण के जल पर, महाविष्णु का नित्य स्थान वैकुण्ठ है। पद्मासन पर बैठे हुए, कृष्णध्यान में लीन शेषदेव हैं। उनके अनन्तकोटि रोमकूप में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और अनन्तकोटि कारण के जल हैं। उनके लगभग सात करोड़ फण हैं। उनके ऊपर वैकुण्ठ है, जो विष्णुलोक, रुद्रलोक अथवा शिववैकुण्ठ है।"

ब्रह्म का ही दूसरा नाम अशेष कारण है :

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥"[2]

"उस अशेषकारण, पर, ईश, हरि की मैं वन्दना करता हूँ, जिनका नाम राम है। भगवान् शङ्कराचार्य ने कारण, अशेषकारण, गत्यात्मक काल, कालसर्प इत्यादि का बड़ा सुन्दर विवरण दिया है :

"कान्तं कारणकारणमादिमनादिं कालघनाभासं
कालिन्दीगतकालियशिरसि मुहुर्नृत्यन्तं सुनृत्यन्तम्।
कालं कालकलातीतं कलिताशेषं कलिदोषघ्नं
कालत्रयगतिहेतुं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्॥"[3]

"जो गोविन्द परम मनोहर (कान्त) है, (सृष्टि के) कारणों का भी कारण अर्थात् अशेष कारण है, जो सबका आदि, किन्तु स्वयं आदिरहित है, जो घनीभूत काल के आभास-जैसा है, जो यमुना में कालिय नाग के मस्तक पर थिरक-थिरक कर नृत्य करता रहता है, जो काल है और काल की क्रियाओं से बाहर है, जो सबको (अशेष) समेट लेता है, जो कलि के दोषों का नाश करनेवाला है, जो गतिवाले तीनों काल का हेतु है, उस परमानन्द-स्वरूप गोविन्द को प्रणाम कीजिए।"

कारणों का भी कारण अशेष कारण है; क्योंकि सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु या कल्पना नहीं है, जिसका वह कारण न हो। घनीभूत काल जैसा होगा, उससे उसका कुछ आभास मिल सकता है। कालिन्दी से अशेष कारणार्णव की ओर संकेत है, जिसमें काल-सर्प के मस्तक पर वह नटवर-नटराज लगातार नृत्य करता रहता है। वह स्वयं काल है और काल की गति उसके भीतर होती है। वह काल की क्रियाओं से सीमाबद्ध नहीं है। वही सबको समेटकर आत्मसात् कर लेता है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान--तीनों कालों की गति का वही हेतु है।

कार्य और कारण को एक रूप में देखने पर विष्णुरूप में काल अनन्त, और महेशरूप में महाकाल बन जाता है। विष्णुरूप में अनन्त (नाग) की परिकल्पना इस प्रकार की जाती है :

---

१. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, सन् १९३३ ई०), राधोपनिषत्, पृ० २०८

२. रामचरितमानस (तुलसीदास), बालकाण्ड, प्रस्तावना-श्लोक ६

३. गोविन्दाष्टक (शङ्कराचार्य), श्लोक ७

"अनन्तोऽनन्तरूपस्तु हस्तैर्द्वादशभिर्युतः ।
अनन्तशक्तिसंवीतो गरुडस्थश्चतुर्मुखः ॥
गदाकृपाणचक्राढ्यो वज्राङ्कुशवरान्वितः ।
शङ्खखेटं धनुः पद्मं दण्डपाशौ च वामतः ॥"[१]

अनन्त के अनन्त रूप हैं और उनकी अनन्त शक्तियाँ (पत्नियाँ) हैं। ये गरुड़ पर हों और इनके बारह हाथ और चार मुख हों। दाहिने हाथ में गदा, कृपाण, चक्र, वज्र, अङ्कुश और वरद मुद्रा हो और बायें में शंख, खेट, धनु, पद्म, दण्ड और पाश हों।

गरुडवाहन विष्णुत्व का चिह्न है। कार्त्तिकेय की तरह बारह हाथ बारह मास हैं और चार मुख चारों दिशाओं में सर्वव्यापित्व के प्रतीक हैं। हाथ के अस्त्र विष्णु, देवी और दिक्पालों के अस्त्र हैं।

काल के सर्परूप में पाँच और सात मुख बनाने का विधान है। यह पञ्चभूत और सप्तलोक में व्याप्त, काल की क्रियाओं का प्रतीक है।

इस प्रतिमा के विषय में गोपीनाथ राव कहते हैं : "अनन्त रूप में कल्पित विष्णु की प्रतिमा को भ्रमवश सर्प अनन्त की प्रतिमा नहीं समझना चाहिए। नाग अनन्त एक प्रकार की विष्णुमूर्त्ति का अंगमात्र है।[२] यहाँ राव महोदय का भ्रम स्पष्ट है।

विष्णु के आयुधादि-समेत समस्त रूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

"महेश्वर उवाच :

शस्त्रग्रहं ते वक्ष्यामि शृणु धर्मं शुचिस्मिते।
महाविष्णोश्च या माऽस्ति तां मायां प्रकृतिं विदुः ॥
लोकयात्रा विना तां तु नैति श्रीः सा स्मृता बुधैः।
तस्याः श्रियाः स्त्रियोऽभिन्नः पूर्वाद्य पुरुषोत्तमात् ॥
तन्मात्रया श्रिया सार्द्धं पूजयेत् पुरुषोत्तमम्।
संसारचक्रयत्नाभ्यां निजं ते स्यात्सुदर्शनम् ॥
हंसाख्यं चेतनारूपं सर्वप्राणिहृदिस्थितम्।
तच्छङ्खरूपो देवश्च पाञ्चजन्याख्य उच्यते ॥
पञ्चभूतात्मको ह्यस्य सर्ववेदमयोऽक्षरः।
छन्दोमयाभ्यां पक्षाभ्यां युक्तः पक्षिगणेश्वरः ॥
गरुडो वाहनश्चापि विष्णोर्देवस्य कीर्त्तितः।
पृथिवीवायुसंयोगश्चापः शार्ङ्गं हरेः स्मृतः ॥

१. Elements of Hindu Iconography, Madras, 1914; Vol. I, Pt. I, p. 257 में उद्धृत।

२. The image of Vishnu conceived as the Infinite Being should not be confounded with serpent Anant, forming an accessory to certain Vishnu image.—*Ibid*, p. 27.

"ब्रह्मरूप विष्णु की प्रतिमा को धोखे से अनन्त नाग नहीं समझ लेना चाहिए। नाग विष्णु के एक विशेष रूप का अंग-मात्र है।"

तेजो वायुमयो ह्यस्य नाम्ना संशरणाच्छरः ।
विद्याविद्याशरैर्युक्ते अक्षये ते महेषुधी ॥
लोकालोकाचलः प्रोक्तो विद्योताख्यं तु खेटकम् ।
कृतान्तो नन्दकः खड्गं सर्वप्राणिहृदिस्थितम् ॥
या दण्डनीतिः सा ख्याता गदा कौमोदकी हरेः ।
सर्वप्राणिषु या शक्तिः शक्तिर्विद्युन्निभा मता ॥
मर्यादा यदधोलोके भेरी सा तु महारवा ।
यो वायुर्वाति सोऽस्त्वस्तु पुण्डरीकपदाह्वयः ॥
इत्येवं ब्रह्मणा चोक्तं तस्माद्विश्रिया सह ।
आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणोऽमलम् ॥
बिभर्त्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः ।
चलस्वरूपमत्यन्तं जपेनान्तरितानिलम् ॥
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुः करे स्थितम् ।
पञ्चरत्ना तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः ॥
सा भूतहेतुसङ्घातभूता माला च वै द्विज ।
यानीन्द्रियाण्यशेषेण बुद्धिकर्मात्मकानि वै ॥
शराणि यान्यशेषेण तानि धत्ते जनार्दनः ।
बिभर्त्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम् ॥
विद्यामयं तु तज्ज्ञानमविद्याचर्म संस्थितम् ।
भूतानि च हृषीकेशो धत्ते सर्वेन्द्रियाणि च ॥
विद्याविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत्समाश्रितम् ।
अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितम् ॥
बिभर्त्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे भगवान् हरिः ।
सविकारं प्रधानं च पुमान् स्वं चाखिलं जगत् ॥
बिभर्त्ति पुण्डरीकाक्षस्तदेवं परमेश्वर ॥"[१]

"महेश्वर ने उमा से कहा—शुचिस्मिते ! अब शस्त्रों के विषय में कहता हूँ । तत्त्वार्थ सुनिए। महाविष्णु की जो लक्ष्मी (मा) हैं, उन्हीं को माया और प्रकृति कहते हैं। उनके विना सांसारिक काम नहीं होते हैं, इसलिए उन्हें श्री कहते हैं। उस श्री से स्त्री और पुरुषोत्तम से पुरुष अभिन्न हैं, अतः श्री के साथ पुरुषोत्तम की पूजा करें। संसार-चक्र और उसकी क्रियाएँ---ये दोनों सुदर्शन-चक्र हैं। हंस नामक चेतनाशक्ति सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। देव के शङ्ख का नाम पाञ्चजन्य है। यह पञ्चभूतात्मक है। सर्ववेदमय, अक्षर और वेदों के पंखवाले गरुड़ इनके वाहन हैं। पृथ्वी और वायु का संयोग हरि का शार्ङ्ग धनुष है। जो वायुमय इनका तेज है, वह बराबर निकलते रहने के कारण शर कहलाता है। शरों से भरे हुए विद्या और अविद्या इनके दो अक्षय तूण हैं। लोक, अलोक और अचल

१. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, १९३३ ई०), पृ० १९८ से उद्धृत।

इनके विद्योत नामक ढाल हैं। यम, नन्दक नामक खड्ग है, जो सभी प्राणियों के हृदय में है। दण्डनीति हरि की गदा है। बिजली की तरह चमकनेवाली बर्छी (शक्ति) सब प्राणियों के अन्तर्गत शक्ति है। नीचे के लोकों में जो मर्यादा है, वही घोर शब्द करनेवाली भेरी है। जो अत्यन्त चंचल है और जप से वायु जिसमें लीन हो गई है, उस चक्रस्वरूप मन को विष्णु हाथ में धारण किये रहते हैं। गदाधर की जो पाँच रत्नोंवाली वैजयन्ती माला है, वह तत्त्वों को एकत्र करने का कारणस्वरूप है। इन्द्रिय और बुद्धि आदि के जितने कर्म हैं, उन्हें जनार्दन बाणरूप में धारण करते हैं। अच्युत जिस अत्यन्त निर्मल असिरत्न को धारण किये रहते हैं वह विद्यामय ज्ञान है, और अविद्या ढाल है। हृषीकेश तत्त्वों, सभी इन्द्रियों, विद्या, अविद्या इत्यादि को, निराकार होने पर भी, मायारूपी होने के कारण, अस्त्र और भूषण के रूप में, कल्याण के लिए धारण करते हैं। पुण्डरीकाक्ष परमेश्वर निर्विकार पुरुष हैं, जो सविकार प्रधान को अखिल जगत् के रूप में धारण करते हैं।"

हिरण्याक्ष मूर्त्तिमान् अनैश्वर्य है :

"मूर्त्तिमन्तमनैश्वर्यं हिरण्याक्षं विदुर्बुधाः।
ऐश्वर्येण विनाशेन स निरस्तोऽरिमर्दन ॥"[1]

"बुद्धिमान् लोग, हिरण्याक्ष को मूर्त्तिमान् अनैश्वर्य मानते हैं। हे अरिमर्दन! अविनाशी ऐश्वर्य द्वारा उसका नाश हुआ।" इस प्रकार हिरण्याक्ष महामोह का प्रतीक सिद्ध होता है। हिरण्यकशिपु हिरण्याक्ष का भाई था। विष्णु ने नृसिंहावतार में इसका संहार किया। यह भी महामद का प्रतीक है :

"राम नाम नरकेशरी कनककशिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहिं दल सुरसाल ॥"[2]

"राम नाम नृसिंह है, हिरण्यकशिपु कलिकाल है। जप करनेवाले तपस्वी प्रह्लाद हैं। राक्षसों का नाश कर भक्तों को पालते हैं।"

कशिपु का अर्थ है—शय्या। हिरण्यकशिपु वह है, जिसकी, सोने की शय्या हो। इस प्रकार, हिरण्यकशिपु सोने—अर्थात् धन, बल आदि—से उत्पन्न महामद है। इसका स्पष्टार्थ यही है कि सर्वव्यापी विभु (विष्णु) महामद और महामोह का नाश कर साधु जीवों का उद्धार किया करते हैं।

विष्णु की तीन रूपों में उपासना देखी जाती है :

१. परब्रह्मरूप में, जिसका विवरण दिया जा चुका है।

२. अवतार के रूप में—जैसे राम, कृष्ण।

३. खण्डावतार के रूप में इनकी संख्या २४ कही जाती है; जैसे—कार्त्तवीर्य, दत्तात्रेय इत्यादि। किन्तु आवश्यकतानुसार इसके असंख्य रूप हो सकते हैं।

---

१. Elements of Hindu Iconography; Madras, 1914; Vol. I, Pt.I, p. 30 में 'प्रतिमालक्षणानि' से उद्धृत।

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा ३३

४. गणदेवता के रूप में; जैसे—बारह आदित्यों में एक आदित्य।[१]

विष्णु के दस अवतारों में सृष्टि के क्रमविकास का विवरण मिलता है। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-तत्त्वों से सारी सृष्टि की रचना हुई है। इनमें आकाश, वायु और तेज सूक्ष्म तत्त्व हैं। स्थूल सृष्टि में सर्वप्रथम जलतत्त्व है, जिसमें सर्वप्रथम जीव का विकास हुआ। इसका प्रतीक मत्स्यावतार है। तत्पश्चात् कच्छप हुआ, जो जल में अधिक और स्थल पर कम रहता है। तीसरा वराह है, जो जल में कम, स्थल पर अधिक रहता है। चौथा आधा पशु और आधा मनुष्य, नृसिंह है। पाचवाँ अविकसित मनुष्य वामन (बौना) है। छठा अर्धसभ्य मनुष्य परशुराम है, जो अपने अस्त्र (परशु) के कारण प्रसिद्ध है। सातवाँ पूर्णमनुष्य और पूर्णब्रह्म राम हैं। आठवाँ 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। नवाँ करुणा की मूर्त्ति महायोगी बुद्ध हैं। दसवाँ कल्कि हैं।

दूसरा सिद्धान्त है युगपत्सृष्टि। इसमें सृष्टि-रचना एक साथ होती है, आगे-पीछे नहीं।

७. शिव

गणेशादि देवताओं की तरह शिव, सर्वव्यापी पूर्णब्रह्म हैं और इनके रूप और गुण भी अनन्त हैं। इसलिए इनके रूपों और गुणों की नाना प्रकार से कल्पना की जाती है। वेदों और वैदिक साहित्य में रुद्र[२], भव, ईश आदि नामों से शिव का विस्तृत विवरण मिलता है। ऋक् और अथर्व की ऋचाओं के अतिरिक्त यजुर्वेद का 'शतरुद्रियसूक्त'[३] प्रसिद्ध है। पौराणिकों ने नाना प्रकार की कथाओं द्वारा इनके रूप और उपासना के सिद्धान्तों को विस्तार के साथ लिखा है। इन सभी कथाओं और सिद्धान्तों का सार-रूप पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में, बड़ी योग्यता और सुन्दरता से अत्यन्त संक्षिप्त रूप में, दे दिया है।

शिव सर्वव्यापी हैं। इसलिए जो शून्य का विस्तार आँखों के सामने दिखाई पड़ता है, वही इनका शरीर है :

> "लोकधात्री दिव्यं भूमिः पादौ सज्जनसेवितौ।
> सर्वेषां सिद्धयोगानामधिष्ठानं तवोदरम्॥
> मध्येऽन्तरिक्षं विस्तीर्णं तारागणविभूषितम्।
> तारापथ इवाभाति श्रीमान्हारस्तवोरसि॥
> दिशा दश भुजास्ते वै केयूराङ्गदभूषिताः।
> विस्तीर्णपरिणाहश्च नीलाम्बुदचयोपमः॥"[४]

---

१. 'आदित्यानामहं विष्णुः'—गीता, १०.२१

२. रोदयति इति रुत। अज्ञानं सर्वानर्थमूलं द्रावयति इति रुद्रः ऐकात्म्यबोधः नीलकण्ठ। हरिवंश, पूना; ३.३२.५६। रुद्रोऽसि परिरक्षिता। —प्रश्नोपनिषत्, २.९

३. शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय १६

४. (क) वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना, शाके १८२७), २४, १५१, १५७
(ख) विष्णु का रूप कहा गया है—'गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्'।
(ग) बृहदारण्यकोपनिषत् का 'आकाशशरीरं' ब्रह्म, विष्णु और शिव के सम्बन्ध में समान रूप से लागू है।

"यह लोकमाता पृथ्वी आपके दोनों चरण हैं, सज्जन जिनकी सेवा करते हैं। सभी सिद्ध योगों का निवासस्थान, ताराओं से विभूषित, विस्तीर्ण (पृथ्वी और आकाश के) बीच-वाला अन्तरिक्ष, आपका उदर है। तारापथ, आपके वक्ष पर चमकता हुआ हार-जैसा मालूम होता है। दसों दिशाएँ, केयूर और अंगद से विभूषित आपकी दस भुजाएँ हैं। आपकी फैली हुई विशालता नील जलदमाला-जैसी है।"

आकाश की गोलाकार ऊँचाई इनका शिर है :

"नभः शिरस्ते देवेश।"[1]

आकाश की विस्तृत नीलिमा इनके केश हैं, इसलिए इनका नाम व्योमकेश है। इस विस्तृत नील शून्य का सबसे सुन्दर रत्न चन्द्रमा, इनका शिरोभूषण है, जो घनीभूत सोमरस अर्थात् आनन्दामृत है। इसलिए इनका नाम चन्द्रशेखर है।

ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति इनके तीन नेत्र हैं। तीनों गुण भी इनके तीन नेत्र हैं, जिनसे ये अपनी सृष्टि को देखते हैं, इसलिए इनका नाम 'त्रिवृत्तनयन' है। तीनों वेद तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी इनके नेत्र माने जाते हैं :

"नमामि वेदत्रयलोचनं तम्।"[2]

"तीनों वेद जिनके लोचन हैं, उन्हें प्रणाम करता हूँ।"

इसके अतिरिक्त भी कहा गया है कि चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं :

"इन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रम्।"[3]

और, **"चन्द्रार्कवैश्वानरलोचनाय नमः शिवाय।"**[4]

'चन्द्र, सूर्य और अग्नि के तीन नेत्रोंवाले शिव को प्रणाम।"

आदि, मध्य और अन्तावस्था में सृष्टि का प्रवर्त्तन और समावर्त्तन करनेवाली शक्ति का नाम काल है। इसका प्रतीक सर्प है। काल, जो सृष्टि-कल्पना में सबसे प्रचण्ड और बलशाली समझा जाता है, इनके शरीर पर तुच्छ कीट की तरह रेंगता रहता है और इसकी कृपा और अनुमति से सृष्टि में कार्य करता है।[5]

सृष्टि में स्थिरता देनेवाली स्थिति-शक्ति का नाम दिक् है। यह दिक् महायोगी शिव का लघु कटिवस्त्र है। इसलिए इसका नाम दिगम्बर (दिक्+अम्बर) है।[6] दिशाएँ इनकी भुजाएँ भी हैं। इसलिए दिशाओं की कल्पित संख्याओं के अनुसार इनकी भुजाओं की संख्या चार, आठ, दस, सहस्र और असंख्य हुआ करती है :

"यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू।"[7]

---

१. स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड, २७.४२
२. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना, शाके १८१७; सन् १८९५ ई०), १२३. २००
३ वेदसारशिवस्तोत्रम्, श्लोक २
४. शिवपञ्चाक्षरस्तोत्रम्, श्लोक ४
५. कालसर्प के विशेष विवरण के लिए विष्णु-प्रकरण देखिए। कालतत्त्व के लिए काल-प्रकरण देखिए।
६. विशेष विवरण के लिए दिक्-प्रकरण देखिए।
७. ऋग्वेद, १०. १२१.२

"ये दिशाएँ जिनकी बाहें हैं।"

"बाहवः ककुभो नाथ।"[१]

"नाथ ! दिशाएँ आपकी बाँहें हैं।"

"दिग्दोषो यस्य विदिशश्च कर्णौ
द्यौरास वक्त्रमुदरं नभश्च।"[२]

"दिक् जिसकी भुजाएँ, उपदिशाएँ जिसके कान, द्यु (चमकता हुआ आकाश) जिसका मुख और नभोमण्डल जिसका उदर है।"

"दिशश्चतस्रोऽव्यय बाहवस्ते।"[३]

'हे अव्यय ! चारो दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं।'

'दिशा दश भुजास्ते वै केयूराङ्गदभूषिता।"[४]

"दस दिशाएँ केयूर और अङ्गद से विभूषित आपकी दस भजाएँ हैं।"

"उग्राय च नमो नित्यं नमस्ते दश बाहवे।"[५]

"दस भुजाओंवाले उग्र (शिव) को नित्य मेरा प्रणाम।"

"नीलबाहुं दशभुजं त्र्यक्षं धूम्रविलोचनम्।"[६]

"नीलवर्णवाली दस भजाओंवाले और धूम्र (वर्ण) वाले त्रिलोचन को (प्रणाम)।"

"सर्वान्तरस्थं जगदादिहेतुं कालज्ञमात्मानमनन्तपादम्।
अनन्तबाहूदरमस्तकाक्षं ललाटनेत्रं भज चन्द्रमौलिम्॥"[७]

"सबके भीतर वर्त्तमान, सृष्टि के आदिकारण, काल के जाननेवाले, आत्मा, असंख्य चरणों-वाले, असंख्य बाहु, उदर, मस्तक और नेत्रवाले, माथे पर नेत्रवाले चन्द्रमौलि का भजन करो।"

"गौरीविनायकोपेतं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम्।
शिवं ध्यात्वा दशभुजं शिवरक्षां पठेन्नरः॥"[८]

"पार्वती और गणेश-सहित पाँच मुख, तीन नेत्र और दस भुजाओंवाले शिव का ध्यान कर 'शिवरक्षास्तोत्र' लोगों को पढ़ना चाहिए।"

---

१. स्कन्दपुराण, विष्णखण्ड, २७. ४२
२. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, १९३३ ई०), परमात्मिकोपनिषत्, पृ० १७७
३. विष्णुपुराण (जीवानन्द, कलकत्ता), ५.९.२६
४ वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना; शाके १८१७), २४. १५३
५. तत्रैव, ३०.१९१
६. शिवस्तवराजः, श्लोक ४५
७. तत्रैव, श्लोक ६८
८. शिवरक्षास्तोत्रम्, श्लोक २

शिव के चार प्रसिद्ध आयुध हैं—त्रिशूल, डमरू, मृग और परशु। साधारण रीति से त्रिशूल त्रिगुण का संकेत है। शाक्त, शैव और बौद्ध-दर्शन के अनुसार यह त्रिशक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) का प्रतीक है। शाक्त दर्शन में इसे त्रिकोण, शून्यस्थ, भग और गुप्तमण्डल कहते हैं। यही बौद्धों की शून्यता है। इसके भीतर चेतना के स्पन्दन का नाम 'चिञ्चिनी-क्रम' या 'चिञ्चिनी-शक्ति' है।

"त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम्॥[1]

अस्मिश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके।
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने॥[2]

लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम्।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः॥"[3]

"त्रिकोण का नाम शून्यस्थ, भग और गुप्तमण्डल है। इसके तीनों कोण इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। उसके भीतर चिञ्चिनी की क्रियाएँ हैं। इस चौदहवें धाम में तीनों शक्तियों के (सम्मिलित) स्फोट होने के कारण, भगवान् बुद्ध (शास्ता) के श्रीशासन (अपने उपदेशों ?) में त्रिशूल कहा। इसलिए तीनों शक्तियों का क्रियाशील होना ही त्रिशूल है, जिसमें प्रवेश करते ही योगी निरञ्जन (मलरहित—विशुद्ध तत्त्वज्ञानवाला) बन जाता है।" यही त्रिशूल का त्रिगुणत्व है। कहा भी है :

"त्रिकोणे देवताः सर्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः"[4]

"त्रिकोण में ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर—ये सभी देवता हैं।"

विष्णु के शङ्ख और कृष्ण की मुरली की तरह शिव का डमरू शब्द-ब्रह्म का प्रतीक है।

शिव का नाम 'मृगधरः' है। मृग वेद है, जिसे ये कभी अपने हाथ से अलग नहीं करते, सदा इनकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। 'नटराजसहस्रनाम' में 'मृगधर' नाम पर टीका इस प्रकार है :

"धरतीति धरः मृगस्य हरिणस्य धरः। दारुकावने मुनिकृते अभिचारक्रतावुत्पन्नं हरिणं शिवो धृतवान् इति स्कान्दे प्रसिद्धिः। हेमसभानाथमाहात्म्ये च प्रतिपादितमिदम्। एतच्च अपस्मृतिन्यस्तपादनामविवरणे द्रष्टव्यम्। यथोक्तं स्कान्दे :

ततो मृगः समुत्थाय शीमागच्छदम्बरात्।
सर्वान् ज्ञानविहीनतांस्तान् मृगतुल्यानिवाब्रुवन्॥
आदाय वामहस्तेन दधारेशश्च निश्चलम्॥

१. श्रीतन्त्रालोक (बम्बई, १९२० ई०), श्लोक ९४ की टीका।
२. तत्रैव, श्लोक १०४
३. तत्रैव, श्लोक १०८
४. तत्रैव, श्लोक ११२ की टीका।

मन्त्रशास्त्रे तु (मृग) वेदरूप इति प्रसिद्धम् । यथोक्तं मृत्युञ्जयध्याने—

स्वकरकलितमुद्रापाशवेदाक्षमालाम् ।

अत्र वेदो मृगः । ग्रन्थान्तरे—

मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशुप्रभम् ।

इति समानप्रकरणे स्पष्टतयाभिधानात् ।"[1]

"धर है धारण करनेवाला, मृग अर्थात् हरिण का धारण करनेवाला। दारुका-वन में मुनियों द्वारा किये गये अभिचार के यज्ञ से उत्पन्न मृग को शिव ने हाथों में ले लिया, यह स्कन्दपुराण में प्रसिद्ध है। 'हेमसभानाथमाहात्म्य' में भी इसकी पुष्टि की गई है। इसे 'अपस्मृतिन्यस्तपाद' नाम के विवरण में देखना चाहिए। 'स्कन्दपुराण' में कहा है :

"तत्पश्चात् निकलकर मृग शीघ्र आकाश से आया और उन सभी ज्ञानविहीन लोगों को मृगतुल्य (पशुवत्) कहा। ईश ने बायें हाथ में दृढ़ता से पकड़कर उसे रख लिया।"

मन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध है कि मृग वेद है, जैसा कि मृत्युञ्जय के ध्यान में कहा गया है कि आप अपने हाथों में मुद्रा, पाश, वेद और अक्षमाला धारण किये हुए हैं।

यहाँ वेद मृग है। अन्य ग्रन्थों में है—"मुद्रा, पाश, मृग और अक्षसूत्र से सुशोभित हाथ और चन्द्रमा की प्रभावाले इस एक-से प्रकरण में स्पष्ट रूप से कहा गया है।"

अन्यत्र भी वेद को मृग कहा गया है :

"कुठारवेदाङ्कुशपाशशूलकपालढक्काक्षगुणान् दधानः ।

चतुर्मुखो नीलरुचिस्त्रिनेत्रः पायादघोरो दिशि दक्षिणस्याम् ॥"[2]

"परशु, वेद, अंकुश, पाश, शूल, कपाल, ढक्का और अक्ष-सूत्र को धारण किये हुए, चार मुख, तीन नेत्र और नील वर्णवाले अघोर दक्षिण ओर मेरी रक्षा करें।"

"वेदाभयेष्टाङ्कुशपाशटङ्ककपालढक्काक्षकशूलपाणिः ।

सितद्युतिः पञ्चमुखोऽवतान्मामीशानमूर्ध्वं परमप्रकाशः ॥"[3]

"वेद, अभय, वर, अंकुश, पाश, टंक, कपाल, ढक्का, अक्ष और शूल हाथ में लिये हुए, उज्ज्वल वर्ण, पाँच मुखवाले, परम प्रकाशवान् ईशान, ऊर्ध्व की रक्षा करें।"

यहाँ बार-बार मृग का नाम न देकर उसे 'वेद' कहा गया है। वेदमृग-कथा का सार यही मालूम होता है कि नास्तिक विधर्मियों के हाथ से शङ्कर ने वेद की रक्षा की।

चित् के स्पन्दन-स्वरूप होने के कारण, प्राणियों के श्वास की तरह, वेद शङ्कर की साँस अर्थात् उनसे अभिन्न है :

---

१. नटराजसहस्रनामभाष्य में 'मृगधर' (नाम-संख्या २६७) पर टीका।

२. शिवकवचस्तोत्रम्, श्लोक १२

३. तत्रैव, श्लोक १५

"यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥"[१]

"वेद जिसकी साँस हैं, वेदों से (वाक् से) जिन्होंने संसार का निर्माण किया, विद्या के आगार उस महेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।"

शिव के पञ्चमुखों के नाम हैं—सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान। इन्हें शिवलिंग पर बनाते समय सद्योजातादि चार मुख चारों ओर और पंचम ईशान को ऊपर नहीं बनाया जाता है। इनके अलग-अलग रूप और ध्यान हैं। अघोर और ईशान का ध्यान ऊपर दिया जा चुका है। अन्य तीन रूपों के ध्यान इस प्रकार हैं :

"प्रदीप्तविद्युत्कनकावभासो विद्यावराभीतिकुठारपाणिः ।
चतुर्मुखस्तत्पुरुषस्त्रिनेत्रः प्राच्यां स्थितं रक्षतु मामजस्रम् ॥"[२]

"चमकती हुई बिजली-जैसा स्वर्णवर्णवाले, हाथ में विद्या (वेद), वर, अभय और परशुवाले, चार मुख और तीन नेत्रवाले तत्पुरुष, जब मैं पूर्व दिशा में रहूँ, तो, मेरी रक्षा करें।

"कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकावभासो वेदाक्षमालावरदाभयाङ्कः ।
त्र्यक्षश्चतुर्वक्त्र उरुप्रभावः सद्योऽधिजातोऽवतु मां प्रतीच्याम् ॥"[३]

"कुन्द, इन्दु, शङ्ख और स्फटिक की तरह उज्ज्वल वर्णवाले, वेद, अक्षमाला, वरद और अभय चिह्नवाले, तीन नेत्र, चार मुख और महाप्रभावशाली सद्योजात पश्चिम दिशा में मेरी रक्षा करें।"

"वराक्षमालाभयटङ्कहस्तः सरोजकिञ्जल्कसमानवर्णः ।
त्रिलोचनश्चारुचतुर्मुखो मां पायादुदीच्यां दिशि वामदेवः ॥"[४]

"हाथों में वर, अक्षमाला, अभय और टंक (पत्थर छीलने की छेनी) वाले, कमल के केशर-जैसे वर्णवाले, तीन नेत्र और चार मुखवाले वामदेव उत्तर दिशा में मेरी रक्षा करें।"

शिव के ये पाँच नाम वेद की पाँच ऋचाओं के प्रथम शब्द हैं। शिव की पूजा में उन मन्त्रों का प्रयोग होता है :

स्नान—"सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः ।
भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥

गन्धदान—वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः ॥

धूप—अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्योऽघोरघोरतरेभ्यः ।
सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥

---

१. ऋग्वेद, सायणभाष्य की भूमिका का प्रारम्भ।
२. शिवकवचस्तोत्रम्, ११
३. तत्रैव, श्लोक १३
४. तत्रैव, श्लोक १४

विलेपन—तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।
अभिमन्त्रणम्—ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् ।
ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदाशिवोम् ॥

शङ्कर कभी मुण्डमाल, कभी रुण्डमाल और कभी रुद्राक्ष धारण करते हैं। यह विष्णु की वैजयन्तीमाला, बुद्ध के पद्ममाल और महाशक्तियों की मुण्डमाला की तरह पञ्चाशद्वर्ण-माला है, जो सृष्टि का प्रतीक है। इसलिए इनके नाम 'पञ्चाशद्वर्णरूपधृक्' और 'रुद्राक्षस्रङ्मयाकल्प' हैं।

मस्तक पर जटाओं में गङ्गा और चन्द्रमा हैं।
गङ्गा का नाम धर्मद्रवी अर्थात् धर्म का तरलरूप।

"धर्मस्तु द्रवरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।
तद्गङ्गेति विख्याता शृणु स्तोत्रं वसुन्धरे।"[१]

"(वराह ने कहा)—वसुन्धरे ! स्तोत्र सुनो। पुराकाल में ब्रह्मा ने तरलरूप में धर्म का निर्माण किया। इसी का नाम गङ्गा पड़ा।" तरलरूप में धर्म ही अमृत-तत्त्व है। यह विष्णु के चरण से निकलता है, ब्रह्मा के कमण्डल, शिव की जटा, बुद्ध के अमृत-कलश और शक्ति के कपाल-पात्र तथा उपनिषत् की ब्रह्मविद्या में इसका निवास है। चन्द्रमा अमृत (महानन्द)-स्रावी चिदानन्द है, जो सृष्टि-कल्पना का मूल है।

इनका वाहन वृषभ है। यह विश्व के रूप में साकार ब्रह्म को धारण करनेवाली ब्रह्म की अपनी शक्ति धर्म है। वेद में परम ब्रह्म यज्ञपुरुष की कल्पना वृषभ-रूप में की गई है :

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥"[2]

"चार शृङ्ग, तीन पैर, दो शिर और सात हाथवाले, तीन स्थानों में बँधे हुए और गरजते हुए वृषभ के रूप में महान् देव ने मर्त्यों में प्रवेश किया।"

निरुक्त के अनुसार ये अङ्ग-प्रत्यङ्गादि क्रमशः चार वेद, तीन स्वर, दो अयन, सात छन्द, और मन्त्र-ब्राह्मण-कल्प हैं।

धर्म के वृषभ-रूप के विषय में पुराणादि एकमत हैं :

"सूत उवाच—तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्।
दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम्॥
वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्।
वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम्॥
गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदा हताम्।
पप्रच्छ रथमारूढः॥

---

१. वाराहपुराणस्थ गङ्गास्तव, २
२. ऋग्वेद, ४.५८.३

त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदाचरन् ।
वृषरूपेण किं कश्चिद्देवो नः परिखेदयन् ॥
धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ॥
तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः ।
अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥
इदानीं धर्मपादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ॥
वृषस्य नष्टांस्त्रीन्पादांस्तपः शौचं दयामिति ।
प्रतिसन्दध आश्वास्य महीं च समवर्द्धयत् ॥"[1]

"सूत ने कहा—वहाँ राजा (परीक्षित) ने गोमिथुन को अनाथ की तरह मार खाते और राजा की तरह वेष-भूषावाले शूद्र को हाथ में लाठी लिये हुए देखा। डर के मारे मूतस्राव करते हुए और शूद्र की लात खाकर कष्ट से काँपते हुए मृणालधवल वृषभ को और बार-बार शूद्र के पैरों से आहत, धर्म का दूध देनेवाली गाय को रथ पर से ही पूछा—"हे मृणालधवल! आपके पाँव नहीं हैं। आप केवल एक पैर से चल रहे हैं। वृष-रूप में आप क्या कोई देवता हैं, जो मुझे खिन्न कर रहे हैं? हे धर्मज्ञ! आप धर्म की बातें कर रहे हैं। वृषरूपधारी आप धर्म हैं। तप, शौच, दया और सत्य—आपके ये चार चरण कहे गये हैं। गर्व के मदवाले अधर्म के अंश से आपके तीन पैर टूट गये हैं। कलि, धर्म से घृणा कर रहा है। वृष के तीन चरण—तप, शौच और दया, जो नष्ट हो गये थे, उन्हें स्थापित कर संसार को बढ़ाया।"

धर्म (वृष) के चार चरणों की अनेक प्रसंगों पर चर्चा की गई है :

"धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्त्तते ।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्द्धता ॥[2]

विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च ॥"[3]

"कृतयुग में चार चरणवाला धर्म मनुष्यों के साथ था। वही धर्म बढ़ते हुए अधर्म के कारण एक-एक चरण खोता जाता है।

"विद्या, दान, तप और सत्य धर्म के चरण हैं।"

श्रीनटराजसहस्रनामभाष्य में शिव के वृषध्वज नाम पर भाष्य में ग्रन्थकार ने लिखा है :

"अस्य च वृषस्य धर्मरूपत्वं विष्णुरूपत्वं च सकलपुराणप्रसिद्धम्—
शुद्धस्फटिकसंकाशो धर्मरूपो वृषः स्मृतः ।
वन्दे धर्मवृषं वृषध्वजरथं तीर्थाश्रितांसं सदा ।
स्कान्देऽपि—तस्माद्धर्मः सदा शम्भोर्वृषरूपेण वाहनम् ।

---

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अध्याय १७, श्लोक १,२, ३, ४, ७, २२, २४, २५, ४२
२. तत्रैव, ३. ११. २१
३. तत्रैव, ३. १२. ४१

तदेवास्यासाधारणलाञ्छनमित्युक्त्वा धर्मप्रियत्वं सूचितम् । विष्णोर्वृषभरूपत्वं च लिङ्ग-पुराणे प्रसिद्धम् । त्रिपुरविजयप्रयाणावसरे भगवद्भाराक्षमतयाभग्नजङ्घेषु वेदाश्वेषु पततः रथस्य वृषभरूपेण विष्णुना धारितत्वेन तादृशरथारूढस्य परम्परया वृषभारूढत्वात् ।"[1]

"इस वृष के धर्मरूप और विष्णुरूप सभी पुराणों में प्रसिद्ध हैं। धर्मरूपी वृष को निर्मल स्फटिक-जैसा कहा गया है। कन्धे पर तीर्थवाले, वृषध्वज रथवाले और धर्मवृष-वाले (शिव) की मैं वन्दना करता हूँ।

"स्कन्दपुराण में भी है—इसलिए धर्म ही सर्वदा वृषरूप से शम्भु का वाहन है। इस प्रकार इनके इस असाधारण चिह्न की उक्ति द्वारा, इनका धर्मप्रियत्व सूचित किया गया है। विष्णु का वृषभरूप लिङ्गपुराण में प्रसिद्ध है। त्रिपुर-विजय के लिए प्रयाण करते समय, भगवान् शिव के भार को नहीं सह सकने के कारण वेदाश्वों की जंघा टूट जाने से रथ गिरने लगा। विष्णु ने वृषभरूप से उसको धारण किया। इस प्रकार के रथ पर आरूढ़ होने के कारण, परम्परा से ये वृषभारूढ़ हैं। शिवसहस्रनाम में इन्हें 'सिंहवाहन'[2] और श्रीनटराजसहस्रनाम में 'गरुडवाहन'[3] कहा गया है।"

धर्म अशेष कारण का पूर्णरूप और कभी खण्डावतार माना जाता है—"धर्म, विष्णु के एक खण्डावतार हैं। बृहद्धर्मपुराण में कहा गया है कि विश्व की रचना कर इसकी रक्षा के लिए ब्रह्मा किसी को ढूँढने लगे। उनके दक्षिण पार्श्व से, कुण्डलधारी श्वेत पुष्प स्रग्वी, और श्वेत चन्दनधारी कोई जीव उत्पन्न हुआ। उसके चार पैर थे और वह वृष-जैसा था। वह धर्म था। ब्रह्मा ने उसे धर्म (धारण करनेवाला) नाम दिया, उसे अपना ज्येष्ठ पुत्र बनाया और अपनी सृष्टि विश्व की रक्षा करने के लिए उसे नियुक्त किया। कृतयुग में धर्म के चार पैर थे, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलि में केवल एक। धर्म के पैर हैं—सत्य, दया, शान्ति, अहिंसा। संस्कृत में वृष शब्द का अर्थ, धर्म और बैल, दोनों ही हैं। इससे मालूम होता है, कल्पनाप्रवण हिन्दुओं ने वृष को धर्म के साथ मिला दिया। आदित्यपुराण के अनुसार धर्म का रंग श्वेत, मुख चार, पैर चार, परिधान श्वेत और उसे सर्वभूषण से भूषित होना चाहिए। एक दक्षिण हस्त में अक्षमाला हो, दूसरा मूर्तिमान् व्यवसाय के मस्तक पर हो। एक वाम हस्त में पुस्तक और अवशिष्ट वाम हस्त में एक पद्म हो और वह हाथ एक सुन्दर वृष के मस्तक पर हो।"[4]

---

१. नटराजसहस्रनामभाष्यम् (मद्रास, १९५१ ई०), भाग १, पृ० ७४

२. शाक्तप्रमोद (बम्बई, संवत् २००८), नाम-संख्या, ६८ सिंहगायनमः, ६८१ सिंहवाहनायनमः।

३. श्रीनटराजसहस्रनाम (मद्रास,१९५१ ई०), नाम-संख्या, ७९७ गरुडारूढः।

४. *Elements of Hindu Iconography* : T. A. Gopinath Rao, Madras, 1914; Vol. I, pt. I, p. 278

शिव के आठ प्रत्यक्ष रूप हैं[1]—पञ्चतत्त्व, चन्द्र, सूर्य और होता। इसलिए इनका नाम अष्टमूर्त्ति है। इनका नाम पशुपति भी है। वेद, उपनिषत् और पुराणों में प्राणिमात्र का नाम पशु है। इसलिए जगदीश पशुपति हैं :

"य ईशामीशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत द्विपदामिति।"[2]

"द्विपद और चतुष्पद पशुओं के ईश पशुपति हैं।"

"पशुपतिरहङ्काराविष्टः संसारी जीवः स एव पशुः। सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसम्पन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः। के पशव इति पुनः स तमुवाच जीवाः पशव उक्ताः। तत्पतित्वात्पशुपतिः। स पुनस्तं होवाच कथं जीवा पशव इति। कथं तत्पतिरिति। स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमाना गवादयः पशवः। यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपतिः॥"[3]

"पशुपति। अहंकार से घिरा हुआ संसारी जीव, वही पशु है। सर्वज्ञ, पञ्चकृत्य-सम्पन्न, सर्वेश्वर, ईश, पशुपति हैं। कौन पशु है, यह फिर (पूछे जाने पर) उसने उसे कहा—जीवों को पशु कहा गया है। उनके स्वामित्व के कारण ये पशुपति हैं। उसने फिर उससे कहा—जीव क्यों पशु हैं, क्यों उनका पति है। उसने उससे कहा—जिस प्रकार तृणभोजी, विवेकहीन, दूसरों से काम में लाये जानेवाले खेती-बारी के काम में लगे हुए सब प्रकार के दुःख सहनेवाले अपने स्वामियों से बाँधे जानेवाले गो इत्यादि पशु हैं और उनके स्वामी भी हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ ईश पशुपति हैं।"

"ब्रह्माद्याःस्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः।
तेषां पतित्वाद्विश्वेशः भवः पशुपतिः स्मृतः॥"

"ब्रह्मा से लेकर नहीं चलनेवाली वस्तुओं तक (सभी) पशु हैं। उनका पति होने के कारण विश्वेश भव पशुपति कहे जाते हैं।"

तमःप्रधान जीवों को भी पशु कहा गया है :

"पश्वादयस्ते विख्यातास्तमःप्राया ह्यवेदिनः।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः॥"[4]

"जिनमें तम की अधिकता से वेदना (समझ-बूझ) नहीं है, केवल चेतन-मात्र रहकर घोर अज्ञान में पड़े रहते हैं और कुमार्ग पर चलते रहते हैं, वे ही पशु नाम से प्रसिद्ध हैं। शिव उनके भी त्राता हैं, इसलिए पशुपति हैं।"

इनका नाम नीलकण्ठ है। समुद्र-मन्थन के बाद भयंकर विष हलाहल सारी सृष्टि में भर गया और सृष्टि का संहार होने लगा। इसकी रक्षा के लिए भगवान् ने सारा विष

---

१. भूतार्कचन्द्रयज्वानो मूर्त्तय अष्ट प्रकीर्त्तिताः।

२. नटराजसहस्रनामभाष्य (मद्रास, १९५१ ई०) में नाम-संख्या ५४३, 'पशुपति' पर टीका में उद्धृत।

३. जाबाल्युपनिषत्

४. विष्णुपुराण, १. ५०९

समेटकर कण्ठ में धारण कर लिया और सबकी रक्षा की। इसलिए इनका कण्ठ नीला हो गया। वेदानुसार जीवन यज्ञ है, जीवन समुद्र है। इसके मन्थन से मोह और घोर कष्ट उत्पन्न होता है। यही हलाहल है, जिसे भगवान् पीते रहते हैं। यह भगवान् नीलकण्ठ के कल्याणमय रूप और भक्तवत्सलता का चिह्न है।

शिव का नाम त्रिपुरारि है। ऐतरेय ब्राह्मण (१.४.६) में लिखा है कि देवासुर-संग्राम में असुरों ने द्यौ, आकाश और पृथ्वी के तीन पुर (दुर्ग) बना लिये, जो क्रमशः सोने, चाँदी और लोहे के थे। छान्दोग्योपनिषत् में वर्णित लोहित, शुक्ल और कृष्ण का त्रिवृत्त है। ये स्पष्टतः रज, सत्त्व और तम के द्योतक हैं। त्रिपुर के, सोने, चाँदी और लोहे के बने हुए त्रिपुर, त्रिगुण से उत्पन्न और उनमें निवास करनेवाला महामोह अर्थात् अविद्या है। शिव ने विष्णु, वेद, चन्द्र, सूर्यादि ज्ञानप्रद और मोहनाशक उपादानों से त्रिपुर (अविद्या) का संहार किया। पुष्पदन्त ने संक्षेप में इसका सुन्दर वर्णन दिया है :

"रथःक्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति।"

"पृथ्वी रथ बनी, इन्द्र सारथि, हिमालय धनुष, चन्द्रमा और सूर्य रथ के पहिये और विष्णु बाण बने।" इस प्रकार त्रिपुर का संहार हुआ और जिज्ञासु भक्तों के त्रिपुर का नित्य संहार होता रहता है।

पुराणों में इसी विषय को अनेक रोचक कथानकों के रूप में दिया गया है। गजासुर और अन्धकासुर की कथा भी इसीका रूपान्तर है। हाथी के रूप में एक सर्वध्वंसी भयङ्कर राक्षस उत्पन्न हुआ। भगवान् शिव ने काशी में उसका संहार किया। सभी सुखी और प्रसन्न हुए। भगवान् ने उसकी खाल हाथों पर लेकर नृत्य किया।[१]

अन्धकासुर हिरण्याक्ष का बेटा था। हिरण्याक्ष को मूर्त्तिमन्त अनैश्वर्य कहा गया है :

"मूर्त्तिमन्तमनैश्वर्यं हिरण्याक्षं विदुर्बुधाः।
ऐश्वर्येणाविनाशेन स निरस्तोऽरिमर्दनः॥"[२]

"मूर्त्तिमान् अनैश्वर्य को बुद्धिमान् लोग हिरण्याक्ष कहते हैं। हे अरिमर्दन ! अविनाशी ऐश्वर्य के द्वारा उसका नाश हुआ।"

उसका बेटा अन्धक अर्थात् विचार-शक्ति और ज्ञान को अन्धा कर देनेवाला महामोह है, जिसका शिव सर्वदा नाश करते रहते हैं। यह मोह रक्तबीज की तरह बढ़ता रहता है, सरलता से नष्ट नहीं होता। महामोह अर्थात् अविद्या का नाम ही अन्ध है :

"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥"[३]

---

१. जगद्रक्षायै त्वं नटसि (शिवमहिम्नःस्तोत्रम्)।

२. प्रतिमालक्षण, पृ० ३०

३. विष्णुपुराण, १. ५. ५

"पाँच गुत्थियोंवाली अविद्या के नाम हैं—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध। महात्मा से इसकी उत्पत्ति हुई।" अन्धकासुर के संहार का अर्थ है—तत्त्वज्ञान के विरोधी और प्रबल विघ्न अविद्या का नाश।

इस सम्बन्ध में गोपीनाथ राव का मत भी मननीय है :

"वराहपुराण के अनुसार उपर्युक्त अन्धकासुर और मातृकाओं की कथा एक अलंकृत उक्ति है। यह अविद्या के साथ आत्मविद्या के युद्ध का निदर्शन है। 'यह सब कुछ मैंने तुम्हें आत्मविद्यामृत के विषय में कहा।' शिव-रूप में विद्या अन्धकासुर-रूपी अविद्या से युद्ध करती है। विद्या जितना ही इसपर आक्रमण करती है, कुछ समय तक अविद्या उतनी ही बढ़ती जाती है। अन्धकासुर के रूपों की संख्या का बढ़ना इसीका निदर्शन है। जबतक हृदय के काम, क्रोधादि विकार पूर्णतः विद्या के वश में नहीं आ जाते, तबतक अन्धकार का नाश नहीं हो सकता।"[1]

अविनाशी सर्वात्मा का यही शिवस्वरूप है।

नटराज

'नटराजसहस्रनाम' में शिव को प्रौढनर्त्तनलम्पट, महानटनलम्पट आदि कहा गया है। जगत् का आदिकारण विभु की इच्छा और क्रिया ही उसका निरन्तर नृत्य है। 'पुष्पदन्त' ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है :

"मही पादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौःस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता॥"[2]

"तुम्हारे पादाघात से पृथ्वी सहसा संकट में पड़ जाती है। परिघ की तरह (परिपुष्ट) भुजाओं के घूमने से, जिस आकाश में ग्रहगण घूमते रहते हैं, वे भी पीड़ित हो उठते हैं और आकाश भी संकट में पड़ जाता है। बारम्बार तटों पर जटाओं का आघात लगने से द्युलोक की भी दुरवस्था हो जाती है। आप जगत् की रक्षा के लिए नृत्य करते हैं। आपकी प्रतिकूल क्रिया भी वैभव बन जाती है।"

शङ्कर का नृत्य ही सृष्टिविधान है और इसकी निवृत्ति प्रलय है। जगत् की रक्षा के लिए ये नित्य सन्ध्या समय नृत्य किया करते हैं। उस समय सभी देव, यक्ष, रक्ष आदि इनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं और एक शङ्कर की पूजा से सबकी पूजा हो जाती है :

"कैलासशैलभुवने त्रिजगज्जनित्रीं
गौरीं निवेश्य कनकाचितरत्नपीठे।
नृत्यं विधातुमभिवाञ्छति शूलपाणौ
देवाः प्रदोषसमयेऽनुभजन्ति सर्वे॥"

१. *Elements of Hindu Iconography*, Vol. II

२. शिवमहिम्नःस्तोत्रम्, श्लोक १६

"वाग्देवी धृतवल्लकी शतमखो वेणुं दधत्पद्मज-
स्तालोन्निद्रकरो रमा भगवती गेयप्रयोगान्विता ।
विष्णुः सान्द्रमृदङ्गवादनपटुर्देवाः समन्तात्स्थिताः
सेवन्ते तमनु प्रदोषसमये देवं मृडानीपतिम् ॥

गन्धर्वयक्षपतगोरगसिद्धसाध्य—
विद्याधरामरवराप्सरसां गणाश्च ।
येऽन्ये त्रिलोकनिलयाः सह भूतवर्गाः
प्राप्ते प्रदोषसमयेऽनुभजन्ति सर्वे ॥

अतः प्रदोषे शिव एक एव पूज्योऽथ नान्यो हरिपद्मजाद्याः ।
तस्मिन् महेशे विधिनेज्यमाने सर्वे प्रसीदन्ति सुराधिनाथाः ॥"[1]

"कैलास-पर्वत-प्रान्त पर जगदम्बिका गौरी को रत्नखचित सिंहासन पर बैठाकर शूल-पाणि जब सन्ध्या समय नृत्य करने की अभिलाषा करते हैं, तब सभी देवगण उनकी सेवा में उपस्थित हो जाते हैं। वाग्देवी हाथ में वीणा और इन्द्र वेणु ले लेते हैं। ब्रह्मा हाथों से तालों को जगाते हैं। भगवती रमा गाने में संलग्न हो जाती हैं। विष्णु स्निग्ध मृदंग-वादन में पटुता दिखलाने लगते हैं। प्रदोषकाल में मृडानीपति को घेरकर खड़े होकर देवगण उनकी सेवा में उपस्थित हो जाते हैं ॥"

तीनों लोकों में निवास करनेवाले गन्धर्व, यक्ष, पतग, उरंग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, अमर, अप्सराएँ, भूतादि जितने हैं, प्रदोषकाल होते ही हर के पार्श्व में जाकर खड़े हो जाते हैं। अतः प्रदोषकाल में शिव को पूजना चाहिए—किसी दूसरे को या हरि ब्रह्मादि को नहीं। उन महेश के विधिपूर्वक पूजे जाने पर सभी प्रधान देवगण प्रसन्न हो जाते हैं।

"कैलासे च प्रदोषे नटति पुरहरे देवदैत्याभिवन्द्ये
पश्यन्त्यां शैलपुत्र्यां नटनमतिमुदा स्वर्वधूसंयुतायाम् ।
ब्रह्मा तालं च वेणुं कलयति मघवा मर्दलं चक्रपाणि-
र्धित्तां धित्तां धिमित्रां धिमि धिमि धिमितां धिंधिमो धिंधिमोति ॥"[2]

"देवदैत्यादि के पूज्य पुरहर प्रदोषकाल में जब कैलास पर नृत्य करने लगते हैं, तब स्वर्ग की सुन्दरियों के साथ शैलजा बड़े आनन्द से नृत्य को देखती हैं। ब्रह्मा ताल देते हैं, इन्द्र वेणु बजाते हैं और चक्रपाणि धित्तां धित्तां-आदि ताल देकर मृदंग बजाते हैं।

"प्रपञ्चसृष्ट्युन्मुखलास्यकार्यै
समस्तसंहारकताण्डवाय ।
जगज्जनन्यै जगदेकपित्रे
नमः शिवायै च नमः शिवाय ॥"[3]

---

१. प्रदोषस्तोत्रम्

२. नटराजसहस्रनाम, ४२वें नाम की टीका में उद्धृत।

३. अर्धनारीश्वर नटेश्वरस्तोत्रम्, श्लोक ७

"जगत् की सृष्टि का प्रवर्त्तन करने के लिए जो लास्य नृत्य करती हैं, और समस्त संहार के लिए जो ताण्डव नृत्य करते हैं, उन जगज्जननी और जगत्पिता शिवा और शिव को प्रणाम।"

एक दिन नृत्य के अन्त में भगवान् ने चौदह बार डमरू बजाया। उससे चौदह शिव-सूत्र निकले। इन्हीं माहेश्वर सूत्रों से समूचा शब्दशास्त्र बना।[1] यह परमब्रह्म के शब्दरूप में आत्मविस्तार का प्रतीक है। शिव नृत्त[2] हैं। शिव नृत्यमय हैं। यह उनका स्वानन्द है। शिव-शिवा नृत्यमय हैं। ये दोनों ही नाट्य और संगीत के आदि-प्रवर्त्तक हैं।

ब्रह्म के दो रूप हैं—निष्क्रिय और सक्रिय। अशेष कारणरूप में यह निष्क्रिय है, कूटस्थ है। जब इसमें स्वभाव से स्पन्दन या क्षोभ उत्पन्न होता है, तब यह सक्रिय ब्रह्म कहलाता है। यह मूलस्पन्द या मूलक्षोभ ही विभु का नृत्य है।

निष्क्रिय ब्रह्म शिव है और सक्रिय ब्रह्म माया है; किन्तु प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और संहाररूपी नृत्त में, निष्क्रिय और सक्रिय में कोई भेद नहीं रह जाता। निष्क्रिय सक्रिय और सक्रिय निष्क्रिय बन जाता है। कभी पार्वती द्रष्टा बन जाती हैं और शिव नृत्य करते हैं। कभी शिव द्रष्टा बनते हैं और पार्वती नृत्य करती हैं। कभी तो दोनों का ही सम्मिलित नृत्त होता है। सृष्टि का प्रवर्त्तन, शिवा का नृत्य लास्य (कोमल नृत्य) और इसका निवर्त्तन शिव का ताण्डव (उद्धत नृत्य) कहा जाता है; किन्तु यह यथार्थ में ब्रह्म के स्व-भाव, उनकी नित्य इच्छा, नित्य क्रिया अर्थात् नित्य आनन्द का कल्लोल है।

नटेश, नटेश्वर या नटराज की मूर्त्ति और चित्रों की कल्पना नाना प्रकार से की जाती है और पुराण, स्तोत्र तथा काव्यों में इसके नाना प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं। मन्दिरों और गुहाओं में इनके बहुत-से उत्कीर्ण और रँगे हुए चित्र तथा मूर्त्तियाँ मिलती हैं। असम प्रदेश में 'कामाख्या' के मन्दिर में महाकाल की मूर्त्ति दीवार के साथ बनी हुई है। 'नालन्दा' की खुदाई में भी ऐसी मूर्त्ति मिली है। किन्तु, इन सबमें प्रसिद्ध दक्षिण-भारत के चिदम्बर की मूर्त्ति है।

नटराज की दो प्रकार की मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं—प्रभामण्डल-रहित और प्रभामण्डल-सहित।

प्रभामण्डल-रहित मूर्त्ति में शिवरूपी ब्रह्म के सभी प्रतीक वर्त्तमान हैं। प्रभु के आनन्दमय[3] वपु से ही क्रिया का प्रवर्त्तन होता है, जिससे सारी सृष्टि का उद्भव और उसमें

---

१. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

२. सुधीजन नृत्त, नृत्य और नाट्य में भेद मानते हैं। स्वाभाविक उल्लास से अङ्ग-विक्षेप का नाम नृत्त है। किसी भाव को प्रकट करने के लिए अङ्गहार का नाम नृत्य है। किसी निश्चित घटना या विषय को प्रकट करने में अङ्गचालन का नाम नाट्य है।

३. चिदानन्दमय देह तुम्हारी।
विगत विकार जान अधिकारी॥ —तुलसी

परिवर्त्तन होता रहता है। उस महा आनन्द में प्रभु आप-से-आप हिलते, डुलते, थिरकते अर्थात् नृत्त में निरत रहते हैं [१], जो विश्वव्यापी ताल, लय और संगीत बन जाता है। इनके मस्तक पर चन्द्रकला है, जो अमृतमय आनन्द का प्रतीक है। कभी जटाएँ खुली रहती हैं, कभी मस्तक पर जटा-मुकुट, कभी करण्ड-मुकुट और कभी किरीट-मुकुट रहता है। सर्प और कटि-वस्त्र के रूप में दिक्काल सेवा के लिए उपस्थित हैं। एक हाथ में वाक् या शब्दब्रह्म डमरू है, जिससे सृष्टि का प्रवर्त्तन होता है और जो रजोगुण का प्रतीक है। दूसरे हाथ में अग्नि है, जिससे ज्वाला की लपटें निकल रही हैं। यह संहरण-शक्ति का चिह्न और तमोगुण है। एक हाथ अभय-मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है, जो जीवमात्र को अभय-दान देता हुआ मानों कह रहा है : 'मा भैषीः' [२] 'डरो मत, मेरी कृपा तुम्हारे साथ है, मैं तुम्हारे साथ हूँ। प्रभु का बायाँ पैर उठा हुआ है और वरद हस्त इसकी ओर संकेत कर रहा है, मानों कह रहा है कि इसकी शरण में जा, यही तुम्हारा त्राता है। यह स्थिति का प्रतीक सत्त्वगुण है।

श्रीनटराजसहस्रनाम के 'कुञ्चितैकपदाम्बुजः' नाम पर टीका में टीकाकार ने लिखा है :

"तथा चोक्तं चिदम्बरमाहात्म्ये चतुर्विंशाध्याये—

मन्त्रान्महेश्वरो देवो महादेवो महानटः।
देवाच्छ्रेष्ठतमस्तस्य श्रीमान्ताण्डवभूषितः॥
भवाम्भोधिमहापोतः पादः पद्मारुणाच्छविः।
तस्य दर्शनमात्रेण सकृत्पापी च मुच्यते॥
किं पुनः सुकृती क्षेत्रवासी नित्यनिरीक्षकः॥"

"चिदम्बर माहात्म्य के चौबीसवें अध्याय में कहा है : मन्त्र से देव महेश्वर, महादेव, महानट श्रेष्ठ हैं। संसारसागर के महापोत, पद्म के समान अरुण छवियुक्त चरणवाले, ताण्डव में निरत श्रीमान् देव से श्रेष्ठ हैं। एक बार भी उनके दर्शन करने से पापी पाप से छूट जाता है! पुनः जो इस क्षेत्र के निवासी सुकर्मी नित्य दर्शन करनेवाले पुरुष हैं, उनका क्या कहना!"

प्रभु अपने दक्षिण चरण पर अपने शरीर का सारा भार डालकर उसके नीचे महामोह पुरुष, अर्थात् अविद्या, को दबाये हुए हैं, जिसमें अभियुक्त जनों को चरणों तक जाने में किसी प्रकार की बाधा न हो।

पैर के नीचेवाले पुरुष को अपस्मार पुरुष कहा गया है। अपस्मृति मनुष्य की ऐसी अवस्था का नाम है, जिसमें मनुष्य की बुद्धि काम नहीं करती हो, अर्थात् मोहग्रस्त।

---

१. प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रँग खेलत। —सूरदास

२. व्याकुल न हो कुछ भय नहीं, तुम सब अमृत सन्तान हो :
मैथिलीशरण गुप्त 'भारत-भारती'

'नटराजसहस्रनाम' में नटराज का एकादश नाम 'अपस्मृतिन्यस्तपादः' है। इसपर टीका इस प्रकार है :

"अपस्मृतिः अपस्मारः तस्मिन् न्यस्तः पादः येन सः अपस्मृतिन्यस्तपादः। अपस्मारो नाम रोगविशेषः। अपस्मर्यते पूर्ववृत्तं विस्मर्यत अनेन इति। अपपूर्वकात् स्मृति चिन्तायाम् इति धातोः करणे घञ्। तस्य सामान्यरूपं तु—

तमः प्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः॥

दारुकावने मुनिकृताभिचारकर्मणि अग्नेरुत्पन्नः अयमपस्मारः। तं चरणेनाधःकृतवान् परमेश्वरः। तदुक्तं सूतसंहितायां मुक्तिखण्डे अष्टमाध्याये—

कृपयं वात्ममायोत्थघोरापस्मारसंस्थितः।
स्वस्वरूपमहानन्दप्रकाशाप्रच्युतो हरः॥
प्रसन्नः सर्वविज्ञानमुपदेक्ष्यति सः प्रभुः॥

चिन्तामणिमहामन्त्रध्याने च—

दक्षपादाब्जविन्यासादधःकृततमोगुणः॥

अस्यैव भूत इति मुसलक इति तमोगुण इति च प्रसिद्धिः। तदुक्तं हेमसभानाथ-माहात्म्ये द्वितीयाध्याये—

"अग्नेर्हुतादुदीर्णस्य करिणः कालशासनः।
कृत्तिमुत्कृत्य रक्तार्द्रां कृत्वाधस्तोत्तरीयकम्॥
हत्वा तैः प्रेरितं व्याघ्रं परिधत्ते स्म तत्त्वचम्।
तन्मुक्तं मृगमुद्वृत्तं पाणौ विधृतवान् प्रभुः॥
उग्रं भुजङ्गं स्तत्सृष्टं रुद्रः स्वाङ्गान्यभूषयत्।
वधाय प्रेरितं विप्रैः पावकं पाणिभूषणम्॥
अथोदग्रमपस्मारं घोरं प्राप्तं तथा द्विजाः।
आक्रामन्तं स्वतन्त्रस्तमाचक्राम घृणानिधिः॥"[1]

"अपस्मृति अपस्मार है। उसपर जिन्होंने पैर रखा है, वे अपस्मृतिन्यस्तपाद हैं। एक प्रकार के रोग का नाम अपस्मार है। जिससे पूर्व की घटनाओं का अपस्मरण अर्थात् विस्मरण हो जाय। अप के साथ चिन्ता के अर्थ में, स्मृति की धातु में, करणार्थ में घञ् प्रत्यय है। उसका साधारण रूप इस प्रकार है : दोषों के उत्कट हो जाने से स्मृति नष्ट हो जाय और सभी कार्य अन्धकारमय हो जायँ, ऐसा घोर रोग अपस्मार है। यह चार प्रकार का है।

दारुकावन में मुनियों के किये हुए अभिचार-कर्म में अग्नि से उत्पन्न यह अपस्मार है। उसको परमेश्वर ने लात से नीचे लिटा दिया। यह 'सूतसंहिता' के मुक्तिखण्ड के

१. नटराजसहस्रनाम (मद्रास, १९५१ ई०), पृ०१६।

अष्टमाध्याय में कहा गया है : 'अपनी माया से बनाये हुए घोर अपस्मार के ऊपर, कृपा करके, प्रकाश और महानन्दरूप हर स्थित हैं। वही प्रभु प्रसन्न होकर सब प्रकार के विज्ञान का उपदेश करेंगे।'

चिन्तामणि-महामन्त्र के ध्यान में भी :

दाहिने चरणकमल को रखकर तमोगुण को नीचे दबा दिया है। यही भूत, मुसलक और तमोगुण के नाम से प्रसिद्ध है। 'हेमसभानाथ-माहात्म्य' के द्वितीय अध्याय में कहा है :

"प्रभु कालशासन (शिव) ने होमाग्नि से उत्पन्न हाथी का चमड़ा छुड़ाकर, रक्त से लिप्त (उस चर्म को) धारण किया। उनके भेजे हुए बाघ को भी मारकर उसका चर्म धारण किया और उन (व्याघ्रों) से मुक्त मृग को उठाकर हाथ में रख लिया। उनके भेजे हुए भयङ्कर सर्पों से अङ्गों को सजा लिया और हत्या के लिए भेजे हुए अग्नि को हाथ का भूषण बनाया। प्रचण्ड तथा भयङ्कर अपस्मार ने जब आक्रमण किया, तब दयानिधि ने उसके ऊपर पैर रख दिया।"

दर्शन-शास्त्रों, उपासना-पद्धतियों और साधना-प्रणालियों में इस अविद्या या मोह की नाना प्रकार से कल्पना की गई है और उसे दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई है। उपनिषत् में इसे सोने का थाल कहा गया है और भगवत्प्राप्ति के लिए इसे दूर करने की प्रार्थना की गई है :

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥"[1]

"सोने के थाल से सत्य का मुख ढँका हुआ है। हे पूषन्! आप उसे हटा दीजिए, जिसमें सत्यधर्म दिखाई पड़े।"

उपनिषत् की भाषा में इस सोने के थाल के नाम अविद्या, मोह, प्रेय इत्यादि हैं। इससे लिपटकर 'अयं निजः अयं परः' (यह अपना है, यह पराया है) के फेर में जीव बहिर्मुख बना रहता है और विषय-वासना में लिप्त होकर विद्या, ज्ञान, श्रेय इत्यादि से दूर पड़ा रहता है।

वैष्णव भक्त और कवियों ने इसकी अनेक कल्पनाएँ की हैं। यह गोपियों का चीर है, जिसके हट जाने से ब्रह्म और जीव के बीच का सोने का थाल हट जाता है और जीव भगवत्-शरणापन्न हो जाता है। कबीर और विद्यापति इसे घूँघट का पट और सूर इसे कृष्ण का कम्बल कहते हैं। तुलसी ने सीधी भाषा में, इसे 'भक्त मन की कुटिलाई' कहा है। नटवर भक्त जीवों का चीर-हरण कर लेते हैं और नटराज इसे पैर के नीचे दबाकर, अपने चरणों तक जाने के लिए, जिज्ञासु जीवों का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषत्, ५. १४. १

नटराज की जटा में नर-कपाल और चन्द्रमा हैं। ये दोनों ही अमृत के प्रतीक हैं। ये ही ब्रह्मा का कमण्डल और बुद्ध का अमृत-घट हैं और इसीकी गङ्गाधारा विष्णु के चरणों से बहती रहती है।

एक कान में स्त्री का गोल कुण्डल और दूसरे में पुरुष का कर्णाभूषण है। यह अर्धनारीश्वरत्व का प्रतीक है।

नटराज की मूर्त्ति में प्रभामण्डल रहता है। यह पाँच-पाँच स्फुलिङ्गवाली ज्वालाओं से घिरा रहता है। यह माया-चक्र है। ब्रह्म अपने चरण और हाथों के स्पर्श से इसे अनुप्राणित कर प्रेरित कर देते हैं और इसकी क्रियाओं (सृष्टि) का नृत्य होने लगता है—अर्थात् अपने आनन्द में जब ब्रह्म की अपनी इच्छा और क्रियाशक्ति का स्फुरण होने लगता है, तब मायाशक्ति (इच्छा और क्रिया) क्रियावती हो उठती है, और महदादि से मन, अहंकार, तन्मात्रा, पञ्चतत्त्व आदि तक की लीलाएँ होने लगती हैं। माया के इस विलास में, सूक्ष्म शक्तियों का सबसे स्थूल रूप पञ्चतत्त्वों के प्रतीक ये पञ्चस्फुलिङ्गवाली ज्वालाएँ हैं। ब्रह्म जब अपने हस्तपादादि के स्पर्श से माया में प्रेरणा भर देता है, तब माया पञ्चभूतात्मक सृष्टि के रूप में प्रकट होती है।

नादान्त नृत्य में, उत्थित वामपाद के रूप में ही, नटराज की मूर्त्ति पाई जाती है, किन्तु चतुर नृत्य में इनके दोनों ही पैर अज्ञान-पुरुष पर नृत्य करते रहते हैं। नृत्यकला के ऊपर ये मुद्राएँ निर्भर करती हैं। महामोह के ऊपर नृत्य करती हुई महाशक्ति की मूर्त्तियाँ भी पाई जाती हैं। इन मूर्त्तियों में यह नृत्य कभी पुरुषमूर्त्ति पर और कभी महिष पर दिखलाया जाता है। इन मूर्त्तियों में बाह्य भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु अन्तर्गत सिद्धान्त एक है।

प्रभु की आँखें बन्द हैं; क्योंकि आनन्द से आत्मविभोर होकर वे यह लीला या नृत्य किया करते हैं।

मोह पर नृत्य का दार्शनिक अर्थ भी स्पष्ट है कि अज्ञान पर यह संसार चलता है। जैसे—अज्ञान के कारण लोग चोर और डकैत होते हैं; इनके लिए पुलिस, थाना, कचहरी, वकील, जेल इत्यादि हैं, उनके लिए स्कूल, कॉलेज, छात्रावास, होटल, बाजार आदि हैं। यदि अज्ञानी, ज्ञानी बनकर, चोरी-डकैती को, नीच कर्म समझकर छोड़ दें, तो ये सब भी लुप्त हो जायँ। इसी प्रकार प्रपंच की और क्रियाओं को भी समझना चाहिए। यही काली का काला रंग और खुले हुए केश हैं।

ब्रह्म और माया, चन्द्र और चन्द्रिका की तरह, एक, अखण्डित और अभिन्न हैं। इसलिए जब ब्रह्म को पुरुषरूप में दिखाया जाता है, तब इसका आधा अङ्ग नारीरूप में दिखलाया जाता है। यह निश्चित सिद्धान्त है। नृत्य-मूर्त्तियों में तथा अन्यत्र भी नर-नारी के प्रतीक एक साथ दिखाये जाते हैं। जैसी ऊपर चर्चा हो चुकी है, कर्णाभूषणों में यह प्रतीक है। शिवमूर्त्ति में वामकर्ण में नारी का आभूषण और दक्षिण में पुरुष का कुण्डल रहता है। प्रभामण्डलवाली मूर्त्ति में प्रभामण्डल शिव की शक्ति या मायाशक्ति है। केवल

पुरुषरूप में बाईं ओर आधा अङ्ग स्त्री का और दाहिनी ओर आधा पुरुष का रहता है। जब शिव-शिवा की, नर-नारी-रूप में अलग-अलग दो भिन्न मूर्त्तियों में कल्पना की जाती है तब भी उनके नाम, रूप, गुण, चरित्रादि द्वारा उनकी अभिन्नता दिखलाई जाती है। शिवलिङ्ग के रूप में जब शिव की कल्पना की जाती है, तब यही मायाचक्र, पट्ट या वेदी के रूप में दिखलाया जाता है।

ब्रह्मस्वरूप सभी देवताओं की प्रभामण्डलवाली मूर्त्तियाँ होनी चाहिए और होती भी हैं।[१]

विष्णु की भी प्रभामण्डलवाली प्रतिमा का विधान है। यह योगियों की प्रिय और मोक्षदायक मानी जाती है :

"एका मूर्तिरनुद्देश्या शुक्लां पश्यन्ति तां बुधाः।
ज्वालमालावनद्धाङ्गी निष्ठा सा योगिनां परा॥"[१]

"(विष्णु की) एक मूर्त्ति का पता नहीं लगता। बुद्धिमान् लोगों को यह उज्ज्वल वर्ण की दिखाई पड़ती है। यह ज्वाला की माला से घिरी रहती है। यह योगियों की चरम श्रद्धा-स्वरूप है।"

मानव-बुद्धि, कल्पना और कला का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इन कल्पनाओं के बाद, यह कलाकारों की प्रतिभा और शक्ति पर आश्रित है कि वे कैसी मूर्त्ति का निर्माण या कैसे चित्र को अङ्कित करेंगे। भारतीय कलाकारों ने इसमें सारी शक्ति लगा दी है। पौराणिकों और कथाकारों ने अपने संस्कारानुकूल कितनी शोभन और अशोभन कथाएँ गढ़ डालीं, मूर्त्तिकारों और चित्रकारों ने अद्भुत कला की सृष्टि की, कवियों ने काव्य और नाटकों के ढेर लगा दिये, और भक्तों ने श्रद्धा से प्रेरित होकर भारत के असंख्य स्थानों की परिक्रमा की। आज उत्तर में कैलास-मानसरोवर से लेकर दक्षिण में पोलोन्नारुव (श्रीलंका) तक और पश्चिम में द्वारका से लेकर पूर्व में मणिपुर तक कितने स्थानों में और कितने रूपों में शिव-शवा की आराधना होती है, यह कहना असम्भव है। योगिजनों ने इन्हें हृदय में देखा और 'शिवोऽहं' कहने में परमानन्द प्राप्त किया, भोगियों ने इनसे भोग पाया और साधकों ने इन रूपों में गुरु पाये। देव, असुर, यक्ष, किन्नर, नाग, पुरुष, स्त्री, महर्षि, शूद्र आदि सबने समान श्रद्धा से इनकी आराधना की। गाँव-गाँव में लोगों ने इनकी स्तुति और प्रशंसा में गीत बनाये, और सारा भारत शिवमय हो उठा।

नटराज के नृत्य के सम्बन्ध में इतने प्रकार के नृत्य का पता लगता है—नृत्त, चतुर-नृत्य, तालसम्फोटित, भङ्गिनाट्य, भ्रमरायित नाट्य, उद्दण्ड ताण्डव, चण्डताण्डव, ऊर्ध्व-ताण्डव, सव्यताण्डव, महाताण्डव, परमानन्द-ताण्डव, महाप्रलय-ताण्डव, महोग्र ताण्डव, परिभ्रमण-ताण्डव और प्रचण्ड ताण्डव।

लास्य के भेद—गेय पद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढ, उत्तमोत्तम, अन्यदुक्त, प्रत्युक्त, चर्चरी, दैशिक इत्यादि।

---

१. यह चित्रों से स्पष्ट होगा।

दक्षिणापथ में शिवमन्दिरों का नृत्य प्रसिद्ध है। कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर के नृत्य का विवरण दिया है। मिथिला में अब भी लोग रुद्राक्ष-त्रिशूल धारण कर शिवमन्दिर में नृत्य किया करते हैं। इससे बोध होता है कि नृत्य द्वारा नटेश की आराधना भारत में सर्वत्र प्रचलित थी।

त्रिमूर्त्ति

वेद से लेकर सारे वैदिक वाङ्मय और पुराणादि में यही पाया जाता है कि एक ही तत्त्व नाना रूपों से सारी सृष्टि के रूप में वर्त्तमान है। केवल अज्ञानी लोग अपने अज्ञान के कारण नाना रूपों को नाना तत्त्व मान लेते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥[1]

"तत्त्वज्ञ लोग एक सत् को ही इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि, दिव्य, तेजोमय, शब्दवाला, अग्नि, यम और वायु (इत्यादि) कहते हैं।"

यो वा त्रिमूर्त्तिः परमः परश्च त्रिगुणं जुषाणः सकलं विधत्ते।
त्रिधा त्रिधा वा विदधे समस्तं त्रिधा त्रिरूपं सकलं धराय स्वाहा ॥[2]

"जो परम और पर (सबका कारण) तीन गुणों को लेकर त्रिमूर्त्ति के रूप में, तीन-तीन प्रकार से, तीन रूप धारण कर सबकी रचना करता है, उस साकार (सकल ब्रह्म) को प्रणाम।"

जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः।
ब्रह्मा भूत्वाऽस्य जगतो विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते ॥
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत् कल्पविकल्पना।
सत्त्वभृग् भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः ॥
तमोद्रेकी च कल्पान्ते रुद्ररूपी जनार्दनः।
मैत्रेयाखिलभूतानि भक्षयत्यतिभीषणः ॥
स भक्षयित्वा भूतानि जगत्येकार्णवीकृते।
नागपर्यङ्कशयने शेते च परमेश्वरः ॥
प्रबुद्धश्च पुनः सृष्टिं करोति ब्रह्मरूपधृक्
सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥
स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यश्च पाति च।
उपसंह्रियन्ते संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः ॥[3]

---

१. ऋग्वेद, १. १४६. ४६

२. अप्रकाशिता उपनिषदः (मद्रास, १९३३ ई०), परमात्मोपनिषत्, पृ० १०२, श्लोक ७

३. विष्णुपुराण (जीवानन्द, कलकत्ता), १. २. ५७—६३

'वहाँ स्वयं विश्वेश्वर हरि रजोगुण को लेकर, प्रलयकाल में, जगत् की रचना में प्रवृत्त होते हैं। सत्यभोगी, अनन्त विक्रमवाले भगवान् विष्णु, जबतक सृष्टि का लय नहीं हो जाता, तबतक युगानुयुगक्रम से पालते रहते हैं। हे मैत्रेय ! तम के उद्रेक से कल्प के अन्त में रुद्र के रूप में जनार्दन अत्यन्त भयङ्कर बनकर सभी तत्त्वों का भक्षण करते हैं। सभी तत्त्वों का भक्षण करके और जगत् को एकार्णव करके नागपर्यंक की शय्या पर परमेश्वर सोते हैं। जगने पर फिर ब्रह्मरूप धारण कर सृष्टि करते हैं। सृष्टि, रक्षा और संहार करने के कारण एक भगवान् जनार्दन ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव का नाम धारण करते हैं। स्वयं प्रभु अपने को स्रष्टा बनाकर सर्जन करते हैं, विष्णु बना कर पालन करते हैं और संहर्त्ता बनाकर समेट लेते हैं।"

ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।[1]

"हे ब्रह्मन् ! विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं।"

सृष्टिस्थितिविनाशानां कर्त्ता कर्तृपतिर्भवान्।
ब्रह्मविष्णुशिवाख्याभिरात्मर्मूत्तिभिरीश्वरः ॥[2]

"ब्रह्मा, विष्णु और शिव के नाम से, अपने रूपों से ही, आप सृष्टि, स्थिति और विनाश के कर्त्ता तथा क्रिया करनेवाली सभी शक्तियों के अधीश्वर हैं। आप स्वयं ईश्वर (समर्थ) हैं।"

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रमाणं शब्द उच्यते।
तत्रापि वैदिकः शब्दः प्रमाणं परमं मतः ॥
वेदेन गीयते यस्तु पुरुषः स परात्परः।
मूर्तोऽपरः स विज्ञेयो ह्यमूर्तः पर उच्यते ॥
योऽमूर्त्तः स परो ज्ञेयो ह्यपरो मूर्त उच्यते।
गुणाभिव्याप्तिभेदेन मूर्त्तोऽसौ त्रिविधो भवेत् ॥
ब्रह्माविष्णुः शिवश्चेति एक एव त्रिधोच्यते।
त्रयाणामपि देवानां वेद्यमेकं परंहि तत् ॥
एकस्य बहुधा व्याप्तिगुणकर्मविभेदतः।
लोकानामुपकारार्थमाकृतित्रितयं भवेत् ॥
यस्तत्त्वं वेत्ति परमं स च विद्वान् न चेतरः।
तत्र यो भेदमाचष्टे लिङ्गभेदी स उच्यते ॥[3]

"धर्मार्थकाममोक्ष का निश्चय करनेवाला (प्रमाण) शब्द है। उसमें भी वेद के शब्द परम प्रमाण हैं। वेद जिसका वर्णन करता है, वह पुरुष है, जो पर से भी पर

१. तत्रैव, १. २२. ५६

२. तत्रैव, १. ३०. १०

३. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना; शाके १८१७) १३०.७—१२

अर्थात् कारण का भी कारण है। पर का नाम अमृत है और अपर को मृत जानना चाहिए जो निराकार है, वह पर है और साकार का नाम मूर्त्त है। गुणों की व्याप्ति के भेद से यह साकार तीन प्रकार का होता है। एक को ही तीन प्रकार से कहा जाता है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। तीन देवों की भी वेद्य (जानने की) वस्तु वही है, जिसे 'तत्' और 'पर' कहते हैं। गुण और कर्म के भेद से एक ही नाना प्रकार से फैला हुआ है। लोकों के उपकार के लिए आकृतियाँ तीन प्रकार की हो जाती हैं। जो परम तत्त्व (सत्य) को जानता है, वही विद्वान् है, दूसरा नहीं। इसमें जो भेद मानता है, उसका नाम लिङ्गभेदी[1] है।"

एका तनुः स्मृता वेदे धर्मशास्त्रे पुरातने।
सांख्ययोगपरैर्वीरैः पृथक्त्वैकत्वदर्शिभिः॥
इदं परं इदं नेति ब्रुवन्तोऽभिन्नदर्शनाः।
ब्रह्माणं कारणं केचित् केचित् प्राहुः प्रजापतिम्॥
केचिच्छिवं परत्वेन प्राहुर्विष्णुं तथाऽपरे।
अविज्ञानेन संसक्ताः सक्ताः रत्यादिचेतसा॥
तत्त्वं कालं च देशं च कार्याण्यावेक्ष्य तत्त्वतः।
कारणं च स्मृता ह्येता नानार्थेष्विह देवताः॥
एकं निन्दन्ति यस्तेषां सर्वानेव स निन्दति।
एकं प्रशंसमानस्तु सर्वानेव प्रशंसति॥
एकं जो वेत्ति पुरुषं तमाहु ब्रह्मवादिनम्।
अद्वेषस्तु सदा कार्यो देवतासु विजानता॥
न शक्यमीश्वरं ज्ञातुमैश्वर्येण व्यवस्थितम्।
एकात्मा च त्रिधा भूत्वा सम्मोहयति यः प्रजाः॥
एतेषां च त्रयाणां तुः विचरन्त्यन्तरे जनाः॥[2]

"वेद और प्राचीन धर्मशास्त्र में एक ही रूप कहा गया है। भिन्नता में एकता देखनेवाले सांख्ययोग के वेत्ता वीरों ने भी यही कहा है। यह श्रेष्ठ है (परं) और यह नहीं, ऐसा कहनेवाले भिन्न रूपों को देखकर कोई ब्रह्मा को और कोई प्रजापति को कारण मानते हैं। अज्ञान में डूबे हुए और भोग-विलास में संसक्त लोग, कोई शिव को और कोई विष्णु को कारण मानते हैं। तत्त्व, काल, देश और कार्यों पर गम्भीरतापूर्वक (तत्त्वतः) विचार करके, इन देवताओं को नाना प्रकार के कार्यों का कारण कहा गया है। उनमें से एक की भी जो निन्दा करता है, वह सबकी निन्दा करता है। एक की प्रशंसा

१. इससे स्पष्ट है कि त्रिदेव का सम्मिलित रूप और एक परब्रह्म की मूर्त्तकल्पना शिवलिङ्ग या लिङ्ग-प्रतीक है।

२. वायुपुराण (आनन्दाश्रम, पूना; शाके १८२७)—६६.११०—११६

करनेवाला सबकी प्रशंसा करता है। जो केवल पुरुष[1] को (पर) जानता है, वही ब्रह्मवादी है। ज्ञानवान् को देवताओं से द्वेष नहीं करना चाहिए। ईश्वर अपनी शक्ति से स्थित है। उसे कोई जान नहीं सकता। वह अकेला होने पर भी तीन प्रकार (त्रिगुण) से सृष्टि को मोह में डाले रहता है। इन्हीं तीनों के भीतर सृष्टि घूमती रहती है ॥"

अयं हि विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितोऽन्यः ।
विरञ्चिविष्ण्वीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥[2]

"अपनी माया और गुण से प्रकाशित होकर यही एक विश्व के उद्भव और संयम (रूप सृष्टि) को धारण करता है। वह स्वतन्त्र परिपूर्ण आत्मा ब्रह्मा, विष्णु और ईश्वर का रूप है।"

कालिदास का भी यही मत है। तारकासुर के उत्पीड़न से दुःखी होकर देवगण ब्रह्मलोक गये। ब्रह्मा प्रकट हुए और अर्थयुक्त वाक् से उन्होंने वागीश की स्तुति की :

नमस्त्रिमूर्त्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥[3]

"त्रिमूर्त्ति ! आपको प्रणाम। सृष्टि के पूर्व आपका एक ही रूप रहता है। तीनों गुणों को अलग दिखलाने के लिए आपके भिन्न रूप होते हैं। प्रलय, स्थिति और सृष्टि का एक कारण आप ही हैं और आप तीन अवस्थाओं से अपने महत्त्व को प्रकट करते हैं।"

एकैव मूर्त्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचित् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥[4]

इसपर मल्लिनाथ की टीका इस प्रकार है :

एकैवेति। सैकेव मूर्त्तिस्त्रिधा ब्रह्मविष्णुशिवात्मकत्वेन बिभिदे। औपाधिकोऽयं भेदो न वास्तविक इत्यर्थ। अत एवैषां त्रयाणां प्रथमावरयोर्भावः प्रथमावरत्वं ज्येष्ठकनिष्ठभावः सामान्यं साधारणम्। इच्छया सर्वे ज्येष्ठा भवन्ति कनिष्ठाश्चेत्यर्थः। एतदेव विवृणोति— कदाचिद्धरो विष्णोराद्यः। कदाचिद्धरिस्तस्याद्यः। कदाचिद्वेधास्तयोर्हरिहरयोराद्यः। कदाचित्तौ हरिहरावपि धातु स्रष्टुराद्यौ। एतमेतेषां पौर्वापर्यमनियमितमिति दर्शितम् ॥

---

१. पुरुष का अर्थ है परमात्मा। इस शब्द का अनेक प्रकार से अर्थ किया जाता है। सबका भाव है—सर्वव्यापी। (क) 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः'—अमरकोष (प्रथम काण्ड, कालवर्ग—२९)। (ख) पुर अग्रगमन—कुषन्—आगे बढ़ने-बढ़ानेवाला, गतिशील। (ग) 'पुरि आप्यायने कुषन्' सबको आप्यायित करनेवाला। (घ) पुरि शरीरे शेते—शरीर के भीतर रहनेवाला।

२. अध्यात्मरामायण, बालकाण्ड, ५. ५०

३. कुमारसम्भव, २,४. ६

४. वही, ७. ४४

"यह एक ही। वह एक ही मूर्त्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव— इन तीनों रूपों में विभक्त हो गई। भाव है कि नाममात्र का यह भेद है, वास्तविक नहीं। इसलिए इन तीनों का पहिला और दूसरा होना अर्थात् ज्येष्ठ-कनिष्ठ का भाव समान अर्थात् साधारण है। अपनी रुचि से सभी ज्येष्ठ और कनिष्ठ हो जाते हैं। यही अर्थ है। इसी का विवरण देते हैं। कभी हर विष्णु के पहिले हैं, कभी हरि उनके पहिले हैं। कभी ब्रह्मा उन दोनों के पहिले हैं, कभी हरि और हर—दोनों धाता, अर्थात् स्रष्टा के पहिले हैं। इस प्रकार इनके पहिले और पीछे होने का कोई नियम नहीं है, यही दिखलाया गया है।"

'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में इसका विवरण और भी सरल एवं स्पष्ट शब्दों में दिया गया है :

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः॥[1]

"रजोगुण की बहुलता से विश्व की उत्पत्ति में भव को प्रणाम। तम की प्रबलता में उसके संहार में हर को प्रणाम। लोगों के सुख के लिए सत्त्व की अधिकता में मृड को प्रणाम। त्रिगुणातीत मायारहित रूप में शिव को प्रणाम।" इसीलिए त्रिमूर्त्ति की प्रतिमा या चित्र त्रिगुणात्मक ब्रह्म की भावना के आधार पर बनाये जाते हैं।

ब्रह्म, तीनों गुणों द्वारा एक साथ (अलग-अलग नहीं) विश्व में सृष्टि, स्थिति और लय की क्रिया चलाता रहता है। यह नहीं है कि रज के रहते सत्त्व और तम नहीं रहते, अथवा तम के रहते सत्त्व और रज लुप्त हो जाते हैं। इनकी क्रियाओं में केवल अधिकता और न्यूनता होती रहती है, और इनकी क्रियाएँ एक साथ होती रहती हैं। रज, तम और सत्त्व को चालित रखता है; सत्त्व, तम और रज को स्थिति देता है और तम, रज और सत्त्व को समेटता है या उनमें परिवर्त्तन करता रहता है। इसी सिद्धान्त पर त्रिमूर्त्ति-प्रतीक पर तीन मुख अङ्कित कर दिये जाते हैं। बीच या सम्मुखवाला मुख ओज से भरा हुआ बड़ा ही प्रभावशाली, और कभी खुला हुआ बनाया जाता है। यह रजोगुण है, जो सत्त्व और तम को क्षुब्ध और चंचल बनाये रखता है। यह सभी क्रियाओं का प्रवर्त्तक है। रजोगुण के बाएँ एक दूसरा मुख बना रहता है। यह बन्द रहता है और इसकी मुद्रा अत्यन्त शान्त और स्थिर रहती है। यह सत्त्वगुण है। रजोगुण के दाहिने तीसरा मुख बना रहता है। इसमें बड़ी-बड़ी मूँछें और दाढ़ियाँ रहती हैं और मुखमुद्रा भयप्रद रहती है। कभी-कभी विस्फारित मुख विकराल मुद्रा में रहता है, मानों क्रुद्ध होकर घोर गर्जन कर रहा है। यह संहारक तमोगुण का प्रतीक है। इस रूप में त्रिमूर्त्ति की प्रतिमा या चित्र सगुण ब्रह्म का प्रतीक है।

अजन्ता की गुहा में त्रिमूर्त्ति का चित्र है। मूर्त्तियाँ दो रूपों में पाई जाती हैं—पुरुषमूर्त्ति के स्कन्ध पर तीन मुख के रूप में और लिङ्गमूर्त्ति के सब ओर तीन या चार मुख के रूप

---

१. शिवमहिम्नःस्तोत्रम् (पुष्पदन्त), श्लोक ३०

में। जब चार मुख बनाये जाते हैं, तब सामने और पीछेवाले दोनों मुख रजोगुण के सिद्धान्त पर बनते हैं और सम्मुख तथा पश्चाद्भाग से देखने पर त्रिमूर्त्ति के तीनों गुण दोनों ओर एक साथ दिखाई देते हैं, जिनमें रजोगुण मध्यस्थ रहता है।

ब्रह्मरूप किसी भी देवता के प्रतीक त्रिमूर्त्ति के रूप में अङ्कित हो सकता है। त्रिमूर्त्ति के रूप में शाक्त और बौद्ध देवियों की प्रतिमाएँ तथा चित्र पाये जाते हैं। इस रूप में बुद्ध के चित्र और प्रतिमाएँ भी मिलती हैं।[1] ये सभी त्रिगुणात्मक ब्रह्ममय और ब्रह्म के प्रतीक हैं। सबका अन्तर्गत सिद्धान्त एक है।

सारनाथ के अशोक-स्तम्भ का सिंहशिखर भी त्रिमूर्त्ति का प्रतीक है। अशोकस्तम्भ, मूलस्तम्भ शिवलिङ्ग की तरह, सृष्टि या विश्व का प्रतीक है। शिव और दुर्गा-प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया है कि सिंह और वृष, ब्रह्म को विश्व अर्थात् साकार रूप में धारण करनेवाली, ब्रह्म की स्वशक्ति धर्म के प्रतीक हैं। ये दोनों प्रतीक वैदिक और बौद्धमत में एक ही भाव में प्रयुक्त होते हैं। बौद्धमत में हाथी और घोड़े को भी सिंह और वृषभ का स्थान प्राप्त है। हाथी के रूप में बुद्ध ने स्वप्न में मायादेवी की कुक्षि में प्रवेश किया था और कन्थक पर भगवान् ने महाभिनिष्क्रमण किया था। इसलिए हाथी और अश्व को भी वृषभ और सिंह-सा बुद्धब्रह्म का वाहक धर्म माना जाता है।[2] सम्भव है कि बल और तेज के प्रतीक वैदिक अश्व से यह भावना ली गई हो। सारनाथवाले अशोक-स्तम्भ के शिखर पर ये चारों ही अङ्कित हैं। उसपर अङ्कित धर्मचक्र में चौबीस अर हैं। विष्णु के अवतार २४, जैन तीर्थङ्कर २४ और सांख्यतत्त्व भी २४ हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

सबसे अधिक स्पष्ट प्रतीक के रूप में ऊपर के सिंह हैं। अशोक-स्तम्भ पर धर्मराज बुद्ध को कभी एक गज, कभी एक वृषभ और कभी एक सिंह के रूप में बनाया जाता है। घोड़े का मुख चित्रों में त्रिमूर्त्ति बुद्ध के मस्तक पर दिखाया जाता है। इसकी प्रतिमा देखने में नहीं आई है। सारनाथवाले शिखर पर चार सिंह हैं। सामनेवाले की मूँछें चढ़ी हुई हैं और काली की तरह लोल जिह्वा बनी हुई है। यह रजोगुण है। सामने से बाईं ओर का मुख प्रशान्त और लगभग बन्द है। मालूम होता है कि सिंह धीरे-धीरे गुरगुरा रहा है। यह सत्त्वगुण है। दाहिनी ओरवाला मुख टूटा रहने पर भी खुला हुआ और विकराल मालूम होता है, मानों घोर गर्जन कर रहा है। यह तमोगुण है। यह त्रिमूर्त्ति ब्रह्म और त्रिमूर्त्ति शिव की तरह ही त्रिमूर्त्ति बुद्धमूर्त्ति है।[3] इस तरह त्रिमूर्त्ति ब्रह्म और ब्रह्मविद्या की सुन्दर कल्पना है।

---

१. ये संगृहीत चित्रों में विवरण के साथ मिलेंगे।

२. चित्र देखिए।

३. चित्रों के विवरण से ये भाव और भी अधिक स्पष्ट होंगे।

हरिहर

सिद्धान्ततः हरि और हर में कोई भेद नहीं है और न शास्त्रकार ही कोई भेद मानते हैं। अज्ञान के कारण दोनों में भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। सुभाषितकार ने सच कहा है :

उभयोः प्रकृतिस्त्वेका प्रत्ययभेदाद्विभिन्नवद्भाति।
कलयति कश्चिन्मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम्॥

"दोनों (हरि और हर) की प्रकृति (मूलभावना और शब्द का धातु हृ) एक ही है। प्रत्यय-भेद से (देखने के भेद से और दो प्रत्ययों, इ और अ, के प्रयोग से) दोनों दो-जैसे मालूम होते हैं। जो मूढ शास्त्र (दर्शन और व्याकरण) नहीं जानते हैं, वे हरि और हर को दो मानते हैं।"

विष्णुपुराण में विष्णु शङ्कर से कहते हैं :

त्वया तदभयं दत्तं तद्दत्तमखिलं मया।
मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शङ्कर॥
योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम्।
अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः॥[1]

"आपने जो अभय दिया, वह सब मैंने ही दिया। शङ्कर! मुझे आप अपने से अभिन्न समझिए। देव, असुर, मनुष्य-समेत, इस जगत् के रूप में, जो आप हैं, वही मैं हूँ। अविद्या के कारण जिनकी बुद्धि मोह में पड़ गई है, वे ही हम दोनों में भेद देखते हैं।"

योगशास्त्र का भी यही मत है :

क्षीरं यथा दधिविकारविशेषयोगात्
सञ्जायते न तु ततः पृथगस्ति हेतुः।
यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्—
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥[2]

"दूध जिस तरह परिवर्तित होकर दही बन जाता है, परन्तु उसका कोई पृथक् कारण नहीं है, उसी प्रकार कार्यवशात् आदिपुरुष गोविन्द, शम्भुता धारण करते हैं। मैं उनकी वन्दना करता हूँ।"

सभी पुराण और उपासनामूलक ग्रन्थ इस भावना से ओत-प्रोत हैं।

रामो ज्ञानमयः शिवः॥[3]

हिन्दी के भी विद्वान् और सिद्ध कवियों का यही मत है। इस सम्बध में मैथिल कवि विद्यापति का पद इस प्रकार है :

खन हरि खन हर भल तुअ कला।
खन पित वसन खनहि बघछला॥
खन पञ्चानन खन भुज चारि।
खन शङ्कर खन देव मुरारि॥

---

१. विष्णुपुराण, अंश ५. ३३. ४७, ४८

२. योगशास्त्र 'ब्रह्मसंहिता' (वसुमति प्रेस, कलकत्ता, वंगाक्षर), पृ० ३१९, श्लोक ४९

३. अध्यात्मरामायण (काशी), ६. ७. ६८

खन गोकुल भय चरवथि गाय।
खन भिखि माँगिय डमरु बजाय॥
खन गोविन्द भय ली महादान।
खनहिं भसम धरु कान्ह बोकान॥
एक शरीरे लेल दुइ बास।
खन बैकुण्ठ खनहिं कैलास॥
भनहिं विद्यापति विपरित बानी।
ओ नारायण ओ सुलपानी॥

सूर ने भी अपने इष्ट कृष्ण और शिव में कोई भेद नहीं माना। दोनों को एक-दूसरे में देखा। इस भाव के उनके अनेक पद हैं :

बरनौ बाल बेष मुरारि।
थकित जित तित, अमर मुनि गन नन्दलाल निहारि।
केश शिर बिन पवन के चहुँ दिशा छिटके झारि।
सीस पर धारे जटा मनु रूप किय त्रिपुरारि।
तिलक ललित ललाट केसर बिन्दु सोभा कारि।
रेखा अरुण ज्यों तृतिय लोचन रह्यो जनु रिपु जारि।
कंठ कठुला नील मनि अम्भोज माल सँवारि।
गरल ग्रीव कपाल उर अहि भाय भे मदनारि।
कुटिल हरिनख दये हरि के हरष निरखति नारि।
ईस जनु रजनीस राख्यो भाल हू ते उतारि।
सदन रज तन स्याम सोभित सुभग उहि अनुहारि।
मनहु अंक विभूति रंजित संभु सो मधुहारि।
त्रिदसपतिपति असन कों अति जननि सों करै आरि।
सूरदास विरञ्चि जाको जपत निज मुख चारि॥[1]

तुलसीकृत रामायण में सर्वत्र शिव राम का ध्यान और स्तुति करते हैं और राम शिव की पूजा करते हैं। सती-कथा के प्रसंग में राम ने शिव को पार्वती से विवाह करने को कहा और शिव ने उत्तर दिया :

कह शिव यदपि उचित अस नाहीं।
नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं॥
शिर धरि आयसु करिय तुम्हारा।
परम धर्म यह नाथ हमारा॥

---

१. सूरसागर (बम्बई, संवत् १९९१ वि०), पृ० १५२, पद ४८। इसके बादवाला ४९वाँ पद भी इसी प्रकार का है।

समुद्र पर सेतु बाँधकर, शिवलिङ्ग की स्थापना कर भगवान् ने विधिवत् पूजा की और कहा :

शङ्करप्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक महँ वास॥

हरिहर-मूर्त्ति या चित्र में आधे अङ्ग में व्याघ्रचर्म, त्रिशूल, जटा-मुकुटादि और आधे में पीताम्बर, शङ्ख, चक्र, किरीट, मुकुटादि रहते हैं। हरिहर नाम पर मन्दिर भी हैं। पटना के निकट सोनपुर में हरिहरनाथ का मन्दिर प्रसिद्ध है।

मृत्युञ्जय

ब्रह्म के प्रतीक सभी देवताओं की, सौम्य और रौद्र—इन दो रूपों में, उपासना होती है। ज्ञान-विज्ञान तथा परमार्थसिद्धि के लिए और सांसारिक मारण, मोहन, वशीकरणादि कर्मों के लिए शान्त तथा घोर रूपों की उपासना की जाती है।

शिव, स्वभावतः सौम्य और कल्याणमय हैं; क्योंकि सृष्टि और स्थिति इनकी स्वाभाविक इच्छा है। इनके अनेक शान्तरूपों में मृत्युञ्जय-रूप प्रसिद्ध है। आधि-व्याधि की शान्ति के लिए परब्रह्म की इस रूप में उपासना की जाती है। इस रूप का ध्यान इस प्रकार है :

हस्ताम्भोजयुगस्थकुम्भयुगलादुद्धृत्य तोयं शिरः
सिञ्चन्तं करयोर्युगेन दधतं स्वाङ्के स्वकुम्भौ करौ।
अक्षस्रङ्मृगहस्तमम्बुजगतं मूर्धस्थचन्द्रस्रवत्-
पीयूषोन्नतनुं भजे सगिरिजं मृत्युञ्जयं त्र्यम्बकम्॥[1]

"दो करकमलों में उठे हुए दो कलश से मस्तक पर जल-सिञ्चन कर रहे हैं। दो करों से दो कुम्भ अपनी गोद में रखे हुए हैं। हाथों में अक्षमाला और मृग हैं। माथे के ऊपर चन्द्रमण्डल से चूता हुआ और शरीर को प्लावित (उन्न-क्लिन्न, उन्द क्लेदने क्त) करता हुआ अमृत है। गिरिजा के साथ ऐसे त्र्यम्बक मृत्युञ्जय की वन्दना करता हूँ।"

कोमल और मनोहर भावनाओं का सन्निवेश कर, बालक के रूप में शङ्कर की उपासना की जाती है, और तब ये आत्मज गणेश, स्कन्द, बटुक, क्षेत्रपाल आदि का रूप धारण करते हैं।

गणेश का विवरण दिया जा चुका है। इनके नृत्य और बाललीलाओं का वर्णन पुराणों और स्तोत्र-ग्रन्थों में मिलता है। गणेश, शङ्कर के बालरूप और बुद्धि के प्रतीक हैं।

स्कन्द

स्कन्द या कार्त्तिकेय[2] शङ्कर के बालरूप और महाबल के प्रतीक हैं। ये देवताओं के सेनापति हैं। इनकी एकमुख, चतुर्मुख और षण्मुखवाली मूर्त्ति होती है और उसी के अनुसार

---

१. मन्त्रमहोदधि (बम्बई, संवत् १९८९ वि०), तरंग १६, श्लोक १९

२. श्री टी० गोपीनाथ राव ने इसपर बड़े विस्तार से विचार किया है। देखिए—Elements of Hindu Iconography, Madras, 1916, Vol. II, pt. II, pp. 415—451.

इनकी भुजाओं की संख्या भी होती है। षण्मुखवाले रूप में छह ऋतुएँ इनके छह मुख और बारह हाथ बारह महीने हैं। सूर्य इनकी शक्ति (बर्छी) है। इस प्रकार ये कालस्वरूप हैं। इन्होंने विवाह नहीं किया, इसलिए इनका नाम 'कुमार' है। इनकी शक्ति देवसेना है। कुमार की मूर्त्ति में देवसेना के साथ देववल्ली नामक दूसरी देवी भी अङ्कित की जाती है। इन्हें पार्श्वदेवता कहते हैं। यह त्रिमूर्त्ति के रज, सत्त्व और तम का रूपान्तर है। छिन्नमस्ता की और बहुत-सी बौद्धमूर्त्तियों की कल्पना इसी सिद्धान्त पर होती है। नाना रंगोंवाले मयूर, कुक्कुट आदि इनके वाहन हैं। यह बल के साथ लगा हुआ तड़क-भड़क का लक्षण मालूम होता है। मयूर तो कालसर्प का भी भक्षण करनेवाला महाबलवान् वाहन है।

मयूर को गरुड़ का रूपान्तर कहा गया है :

रहस्यं श्रृणु वक्ष्यामि मयूरस्य यथोचितम्।
नानाचित्र विचित्राङ्ग गरुडाज्जननं तव॥
अनन्तशक्ति संयुक्तंकालाहेर्भक्षणं ततः।
गरुडस्त्वं महाभाग सदा त्वां प्रणमाम्यहम्॥[1]

"मयूर के उचित रहस्य को बताता हूँ, सुनो। नाना प्रकार के चित्र-विचित्र अंगोंवाले आप हैं और गरुड़ से आपका जन्म हुआ है। आप अनन्तशक्तिवाले हैं, इसलिए कालसर्प का भक्षण करते रहते हैं। महाभाग! आप गरुड़ हैं। आपको मैं सदा प्रणाम करता हूँ।" यहाँ मयूर को गरुड़ कहकर मयूर, सिंह, गरुड़, वृषभादि वाहनों को एक ही सिद्धान्त का रूप कहा गया है। अर्थात् महाकाल स्कन्द का सर्वभक्षक वाहन काल से भी प्रबल, धर्म है। दक्षिणापथ में स्कन्दरूप की उपासना का बहुत प्रचार है।

क्षेत्रपाल

शङ्कर का एक अन्य बालरूप है—क्षेत्रपाल। 'लिङ्गपुराण' की कथा है कि एक बार दारुकासुर को मारने के लिए शिव ने काली का निर्माण किया। उसके वध के पश्चात् भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे क्रोध से जलती रहीं। शिव बालक-रूप धारण कर रोने लगे। उन्होंने उन्हें दूध पिलाया। दूध के साथ ही वे उनका क्रोध भी पी गये। उनका नाम क्षेत्रपाल पड़ा। क्षेत्रपाल का प्रचलित ध्यान इस प्रकार है :

चञ्चत्कपालसुकृपाणसशूलदण्ड-
मुद्यड्डमड्डमरुमण्डितपाणिदण्डम्।
नीलाञ्जनप्रचयपुञ्जमिव प्रसन्नं
श्रीक्षेत्रनाथकमहं सततं भजामि॥

"इनके हाथों में हिलता-डुलता कपाल, कृपाण, शूल, दण्ड और डमरू है। ये नील अञ्जन के पुञ्ज-जैसे हैं और प्रसन्न रहते हैं। ऐसे क्षेत्रपाल की मैं सर्वदा वन्दना करता हूँ।"

---

१. कालीविलासतन्त्रम् (लन्दन, सन् १९१७ ई०), पटल १८, श्लोक ८-९

बटुक

शङ्कर का एक और बालरूप बटुक भी है। उपासना में निमित्त-भेद से इनके ध्यान में भी भेद हो जाता है। सात्त्विक कर्मों के लिए सात्त्विक ध्यान, राजसिक के लिए राजसिक ध्यान और तामसिक कर्मों के लिए तामसिक ध्यान विहित है। ज्ञान-विज्ञान, परमार्थसिद्धि और सब प्रकार के कल्याण के लिए सात्त्विक ध्यान इस प्रकार है :

वन्दे बालं स्फटिक सदृशं कुन्तलोद्भासि वक्त्रं
विद्याकल्पैर्नवमणिमयैः किंकिणीनूपुराद्यैः।
दीप्ताकारं विशदवदनं सुप्रसन्नं महेशं
हस्ताब्जाभ्यां बटुकमनिशं शूलदण्डौ दधानम् ॥

"स्फटिक की तरह श्वेतवर्ण बालक का रूप है। बालों से मुख की शोभा दमक रही है। नाना प्रकार की विद्याएँ, मणि के बने हुए किंकिणी, नूपुर आदि हैं। बटुक-रूप महेश, प्रसन्न, दीप्ताकार और दमकते हुए मुखवाले हैं। अपने करकमलों में सदा शूल और दण्ड धारण किये रहते हैं।"

राजसिक कर्मों के लिए राजसिक ध्यान इस प्रकार है :

उद्यन्मण्डलसन्निभं त्रिनयनं रक्ताङ्गरागस्रजं
स्मेरास्यं वरदं कपालमभयं शूलं दधानं करैः।
नीलग्रीवमुदारभूषणयुतं शीतांशुखण्डोज्ज्वलं
बन्धूकारुणवाससं भयहरं देवं सदा भावयेत् ॥

"उगते हुए (सूर्य-चन्द्र) मण्डल की तरह (रक्तवर्ण) तीन नेत्र, (शरीर में) लाल विलेपन और (गले में) माला, मुस्कुराता हुआ मुँह, हाथों में त्रिशूल, कपाल, वरद, अभय (मुद्रा), नीलकण्ठ, सुन्दर आभूषण धारण किये हुए, चन्द्रमा के खण्ड की तरह उज्ज्वल, बन्धूक पुष्प की तरह रक्तवस्त्रवाले और भय को दूर करनेवाले (बटुक) देव की सदा भावना करे।"

घोर कर्म में सिद्धि के लिए तामसिक ध्यान इस प्रकार है :

करकलित कपालः कुण्डली दण्डपाणि-
स्तरुणतिमिरनीलो व्यालयज्ञोपवीती।
क्रतुसमयसपर्याविघ्नविच्छेदहेतु-
र्जयति बटुकनाथ सिद्धिदः साधकानाम् ॥

"हाथ में कपाल, कानों में कुण्डल, हाथ में दण्ड, घने अन्धकार की तरह नील वर्ण, सर्प का उपवीत, साधनाओं के विघ्नों का नाश करनेवाले और साधकों को सिद्धि देनेवाले बटुकनाथ की जय हो।"

शरभ

ब्रह्म के घोर-से-घोर रूप की भी कल्पना की जाती है, जिसका एक विवरण गीता के एकादश अध्याय में पाया जाता है। शिव के एक अत्यन्त घोर रूप की कल्पना शरभ के रूप

में की जाती है। शरभ एक प्रकार का पशु है, जिसके आठ पैर होते हैं और वह सिंह से भी बलवान् होता है। कहा जाता है कि हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त भी नृसिंह का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उनके भयङ्कर क्रोध में संसार जलने लगा। उससे संसार को बचाने के लिए शिव ने शरभ-रूप धारण कर उनपर आक्रमण किया। उनके भय से त्रस्त हो जाने के कारण नृसिंह का क्रोध शान्त हो गया। शरभ-मूर्त्ति के साथ पक्षी के रूप का भी समावेश कर दिया जाता है और इस रूप का पूरा नाम है—'शरभ शाल्वपक्षिराज'। इस रूप का ध्यान इस प्रकार किया जाता है :

चन्द्रार्काग्निस्त्रिदृष्टिः कुलिशवरनखश्चंचलात्युग्रजिह्वा।
काली दुर्गा च पक्षौ हृदयजठरगो भैरवो बाडवाग्निः।
ऊरुस्थौ व्याधिमृत्यू शरभवरखगश्चण्डवातातिवेगः।
संहर्त्ता सर्वशत्रून् स जयति हि शरभः साल्वः पक्षिराजः॥

"चन्द्र, सूर्य और अग्नि इनकी तीन आँखें हैं, वज्रनख हैं, अत्यन्त उग्रजिह्वा लपलपा रही है, काली और दुर्गा डैने हैं, हृदय भैरव और उदर वड़वाग्नि है, व्याधि और मृत्यु जंघाएँ हैं। पक्षिरूप शरभ भयंकर आँधी की तरह वेगवान् हैं और सभी शत्रुओं के संहार करनेवाले हैं।"

अनन्त विश्व की तरह शिव के रूप भी अनन्त हैं। यहाँ यह अप्रासंगिक न होगा कि सनातनमत और बौद्धमत में ऐसी मूर्त्तियाँ एक ही सिद्धान्त पर बनती हैं। इसके अनुसार एक देवता की मूर्त्ति दूसरे पर बनाई जाती है, जिसमें ऊपर-वाले देव की श्रेष्ठता दिखलाई जाती है। बौद्ध-ग्रन्थ 'साधनमाला' में दिये हुए ध्यान के अनुसार जम्भल की मूर्त्ति शिव-पार्वती पर बनाई जाती है और अपराजिता की गणेश पर। ऐसी कल्पनाओं से साम्प्रदायिक दम्भ की तुष्टि हो सकती है, पर इससे सिद्धान्त में कोई भेद नहीं पड़ता। मूल सिद्धान्त सबके एक हैं और ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।

लिङ्ग

संस्कृत-साहित्य में, और विशेषकर उपासना तथा साधना-साहित्य में, लिङ्ग और योनि[1] शब्द का प्रयोग, साधारणतः, किसी वस्तु के बोधक चिह्न और उत्पत्ति-स्थान के अर्थ में हुआ है। जन्तुओं की प्रजननेन्द्रिय के अर्थ में इसका बहुत ही संकुचित और सीमित

---

१. (क) चौरासी लाख योनि में भटकना, पश्वादि योनि में उत्पन्न होना।
(ख) यथा निरीन्धनोवह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥
स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः। मैत्र्याण्युपनिषत्। प्रपाठक ४। संग्रहश्लोक १,२।

ईन्धन नहीं रहने से जिस प्रकार आग अपने उत्पत्तिस्थान (योनि) में शान्त हो जाती है, उसी प्रकार लालसाओं के क्षय से चित्त अपने उत्पत्ति-स्थान पर शान्त हो जाता है। अपनी योनि में शान्त और सत्यगामी मनवाले की इन्द्रियों के विषय निष्क्रिय हो जाते हैं और उसकी निष्प्रयोजन वृत्तियाँ कर्मवश कर्म का अनुसरण करती हैं।

(ग) योनिश्च हि गीयते। और (च) वेदों में ब्रह्म को ही विश्व का उत्पत्ति-स्थान (योनि) कहा गया है। वे० सूत्र. १.४. २७

प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वच्छन्दता और निःसंकोच रूप से किया गया है।

कोषग्रन्थ शब्दों के अर्थ और प्रयोग का निर्धारण करते हैं। लिङ्ग शब्द का अर्थ 'मेदिनी-कोषकार' इस प्रकार करते हैं :

लिङ्गं चिह्नेऽनुमाने च सांख्योक्तप्रकृतावपि।
शिवमूर्त्तिविशेषे च मेहनेऽपि नपुंसकम्॥

लिङ्ग शब्द का प्रयोग इन अर्थों में होता है—चिह्न, अनुमान, सांख्य की प्रकृति, शिव की एक प्रकार की मूर्त्ति और शिश्न के अर्थ में भी। यह नपुंसकलिङ्ग का शब्द है। 'अपि' से लेखक का मन्तव्य है कि शिश्न के अर्थ में भी कभी-कभी इसका प्रयोग होता है। किसी कारण से उत्तर भारत में आज इस 'कभी-कभी' या 'भी' ने साधारण प्रयोग का रूप ग्रहण कर लिया है और इसके चिह्नादि व्यापक अर्थ बोलचाल की भाषाओं में गौण और प्रायः अप्रयुक्त-से हो गये हैं।

नटराज-सहस्रनाम का ५३१वाँ नाम है—ज्ञानलिङ्ग। टीकाकार कहता है

ज्ञानमेव संविदेव लिङ्गं गमकं यस्य सः। ज्ञान अर्थात् चेतना ही जिसका लिङ्ग, गमक या बोधक है। वहीं ५२८वाँ नाम है—अलिङ्ग। टीकाकार लिखता है :

न विद्यते लिङ्गं लिङ्गशरीरं सूक्ष्मशरीरं यस्य सः। सूक्ष्मशरीरशून्य इत्यर्थः। अकायमव्रणमित्यादिश्रुतेः। अकायमित्यनेन सूक्ष्मशरीरशून्यत्वं बोध्यते। यद्वा लिङ्गं हेतुः तच्छून्य इत्यर्थः। अनुमानाच्छून्यः स्वप्रकाशस्वरूप इति यावत्।

"जिसको लिङ्ग, लिङ्गशरीर अर्थात् सूक्ष्मशरीर नहीं है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरशून्य। अकाय, अव्रण इत्यादि वेदवाक्य हैं। अकाय से सूक्ष्मशरीर-रहित होने का बोध होता है। अथवा लिङ्ग का अर्थ है—हेतु। उससे रहित। अर्थात् अनुमान द्वारा नहीं जानने योग्य स्वप्रकाश रूप।" वेदान्तसूत्र में ब्रह्म के रूप की कल्पना के सम्बन्ध में कहा गया है :

आकाशस्तल्लिंगात्[1]। इसपर शाङ्करभाष्य है—**आकाश शब्देन ब्रह्मणोग्रहणंयुक्तम्।**

अर्थात् आकाश शब्द से ब्रह्म को समझना चाहिए। वेदान्तसूत्र में बोधक संकेत के अर्थ में लिङ्ग शब्द का बारह बार प्रयोग हुआ है।[2] वैशेषिक के ३७३ सूत्रों में इसका २९ बार प्रयोग हुआ है और इसका अर्थ निर्गुण ब्रह्म तथा चिह्न है। एक बार भी शिश्न के अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। उपनिषदों में भी लिङ्ग शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार किया गया है :

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥[3]

---

१. ब्रह्मसूत्र, १. १. २२
२. वही, १. १. ३१, १.३. ३५, १.४. १७, २.३. १३, ३.२. ११, ३.२. २६, ३.३. ४४, ३.४.३४, ३.४ ३९, ४.१.२, ४.३.४
३. कठोपनिषत्, २.५.८

"अव्यक्त से आगे पुरुष है, जो व्यापक और लिङ्ग (स्थिति का संकेतमात्र) है, जिसको जानकर जीव मोक्ष और अमृतत्व को प्राप्त करता है।"

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
न कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥[१]

"न इसका कोई पति, न शासक, न लिङ्ग, न कारण, न करण के स्वामी का स्वामी, न अधिप और न उत्पन्न करनेवाला है।"

अथैनं सदानन्दः संवर्त्तो जैगीषव्यश्च नीललोहितं रुद्रमुवाच । भगवन् किमपवर्गं साधयतीति । स एतेभ्यो भगवान् नीललोहितः प्रोवाच । अन्तर्बहिर्धारितं परमब्रह्माभिधेयं शाम्भवं लिङ्गम् ।

अन्तर्धारणशक्तेनह्यशक्ते न द्विजोत्तमाः ।
संस्कृत्य गुरुणादत्तं शैवं लिङ्गमुरस्थले ॥
धार्यं विप्रेण मुक्त्यर्थं शिवतत्त्वविदो विदुः ।
येनाचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य परात्परंपुरुषमुपैतिविद्वान् ।

अस्य मात्रा अकारो ब्रह्मरूप उकारो विष्णुरूपो मकारः कालकालः अर्धमात्रा परमशिवः ओङ्कारो लिङ्गम् ।

योऽसौ सर्वषुवेदेषु पठ्यते ह्यज ईश्वरः ।
तस्मात्तद्धारणादेतल्लिङ्गदेहमलौकिकम् ॥
यो वा स्वं हस्तार्चितलिङ्गमेकं
परात्परं धारयते नरो वा ।
तस्यैव लभ्यः परमेश्वरोऽसौ
निरञ्जनं साम्यमुपैतिदिव्यम् ॥

यदिदं लिङ्गं सकलं सकलनिष्कलं निष्कलंच, स्थूलं सूक्ष्मं च तत्परं, स्थूले स्थूलं सूक्ष्मे सूक्ष्मं कारणे तत्परंच ।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति मानवः ।
अन्तर्बहिश्चतल्लिङ्गं विधत्ते यस्तु शाश्वतम् ॥

अविद्यावरणं भित्वा ब्रह्मणः सायुज्यतां सालोकतामाप्नोति । तदिदं लिङ्गं ब्रह्म । तदिदं ॐसत्यम् ॥ [२]

"तब सदानन्द संवर्त्त जैगिषव्य ने इस नीललोहित रुद्र से कहा—भगवन्, कौन जीवन को सफल बनाता है। भगवान् नीललोहित ने उनसे कहा—भीतर और बाहर अवस्थित परब्रह्म का नाम शम्भुलिङ्ग है।

ब्राह्मणो ! अपने भीतर धारण करने में समर्थ गुरु संस्कार कर शिवलिङ्ग को मुक्ति के लिए हृदय पर धारण करने को अशक्त ब्राह्मण को दे। शिवतत्त्व के ज्ञाता ऐसा कहते हैं, जिससे शीघ्र ही सब पापों से छूटकर विद्वान् परात्पर पुरुष को प्राप्त करता है।

१. श्वेताश्वतरोपनिषत्—६.९
२. सदानन्दोपनिषत् (अप्रकाशिता उपनिषदः, मद्रास, सन् १९३३ ई०), पृ० ३७८, ३७९

इसकी अकारमात्रा ब्रह्मरूप, उकार विष्णुरूप, मकार महाकाल, अर्द्धमात्रा परम, शिव और (सबकी समष्टि) ॐकार लिङ्ग (ग्राहक संकेतमात्र) है। इसे सभी वेदों में अज और ईश्वर कहा गया है। इसलिए इस अलौकिक लिङ्गशरीर को धारण करने से (अपवर्ग मिलता है)। जो परात्पर एक भी लिङ्ग की अर्चना करके उसे धारण करता है, उसे ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है। वह अभिन्न और दिव्य साम्यावस्था प्राप्त करता है।

यह जो लिङ्ग है वह साकार, साकार-निराकार और निराकार है। स्थूल, सूक्ष्म और इनसे पर है। स्थूल में स्थूल, सूक्ष्म में सूक्ष्म और इनसे पर अर्थात् इनका कारण है।

आत्मा को नीचे की अरणि (अग्निमन्थन का काष्ठ) और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान से मथने पर मनुष्य बन्धन को जला देता है। भीतर और बाहर इस भाव के स्थिर हो जाने पर इसे लिङ्ग कहा जाता है।

अविद्या के परदे को फाड़कर ब्रह्मलोक और ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करता है। यही लिङ्ग ब्रह्म है। यह ॐकार और सत्य है।"

हृद्यन्तःकरणं ज्ञेयं शिवस्यायतनं परम्।
हृत्पद्मं वेदिका तत्र लिङ्गमोङ्कारमिष्यते ॥[1]

"हृदय में अन्तःकरण (मन) ही शिव का सर्वश्रेष्ठ निवास-स्थान है। वहाँ हृदय कमल वेदिका है और ॐकार लिङ्ग है।"

बुद्धिर्मनश्च लिङ्गश्च महानक्षर एव च।
पर्यायवाचकैः शब्दैस्तमाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ॥[2]

"बुद्धि, मन, लिङ्ग, महान्, अक्षर—इन सभी पर्यायवाची शब्दों से तत्त्वज्ञानी उन्हें प्रकट करते हैं।" 'अध्यात्मरामायण' में अगस्त्य राम से कहते हैं :

सृष्टेः प्रागेक एवासीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥
त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ॥
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते ॥
त्वया संक्षोभ्यमाणा सा महतत्त्वं प्रसूयते।
महतत्त्वादहंकारस्त्वया सञ्चोदितादभूत् ॥
अहङ्कारो महत्तत्त्वसंवृतिस्त्रिविधोऽभवत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति भण्यते ॥

---

१. शिवोपनिषत्, १२४ (अप्रकाशिता उपनिषदः; मद्रास, १९३३; पृ० ३२६)
२. वायुपुराण, अ० १०२ . २१ (आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावलिः ; पूना, शाके १८२७), सन् १९०५ ई०।

तामसात् सूक्ष्म तन्मात्राण्यासन् भूतान्यतः परम् ।
स्थूलानि क्रमशो राम क्रमोत्तरगुणानिह ॥
राजसानीन्द्रियाण्येव सात्त्विका देवता मनः ।
तेऽभ्योऽभवत् सूत्ररूपं लिङ्गं सर्वगतं महत् ॥[१]

सृष्टि के पूर्व, निर्विकल्प और निरुपाधि केवल आप थे। आपपर आश्रित, और आपका ही विषय माया, आपकी शक्ति कही जाती है। आपको निर्गुण रूप में शक्ति जब आवृत कर लेती है, तब वेदान्तनिष्ठ लोग उसे अव्याकृत कहते हैं। कोई इसे मूल प्रकृति और कोई इसे माया कहते हैं; इसे अविद्या, संसार, बन्ध इत्यादि नाना प्रकार से कहा जाता है। आपसे क्षोभित (अनुप्राणित) होने पर यह महत्तत्त्व उत्पन्न करती है। आपसे प्रेरित महत्तत्त्व से अहंकार हुआ। महत्तत्त्व से ढँका हुआ (संवृत) अहंकार तीन प्रकार का हुआ। यह सात्त्विक, राजस और तामस कहा जाता है। तामस से सूक्ष्म तन्मात्राएँ हुईं, जिनसे, गुणों के उत्तरोत्तर क्रम से, स्थूल तत्त्व, राजस इन्द्रियाँ, सात्त्विक देवगण और मन हुए। उनसे सूत्ररूप, सर्वगत, महत् लिङ्ग हुआ।

अध्यात्मरामायण में ही अन्यत्र ऐसे ही विवरण पाये जाते हैं। नारद राम से कहते हैं :

त्वदाभासोदिताज्ञानमव्याकृतमितीर्यते ।
तस्मान्महाँस्ततः सूत्रं लिङ्गं सर्वात्मकं ततः ॥
अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पञ्चप्राणेन्द्रियाणि च ।
लिङ्गमित्युच्यते प्राज्ञैर्जन्ममृत्यु सुखादिमत् ॥[२]

"तुम्हारे प्रकाश से प्रकाशित अज्ञान, अव्याकृत कहलाता है। उससे सूत्ररूप सर्वात्मक लिङ्ग, उससे अहंकार, बुद्धि, पञ्चप्राण और पाँच इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। बुद्धिमान् लोग इन्हें लिङ्ग कहते हैं। जन्म, मृत्यु, सुख इत्यादि इनके साथ लगे हुए हैं।"

बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात् ।
आत्मास्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्यतदुद्भवान् ।
कामान् जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्त्ततेऽवशः ॥[३]

"अपनी सृष्टि बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि की समीपता के कारण आत्मा अपने लिङ्ग मन का ग्रहण करके कामोपभोग करता हुआ गुणों के वश में पड़ जाता है।" अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में लिङ्ग शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है :

लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥
एकस्य स्पन्दनस्यैषा त्रैधं भेदव्यवस्थितिः ।
अत्र लिङ्गे यदा तिष्ठेत् पूजाविश्रान्ति तत्परः ॥[४]

---

१. अरण्यकाण्ड, सर्ग ३, श्लोक २०—२६
२. अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग १, श्लोक २०-२१
३. तत्रैव (किष्किन्धाकाण्ड), सर्ग ३, श्लोक २३,२४
४. तन्त्रालोक (काश्मीर, सन् १९२२ ई०), आह्निक ४, कारिका १३१

यदुक्तम् : मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ।
बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः ॥[1]

"विद्वान् कहते हैं कि लिङ्ग शब्द से सृष्टि और संहार के कारण का ज्ञान होता है। 'ल' से लय और 'ग' से आगमन अर्थात् विकास का बोध होने के कारण यह सृष्टि के अव्यय पद का बोधक है। पूजा में स्थिर होकर जब लिङ्ग पर मन स्थिर होता है, तब (बोध होता है) कि एक ही स्पन्दन के तीनों भेद इसमें स्थिर हैं। मिट्टी, पत्थर, धातु, रत्न आदि के बने हुए लिङ्ग को न पूजे, आत्मिक लिङ्ग को पूजे, जिसके अन्तर्गत चराचर हैं। इसी लिङ्ग के आधार पर बाहर के लिङ्ग बने हुए हैं।"

अतः मनीषिगण कहते हैं :

लयं गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः ।
सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्माल्लिङ्गमुदाहृतम् ॥[2]

"प्रलयकाल में सारी सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है और पुनः सृष्टिकाल में जिससे सृष्टि होती है, उसे लिङ्ग कहते हैं।"

इससे सिद्ध होता है कि लिङ्ग शब्द का व्यवहार बोधक चिह्न के अर्थ में होता है और जब यह ब्रह्मबोधक चिह्न माना जाता है तब शिवलिङ्ग, ब्रह्मलिङ्ग, विष्णुलिङ्ग, ज्योतिर्लिङ्ग, बोधलिङ्ग, गगनलिङ्ग आदि नामों का प्रयोग किया जाता है।

पुराणों में शिवलिङ्ग के सम्बन्ध में एक कथा पाई जाती है। अपने महत्त्व को लेकर ब्रह्मा और विष्णु में विवाद होने लगा। उन दोनों के बीच भयङ्कर ज्वालाओंवाला अग्निस्तम्भ प्रकट हुआ। उसमें प्रकट होकर शिव ने कहा कि जो मेरे आदि अथवा अन्त का पता लगा लेगा, वही बड़ा समझा जायगा। पता लगाने के लिए विष्णु नीचे चले और ब्रह्मा ऊपर। किन्तु दो में से किसी को पता नहीं लगा। यह कथा कूर्म, शिव, वायु (अ० ५५), लिङ्ग (अ० १७), मत्स्य (६०.४), नीलमत (अ० १३५) और सौरपुराण (अ० ६६) में पाई जाती है। इससे मालूम होता है कि लोग ब्रह्म (शिव) के संकेत-चिह्न (लिङ्ग) को किस रूप में देखते थे।

दूसरी कथा है कि एक बार तपोवन में शिव के नग्न रूप को देखकर मुनिपत्नियाँ काम-पीड़ित हुईं। ऋषियों ने क्रुद्ध होकर शाप दिया, जिससे शिव का शिश्न गिर गया। यह काम की प्रबलता और मदनदहन की कथा का रूपान्तर है। इससे यह भी उद्दिष्ट है कि कामुक का पतन अवश्य होता है, चाहे वह शिव-जैसा ही क्यों न हो। जो शिव सत्तामात्र निराकार ब्रह्म है, उसका शिश्न और शिश्न का गिरना कैसा![3]

---

१. तत्रैव, आह्निक ५, कारिका १२०

२. लिङ्गपुराण, ९९.८

३. काम की सार्वभौम सत्ता और अजेय शक्ति के विषय में पुराणों में मोहिनी और शिव की कथा पाई जाती है। समुद्र-मन्थन के बाद शिव ने विष्णु के मोहिनीरूप को देखा। उन्होंने काम को जलाया था, किन्तु स्वयं विह्वल होकर मोहिनी के पीछे दौड़ पड़े।

लिङ्ग और वेदी के विषय में निम्नलिखित विवरण मिलता है :

ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूल प्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते ॥[१]

"ज्ञान प्राप्त करने के साधन ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि पञ्चवायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार उसकी स्थूल कल्पना करने पर वह (ब्रह्म) भी स्थूलप्रकृति कहलाता है। ज्ञानप्राप्ति के साधन ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि पञ्चवायु, मन, बुद्धि द्वारा (ज्ञात) सूक्ष्मस्थ को लिङ्ग कहते हैं।" यहाँ स्थूल प्रकृति को वेदी और सूक्ष्मस्थ को लिङ्ग कहा गया है।

विष्णु के रूप में ब्रह्म के प्रतीक लिङ्ग की उपासना होती है और इसे विष्णुलिङ्ग कहते हैं।

विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च।
तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥
त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम्।
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥[२]

"विष्णुलिङ्ग दो प्रकार के होते हैं—व्यक्त (माया) और अव्यक्त (ब्रह्म)। उनमें से एक का भी त्याग करने से निश्चय पतन होता है। त्रिदण्ड वैष्णवलिङ्ग है। इससे ब्राह्मणों को मुक्ति मिलती है। इसमें सभी धर्म समा जाते हैं। यही वेद की आज्ञा है।"

विष्णुलिङ्गा यथा तावदग्नौ च बहुधा स्मृताः।
जीवाः सर्वे तथा शर्वाः परमात्मा च सः स्मृतः ॥[3]

"अग्नि (की ज्वालाओं) में नाना प्रकार के विष्णुलिङ्ग माने जाते हैं। उसे ही सभी प्राणी अप्राणी (शर्व) तथा परमात्मा भी कहते हैं।"

तन्त्रशास्त्र में भी वैष्णवलिङ्ग का विवरण मिलता है :

चतुर्वर्णमयं वापि वैष्णवं ज्ञायतेऽग्रतः।
वैष्णवं शङ्खचक्राङ्कगदाब्जादिविभूषितम् ॥
श्रीवत्सं कौस्तुभाङ्कं च सर्वसिंहासनाङ्कितम्।
वैनतेयसमाङ्कं वा तथा विष्णुपदाङ्कितम् ॥
वैष्णवं नाम तत्प्रोक्तं सर्वैश्वर्यफलप्रदम्।
इति वैष्णवलिङ्गलक्षणम्।
शालग्रामादिसंस्थन्तु शशाङ्कं श्रीविवर्द्धनम्।
पद्माङ्कं स्वस्तिकाङ्कं वा श्रीवत्साङ्कं विभूतये ॥
इत्यपि वैष्णवलिङ्गलक्षणम् ॥[४]

१. योगचूडामण्युपनिषत्, ७२
२. शाट्यायनीयोपनिषत्, श्लोक ७, ८
३. ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्करभाष्य, बम्बई, १९३५ ई०), पृ० १३१ में उद्धृत।
४. प्राणतोषणी (वंगाक्षर, कलकत्ता, १३३५ साल), पृ० ३२१

'चारों वर्णवाला वैष्णवलिङ्ग देखते ही पहचान में आ जाता है। वैष्णवलिङ्ग में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, श्रीवत्स, कौस्तुभ, विष्णुपद, गरुड तथा सभी सिंहासनों के चिह्न रह सकते हैं। इसका नाम वैष्णव है। यह सभी ऐश्वर्यों का फल देनेवाला है।" यह वैष्णव-लिङ्ग का लक्षण है।

"शालग्रामादि में चन्द्रमा का आकार धन-सम्पत्ति का बढ़ानेवाला होता है। पद्म, स्वस्तिक और श्रीवत्स के चिह्नवाले से विभूति होती है। यह भी वैष्णवलिङ्ग का लक्षण है।"

लिङ्गवेदी, ब्रह्ममाया, हरगौरी आदि एक ही तत्त्व के रूपान्तर मात्र हैं।

स्वर्गपाताललोकान्तब्रह्माण्डावरणाष्टके।
मेयं सर्वमुमारूपं माता देवो महेश्वरः॥[1]

"स्वर्ग से पाताल-लोक तक ब्रह्माण्ड के आठों आवरणों के भीतर सभी चालित वस्तुएँ (मेय) उमा के रूप हैं और देव महेश्वर चालक (माता) हैं।"

लिङ्गवेदी समायोगार्द्धनारीश्वरो भवेत्।[2]

"लिङ्ग और वेदी के एकस्थ होने से अर्द्धनारीश्वर बनते हैं।"

जो नटेशमूर्त्ति में मायाचक्र है, हर-पार्वती-विग्रह में पार्वती है, अर्द्धनारीश्वर में अर्द्धनारी है, सीताराम में सीता है, राधाकृष्ण में राधा है, वही लिङ्गवेदी में वेदी है। साकार जगत् को प्रवर्त्तित और सचालित करनेवाले कूटस्थ निराकार ब्रह्म की तरह, भीतर से मायाचक्र का सचालन करनेवाला नटेश ही वेदी के भीतर का शिवलिङ्ग है। विभु का यह प्रतीक शरीर के भीतर स्वयम्भूलिङ्ग, बाणलिङ्ग और इतरलिङ्ग की आकृति के आधार पर ब्रह्मलिङ्गों का निर्माण होता है। ब्रह्म का यह आन्तरिक और बाह्य प्रतीक एक-सा होने के कारण बाह्य प्रतीक का अवलम्बन कर आन्तरिक तेजोमय प्रतीकों में मनालय करने में साधकों को कठिनता नहीं प्रतीत होती। ब्रह्म का यह प्रतीक अत्यन्त सरल होने के कारण ध्यान के लिए अत्यन्त सुगम और योगीजनों का प्रिय है।

ब्रह्मोपासना का प्रधान साधन होने के कारण पुराणादिकों में लिङ्ग की नाना प्रकार से प्रशंसा की गई है और इसके द्वारा उपासना का विधान किया गया है।

आदिमध्यान्तरहितं भेषजं भवरोगिणाम्।[3]

"लिङ्ग का आदि, मध्य और अन्त नहीं है। यह ससार-रोग के रोगियों के लिए भेषज है।"

प्रणवेनैव मन्त्रेण पूजयेल्लिङ्गमूर्धनि।[4]

"लिङ्ग के मस्तक पर ॐकार से पूजा करें।"

स्तुतियों में भी लिङ्ग को निराकार ब्रह्म का साकार रूप और परमात्मा का बोधक प्रतीक कहा गया है:

---

१. ललितासहस्रनाम (सौभाग्यभास्करभाष्य, बम्बई, शाके १८५७), पृ० १३१ में उद्धृत।
२. लिङ्गपुराण, ९९.८
३. सौरपुराण, ४२.४१ (आनन्दाश्रम संस्कृतग्रन्थावली, पूना, शाके १८११)
४. तत्रैव, ४२.४२

लिङ्गात्मकं हर चराचर विश्वरूपिन् ।[१]

"हे हर ! चर और अचर-रूप संसार ही आपका सांकेतिक प्रतीक (लिङ्ग) है।"

परात्परं परमात्मकलिङ्गम् ।[२]

"लिङ्ग कारण का भी कारण और परमात्मा का रूप है।" ब्रह्म स्थिरलिङ्ग अर्थात् कूटस्थ (निर्विकार त्रिकाल स्थायी सत्ता) है। इसलिए यह स्थायी या स्थाणु है।

दहत्यूर्ध्वं स्थितो यच्च प्राणान् प्रेरयते च यः ।
स्थिरलिङ्गं च यन्नित्यं तस्मात् स्थाणुरिति स्मृतः ॥[3]

"ऊपर रहकर जलाने के कारण, प्राण को प्रेरित करने और नित्य कूटस्थ* (स्थिर) रहने के कारण इनका नाम स्थाणु है।"

उपनिषत् और वेदान्त की तीन ग्रन्थियों के अधिष्ठाता, तान्त्रिकों के तीन लिङ्ग हैं। ब्रह्मग्रन्थि या मूलाधार में स्वयम्भूलिङ्ग, विष्णुग्रन्थि या अनाहत में बाणलिङ्ग, और रुद्रग्रन्थि या आज्ञाचक्र में इतरलिङ्ग। स्वयम्भूलिङ्ग का विवरण इस प्रकार है :

तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिसलयाकाररूपः स्वयम्भूः ।
विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरचयस्निग्धसन्तानहासी
काशीवासी विलासी विलसति सरिदावर्त्तरूपप्रकारः ॥[४]

"उसके (मूलाधार के) बीच लिङ्गरूप, गलाये हुए सोने की तरह कमल, ऊपर की ओर मुख (छिद्र) वाला, ज्ञान-ध्यान से प्रकट होनेवाला, नूतन पत्र-जैसा आकारवाला, स्वयम्भू है। उसका हास, अनेक बिजली और पूर्णचन्द्रबिम्बों के समूह-जैसा है। यह काशीवासी (शिव) जल के भँवर की तरह है और (मूलाधार में) शोभायमान है।"

यहाँ स्वयम्भूलिङ्ग को जलावर्त्तरूप कहा है। किञ्चित् उन्नत शिलाखण्ड को देखकर शिश्न की क्लिष्टकल्पना की भी जा सकती है, किन्तु सलिलावर्त्त के रूप में यह कल्पना भी असम्भव है। बाणलिङ्ग का विवरण इस प्रकार है :

एतन्नीरजकर्णिकान्तरलसच्छक्तिस्त्रिकोणाभिधा
विद्युत्कोटिसमानकोमलवपुः सास्ते तदन्तर्गतः ।
बाणाख्यः शिवलिङ्गकोऽपि कनकाकाराङ्गरागोज्ज्वलो
मौलौ सूक्ष्म विभेदयुङ् मणिरिव प्रोल्लासलक्ष्म्यालयः ॥[५]

---

१. वेदसारशिवस्तोत्रम्
२. लिङ्गाष्टकस्तोत्रम्
३. महाभारतम्, अनुशासन-पर्व, १५१.१०
४. षट्चक्रनिरूपण, श्लोक ९
५. षट्चक्रनिरूपण, श्लोक २५
* कूटस्थ-कूट = निहाई। निहाई पर रखकर सोने, लोहे आदि को पीटकर नाना रूप दिये जाते हैं; पर निहाई ज्यों-की-त्यों निर्विकार बनी रहती है। उसी प्रकार सृष्टिकल्पना का निर्विकार मूल तत्त्व कूटस्थ कहा जाता है।

"इस कमल (अनाहत) के भीतर शक्ति पड़ी हुई है, जिसका नाम त्रिकोण है। यह कोटि विद्युत् के समान कोमल शरीरवाली है। उसके भीतर बाण नामक छोटा-सा लिङ्ग भी है, जो सोने की तरह जगमगाता रहता है। इसके मस्तक पर छोटा-सा छिद्र मणि की तरह है। यह उल्लास की शोभा का आलय है।"

एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं ।
योनौ तत्कर्णिकायामितर शिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम् ।
विद्युन्मालाविलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्र[1] प्रबोधं
वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत्क्रमेण ॥[2]

इस कमल (आज्ञाचक्र) के भीतर सूक्ष्मरूप में प्रसिद्ध मनःशक्ति है। उसकी कर्णिका की योनि (मध्यभाग या त्रिकोण) में इतर शिव का स्थान लिङ्ग-चिह्न के रूप में स्पष्ट है। यह बिजली की माला की चमक-जैसा है, परमा शक्ति (कुल) का निवास है, ब्रह्मज्ञान का बोधक है और वेदों का आदिबीज (ॐकार) है। क्रमशः स्थिर चित्त से इस पर ध्यान करे।"

ब्रह्मवाचक लिङ्ग के ये ही मूलरूप हैं, जिनके आधार पर प्रतिमादि के रूप में बाह्यलिङ्ग की कल्पना की जाती है।

इन लिङ्गों के अतिरिक्त निम्नलिखित लिङ्गों का भी निर्देश, विवरण और प्रयोग मिलता है—इन्द्रलिङ्ग, आग्नेयलिङ्ग, याम्यलिङ्ग, नैऋतलिङ्ग, वारुणलिङ्ग, वायुलिङ्ग, कुवेरलिङ्ग, रौद्रलिङ्ग, वैष्णवलिङ्ग, शिवनाभिलिङ्ग, दैवलिङ्ग, गोललिङ्ग, आर्षलिङ्ग और पार्थिवलिङ्ग।[3]

'योगवासिष्ठ' में देहलिङ्ग और बोधलिङ्ग का विवरण मिलता है :

बाह्यार्थपरिकर्त्तारं सर्वकार्यस्वरूपदम् ॥
देहलिङ्गेषु शान्तस्थं त्यक्तलिङ्गान्तरादिकम् ।
यथाप्राप्त्यर्थसंवित्या बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥
प्रवाहपतितार्थस्थः स्वबोधस्नानबुद्धिमान्
नित्यावबोधार्हणया बोधलिङ्गं प्रपूजयेत् ॥[4]

"सभी कार्यों को स्वरूप देनेवाले, बाहरी विषयों के करनेवाले, शान्त बोधलिङ्ग को जैसा विषय का ज्ञान हो, उसीके द्वारा पूजे। अन्य लिङ्गों का त्याग कर दे। (जगत् के) प्रवाह में पड़े हुए विषयों को देखते-सुनते, अपने ज्ञान में स्नान से शुद्ध होकर, नित्य ज्ञान के लिए बोधलिङ्ग की पूजा करे।"

---

१. ब्रह्मसूत्र—सूत्र-बोधक, पता लगानेवाला। ब्रह्मसूत्र—ब्रह्म का पता देनेवाला, ब्रह्मज्ञान का बोधक।

२. तत्रैव, श्लोक ३३

३. प्राणतोषणी (वंगाक्षर, कलकत्ता, १३३५ साल), काण्ड १, परिच्छेद १

४. योगवासिष्ठ (बम्बई, शाकः १८५९, सन् १९३७ ई०), निर्वाण-प्रकरण (पूर्वार्द्ध), सर्ग ३९, श्लोक ५—७

उपर्युक्त षष्ठ श्लोक पर तात्पर्य प्रकाशव्याख्या इस प्रकार है :

स्वदेहलक्षणेषु लिङ्गेषु। तथाहि पद्माद्यासनस्थःपुरः प्रसारितपाणिर्बद्धाञ्जलिर्देहः शिवलिङ्गाकारो भवतीति प्रसिद्धम्। अतएव त्यक्तं मृद्दारुशिलादिलिङ्गान्तरं आदिपदात् प्रतिमान्तरं च अत्र। शान्ते निर्विक्षेपस्वभावे स्थितं बोधलिङ्गम्।

"अपने देहरूपी लिङ्गों में। जैसे पद्म इत्यादि आसन पर बैठकर हाथ आगे फैलाकर अंजलि बाँधने से शरीर शिवलिङ्गाकार हो जाता है, यह सभी जानते हैं। अतएव मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि के लिङ्गों को छोड़कर। आदि शब्द से 'दूसरी प्रतिमाओं से' भी यहाँ उद्देश्य है। शान्त अर्थात् अचंचल भाव में स्थिर होना बोधलिङ्ग है।"

सुप्तानां प्रबुद्धानां च त्रैलोक्यस्थसर्वप्राणिनां हृदि अनाहतनादात्मना अकारादिमात्रात्रय-शून्यस्य प्रणवनादभागस्य शब्दब्रह्माख्यस्य नित्यं सर्वदैवोच्चारणादङ्गुष्ठपरिमितहृत्पुण्डरीक-च्छिद्रे लिङ्गाकारेण स्थितस्य दहराकाशाख्यस्य शिवस्य मूर्ध्नि भूषणभूता बिन्दुरूपा इन्दुकला उमेत्युच्यते। तथा चोक्तं वायवीय संहितायाम् :

ॐइत्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणः प्रतिपादकम्।
अ उ मेति त्रिमात्राभिः परस्तादर्धमात्रया।
तत्राकारःस्थितोभागे ज्वाललिङ्गस्य दक्षिणे।
उकारश्चोत्तरे तद्वन्मकारस्तस्य मध्यतः।
अर्द्धमात्रात्मको नादः श्रूयते लिङ्गमूर्धनि॥ इति॥

हंसोपनिषदि च 'पूर्वेदले पुण्यमतिः' इत्यादि हृदयपुण्डरीकदलेषु जीवस्य मतिभेदमुक्तवा लिङ्गे सुषुप्तिः पद्मत्यागे तुरीयं यदा हंसो नादे विलीनो भवति तत्तुरीयातीतमिति लिङ्ग-मूर्धस्थे नादे सर्वोपाधि विलये न ब्रह्मप्रतिष्ठा तुरीयातीतावस्थेत्युक्तमिति भावः।[1]

'सोये हुए और जगे हुए त्रिलोक के सभी प्राणियों के हृदय में अनाहत नाद के रूप में अकारादि तीनों मात्राओं से शून्य ॐ नादभाग-रूप शब्दब्रह्म नामक नित्य सर्वदा उच्चारण के कारण, अंगूठा-भर, हृदय-कमल के छिद्र में लिङ्गाकार से स्थित हराकाश नामक शिव के माथे पर भूषणरूप, बिन्दुरूप चन्द्रकला उमा कहलाती है। वायवीय संहिता में कहा है—ॐ यह एकाक्षर ब्रह्म, ब्रह्म का प्रतिपादक है। अ उ म—इन तीन मात्राओं के परे अर्द्धमात्रा के साथ, ज्वालालिङ्ग से दक्षिण अकार स्थित है। उकार उत्तर की ओर और मकार उसके (ज्वालालिङ्ग के) मध्य में है। अर्द्धमात्रारूपी नाद लिङ्ग के माथे पर सुनाई पड़ता है। इति।

"हंसोपनिषत् में भी 'पूर्वे दले पुण्यमतिः' इत्यादि द्वारा हृदयकमल में जीव के बुद्धिभेद को कहकर लिङ्ग में सुषुप्ति और पद्मत्याग में चतुर्थ (कहा है)। जब हंस, नाद में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत है। लिङ्ग के मस्तक पर स्थित नाद में सभी उपाधियों के विलीन हो जाने पर ब्रह्मप्रतिष्ठा (ब्रह्म में मन का स्थिर हो जाना) तुरीयातीतावस्था कही जाती है। यही भाव है।

१. योगवासिष्ठ (बम्बई, सन् १९३७ ई०), निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्द्ध), ८४.१३ की टीका।

लिङ्गनिर्माण और स्थापना की पद्धति से भी इसके यथार्थ रूप का बोध होता है। लिङ्गनिर्माण की विधि इस प्रकार है :

भागमेकं न्यसेद्भूमौ द्वितीयं वेदिमध्यतः।
तृतीयभागे पूजा स्यादिति लिङ्गं त्रिधा स्थितम् ॥
भूमिस्थं चतुरस्रं स्यादष्टास्रं वेदिमध्यतः।
पूजार्थं वर्त्तुलं कार्यं दैर्घ्यान्त्रिगुणविस्तरम् ॥
अधोभागे स्थितः स्कन्दः स्थिता देवी च मध्यतः।
ऊर्ध्वं रुद्रः क्रमाद्वापि ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः ॥
एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयो गुणाः।
एत एव त्रयो वेदा एतच्चान्यत्स्थितं त्रिधा ॥[1]

"लिङ्ग की स्थिति तीन भागों में होती है। एक भाग भूमि में रहे, दूसरा वेदी में और तीसरे भाग पर पूजा हो। भूमि में चतुष्कोण रहे, वेदी में अष्टकोण और पूजा के लिए गोल बनाना चाहिए। (यह गोल अंश) जितना ऊँचा हो उससे तीन गुना इसका घेरा होना चाहिए। निम्नभाग में स्कन्द रहते हैं, बीच में देवी रहती है और ऊर्ध्वभाग में रुद्र हैं अथवा ये भाग क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों गुण हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा और जो कुछ तीन रूपों में वर्त्तमान है।"

इससे स्पष्ट है कि यह अ उ म रूप में ॐकार ब्रह्म का स्थूल रूप है। लिङ्ग के ये तीनों भाग ब्रह्मा, विष्णु और शिव के प्रतीक होने के कारण समस्त रूप में ॐकार के प्रतीक हैं, इसे बराबर दुहराया गया है :

रसमुनिवसुभागे वृत्तकेऽष्टाश्रकेऽन्ते
परिधिरथनवांशे लिङ्गतुङ्गे तु भूयः।
त्रिभिरथ गुणभागैश्च त्रिभिस्तुंगमानं
ह्यजहरिहरभागे तत्तु त्रैराशिकंस्यात् ॥[2]

"लिङ्ग की ऊँचाई में (ऊपरवाला) गोल अंश आठ भाग, (मध्यवाला) अष्टकोण अंश सात भाग और (नीचेवाला) अन्तिम अंश छह भाग और (लिङ्ग की) परिधि नौ भाग होनी चाहिए। यदि ऊँचाई ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीन (समान) भागों में विभक्त हो तो यह त्रैराशिक लिङ्ग हुआ।"

लिङ्गोत्सेधे तु नन्दांशे षट्सप्तवसुभागकैः।
ब्रह्माविष्ण्वीशभागानां क्रमान्नाह्यः प्रकीर्त्तिताः।
लिङ्गं त्रैराशिकं नाम भवेत्सर्वसमे तु तत् ॥[3]

"लिङ्ग की ऊँचाई में छह, सात और आठ अंश क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और ईश ऊँचाई कही गई है। यदि सभी भाग बराबर हों तो उसे त्रैराशिक लिङ्ग कहते हैं।"

---

१. शिवोपनिषत्, अध्याय २, श्लोक ३—६
२. *Elements of Hindu Iconography*, Vol. II, pt. II, Madras, 1916; Appendix B, पृ० २६ में 'मयमत' से उद्धृत।
३. तत्रैव, 'शिल्परत्न', अध्याय ३१ से उद्धृत।

शिवलिङ्ग के अग्रभाग का आकार कैसा होना चाहिए, इसका विधान इस प्रकार किया गया गया है :

लिङ्गशिरोवर्त्तनम्—
शिरसो वर्त्तनमधुना लिङ्गानां वक्ष्यते क्रमशः ।
छत्राभा त्रपुषाभा कुक्कुटकाण्डार्द्धचन्द्रसदृशाभा ।
बुद्बुदसदृशाः पञ्चैवोद्दिष्टा वर्त्तना मुनिभिः ॥[१]

"अब क्रमशः लिङ्ग के मस्तक के निर्माण के विषय में कहा जाता है। मुनियों ने पाँच प्रकार की शिरोवर्त्तना निश्चित कर दी है—छत्राकार, ककड़ी-जैसी, कुक्कुट के अण्डे-जैसी अर्द्धचन्द्राकार और पानी के बुल्ले-जैसी ।"

कुर्वीत त्रपुसीफलाग्रसदृशं छत्रोपमं मस्तकम् ।
बालेन्द्वाकृतिकुक्कुटाण्डसदृशं विप्रादिवर्णक्रमात् ॥[२]

"लिङ्ग के मस्तक को ककड़ी-फल के अग्रभाग-जैसा, छत्राकार, बालचन्द्राकार, और कुक्कुटाण्डाकार क्रमशः विप्रादिवर्ण के विचार से बनावें ।"

छत्राभं त्रपुषाकारं कुक्कुटाण्डनिभं तथा
अर्द्धेन्दुसदृशं चाथ बुद्बुदाभं तु पञ्चमम् ॥[3]

"छत्राकार, ककड़ी-जैसा, कुक्कुट के अण्डे-जैसा, अर्द्धचन्द्राकार और पाँचवाँ बुद्बुद-जैसा ।"

यदि लिङ्ग से शिश्न अभीष्ट रहता तो शिश्नाकार लिखने में कोई बाधा नहीं थी। स्त्री-पुरुषों के अङ्गों के अङ्कन और चित्रण में प्राचीन शिल्पियों ने जैसी निर्द्वन्द्वता दिखाई है, उस दृष्टि से शिश्नाग्रभाग लिखने में उनको जरा भी शङ्का नहीं होती। इसके नहीं लिखने का यही अर्थ है कि यह भावना वहाँ थी ही नहीं।

वेदी से भी लोगों को स्त्रियों के गोप्याङ्ग का भ्रम होता है। वेदी का नाम पट्ट, पीठ और आसन भी है। शिवलिङ्ग की उपासना अभिषेक द्वारा होती है। इसलिए जलाधार और जलमार्ग का बनाना आवश्यक हो जाता है। इससे प्रतिमा को अपने स्थान पर बनाये रखने में स्थिरता आती है। अन्यथा इसके गिर जाने का डर रहता है। नीचे और ऊपरवाले भागों को स्थिर रखने के लिए मध्य में वेदी का निर्माण किया जाता है। इसके बनाने की विधि इस प्रकार दी गई है :

त्रिगुणं लिङ्गविस्तारं त्रिगुणार्द्धं चतुर्गुणम् ।
त्रिविधस्त्वधमादिस्तु पीठविस्तारमुच्यते ॥
विष्णुभागस्य चोत्सेधं पीठोत्सेधं विधीयते ।
अथवा ब्रह्मभागस्य चाष्टांशेन समन्वितम् ॥
पद्मपीठं भद्रपीठंवेदिका परिमण्डलम् ।
पीठं चतुर्विधं प्रोक्तं लक्षणं शृणु साम्प्रतम् ॥

---

१. तत्रैव, पृ० २८—'मयमते त्रयस्त्रिंशाध्याये ।'
२. तत्रैव, पृ० ३१—शिल्परत्ने ।
३. तत्रैव, पृ० ३२

क्रुत्वा षोडशचोत्सेधं द्व्यंशेन च तु पट्टिका।
पञ्चभागं तदूर्ध्वाब्जं दलैः षोडशभिर्युतम्।
दलमर्द्धाङ्गुलोत्सेधं पद्मपीठमिहोच्यते।
जलमार्गं त्रिभागैकं कुर्यात् तत्र विशेषतः।
एवं तु पद्मपीठं हि भद्रपीठमथ शृणु॥ इत्यादि[1]

"पीठ का घेरा तीन प्रकार का कहा गया है—अधमाधि अर्थात् अधम, मध्यम और उत्तम। लिङ्ग के घेरे से तिगुना अधम, त्रिगुण का आधा मध्यम और चतुर्गुण उत्तम है। विष्णुभाग (मध्यभाग) जितना ऊँचा हो, आसन उतना ही ऊँचा हो। अथवा ब्रह्मभाग (निम्नभाग) का आठवाँ भाग सहित (विष्णुभाग के बराबर) आसन हो। पीठ अर्थात् आसन चार प्रकार के कहे गये हैं—पद्मपीठ, भद्रपीठ, वेदिका और परिमण्डल। अब इनके लक्षण सुनिए। (लिङ्ग की) ऊँचाई का सोलह भाग करके उसके दो अंशों की पट्टिका (पीठ) बनावे। उसके ऊपर पाँच भागों का कमल बनावे, जिसमें १६ दल हों। दल आधा अंगुल ऊँचा हो। इसे पद्मपीठ (अर्थात् पद्मासन) कहते हैं। (आसन के घेरे के) तीन भाग में से एक भाग का जलमार्ग बनावे। यह पद्मपीठ हुआ। अब भद्रपीठ के लक्षण सुनिए।" इत्यादि।

पीठभेदाः—मयमते। चतुस्त्रिंशाध्याये।
चतुरस्रं च[2] वस्वस्रं षडश्रं द्वादशाश्रक।
द्विरष्टाश्रं सुवृत्तंच तेषामेवायनान्यपि॥[3]

"पीठों के आकार हों—चतुष्कोण, अष्टकोण, षट्कोण, द्वादशकोण, षोडशकोण और सुन्दर गोलाकार।"

त्रिकोणमर्द्धचन्द्रं च चतुर्दशनिभानिवै।
समानि यानि लिङ्गस्य चाहुः पीठंच संज्ञकम्॥
आयतान्यासनानीति निष्कलानां वदन्तिवै।
त्रिकोणमर्द्धचन्द्रं च निष्कले सकले क्रमात्॥
भद्रपीठं च चन्द्रं च वज्रपीठं महाम्बुजम्।
श्रीकरं (विकरं) पद्मपीठं च महावज्रं च सौम्यकम्
श्रीकामार्थमिति प्रोक्ता नाम्नैता नवपीठिकाः।
स्वनामाकृतियुक्तातु त्रिकोणार्द्धेन्दुसंयुते।
पीठिकानामलङ्कारं क्रमशो वक्ष्यतेऽधुना।
गृहीत्सेधमानांशवशेन विविधेन च॥[4]

---

१. तत्रैव, पृष्ठ ३४-३५; सुप्रभेदागम से उद्धृत।
२. चतुष्कोण-प्रतीक का विवरण प्रासाद-पुरुष-प्रकरण में देखिए। शिवलिङ्ग में लिङ्ग, बिन्दु-स्थान मूलस्तम्भ है, और चतुष्कोण, कारणब्रह्म की स्थिरता का प्रतीक है।
३. तत्रैव, पृ० ४१
४. तत्रैव, पृ० ४२-४३

"चौदह प्रकार के, एक-से त्रिकोण और अर्द्धचन्द्र लिङ्ग के आसन कहलाते हैं। विस्तृत आसन निष्कल (निराकार) के आसन कहलाते हैं। त्रिकोण और अर्द्धचन्द्र क्रमशः निष्कल (निराकार) और सकल (साकार) कहे जाते हैं। भद्रपीठ, चन्द्र, वज्रपीठ[1], महापद्म, श्रीकर, पद्मपीठ, महावज्र, सौम्य—ये सम्पत्ति देनेवाले नौ पीठ कहे गये हैं। अपने-अपने नामानुसार आकृतिवाले त्रिकोण और अर्द्धचन्द्र के साथ तथा उँचाई की नाप के विभागों के अनुसार, आसन की नाना प्रकार की सजावट का अब वर्णन किया जाता है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदी अथवा पीठ का क्या अर्थ है। इसपर भी यदि कोई इसका अर्थ 'स्त्री का उपस्थ' करे तो इसपर तर्क करना व्यर्थ है।

मुखलिङ्ग

निराकार ओंकारस्वरूप ब्रह्म के कल्पित रूप को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए इसपर मुख बना दिया जाता है। कभी इसपर एक, कभी तीन और कभी पाँच मुख बनाये जाते हैं। ब्रह्मैक्य का प्रतीक-स्वरूप एकमुख बनाया जाता है। तीन मुख त्रिगुणात्मक स्वरूप के प्रतीक हैं। इनमें सामनेवाला एक मुख कुछ खुला रहता है या ओज से जगमगाता रहता है। यह रजोगुण है, जो सत्त्व और तमोगुण को जगाये रहता है। इसकी बाईं ओरवाला मुख प्रशान्त मुद्रा में दिखाया जाता है। यह सत्त्वगुण का प्रतीक है। दाहिनी ओरवाला कराल-रूप में दिखाया जाता है। यह संहारक तमोगुण का चिह्न है। विना शिवलिङ्ग के यह मूर्त्ति त्रिमूर्त्ति कहलाती है। पाँच मुखवाले शिवलिङ्ग में चार मुख चारों ओर बने रहते हैं और पाँचवाँ मुख प्रायः नहीं बनाया जाता है। इसका वर्णन इस प्रकार दिया गया है :

> मुखलिङ्गं त्रिवक्त्रं स्यादेकवक्त्रं चतुर्मुखम्।
> सन्मुखं चैकवक्त्रं स्यात् त्रिवक्त्रं पृष्ठके नहि॥
> पश्चिमास्यं स्थितंशुभ्रं कुङ्कुमाभं तथोत्तरे।
> याम्यं कृष्णकरालं स्यात् प्राच्यां दीप्ताग्निसन्निभम्॥
> सद्यो वाम तथाघोरं तत्पुरुषञ्च चतुर्थकम्।
> पञ्चमंच तथेशानं योगिनामप्यगोचरम्॥

"मुखलिङ्ग, तीन मुखवाला, एक मुखवाला और चार मुखवाला होना चाहिए। एक मुखवाले में मुख सामने रहेगा। तीन मुखवाले में मुख पीछे की ओर नहीं रहता। पीछेवाला मुख उजला होना चाहिए। उत्तरवाला लाल, दक्षिणवाला काला, भयकर, और सामनेवाला ज्वालावाली आग की तरह हो। सद्योजात, वामदेव, अघोर और चौथे तत्पुरुष हैं। पाँचवें ईशान हैं, जिन्हें योगी भी नहीं जानते।"[2]

---

१. वज्रपीठ, बुद्ध के वज्रासन को स्मरण कराता है।

२. *Elements of Hindu Iconography*, Madras 1916, Vol. II, Pt. II, पृष्ठ २७ में रूपमण्डन से उद्धृत।

लिङ्ग-भावना का आधार शैव और शाक्त दर्शन हैं। इन दर्शनों के अनुसार सर्वव्यापी अविनाशी तत्त्व में क्षोभ या स्पन्दन होता है, जिससे जलराशि में जलावर्त्त और वायुमण्डल में वातावर्त्त की तरह शब्द के साथ-साथ बिन्दु बनता है और जल की ऊँची तरंग की तरह यह ऊपर उठकर सृष्टि का रूप ग्रहण करता है। बिन्दु से चेतना के इस ऊपर उठने का नाम मूलस्तम्भ[1] है। इसी मूलस्तम्भ से सृष्टि का विस्तार होता है और मूलतत्त्व में लीन होने के पहले सृष्टि इसी में लीन होती है। यही मूलस्तम्भ शैवों और शाक्तों का महाशिवलिङ्ग और बौद्धों के स्तूप और स्तम्भ हैं, जिन पर सृष्टि-शक्ति धर्म के संकेत वृषभ, सिंह, धर्मचक्र और छत्र के रूप में रहते हैं।

ज्योति का सिद्धान्त वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्धों को समान रूप से मान्य है। वैष्णवों के विष्णु ज्योतिःस्वरूप हैं। शैवों का मूल स्तम्भ शुद्ध चेतना का ज्योतिःस्तम्भ है। पर्वताकार पुञ्जीभूत ज्योति से देवी प्रकट होती है[2] और बौद्धों के बुद्ध महाज्योति के पुञ्जीभूतस्वरूप स्तूप और स्तम्भ हैं।

ब्रह्मविद्या के और प्रतीकों की तरह शिवलिङ्ग ब्रह्मोपासना का एक अत्यन्त सरल ब्रह्म-प्रतीक है।

लिङ्गरूप में परब्रह्म की पूजा भारत में कब से प्रचलित हुई, यह कहना कठिन है। श्रीलंका से लेकर अमरनाथ और कैलास तक तथा सिन्धु देश से लेकर असम प्रदेश तक इसका सार्वभौम प्रचार है। कहा जाता है कि हजरत मुहम्मद के पहले अरब देशों में भी इसका प्रचार था। ऐसी स्थिति में इसकी पूजा के प्रारम्भ-काल को निश्चित करने के लिए यथेष्ट सामग्री का नितान्त अभाव है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मोपासना का यह स्वरूप भारत में प्रचलित है।

---

१. क. "पराशक्ति के दशांश से सदाशिव तत्त्व अथवा शिवसादाख्य उत्पन्न होता है। इसे सदाशिव भी कहते हैं। शुद्ध और पराशक्ति से उत्पन्न होने के कारण इसे शिव भी कहते हैं। यह विश्व के अवकाश में बिजली की तरह सूक्ष्म दिव्य ज्योति के रूप में सर्वत्र व्याप्त रहता है।
आदिशक्ति के दशांश से सदाशिव तत्त्व, अमूर्त्त सादाख्य उत्पन्न होता है, जिसे ईशान भी कहते हैं। पराशक्ति की तरह आदिशक्ति भी निराकार है, इसलिए यह द्वितीय तत्त्व अमूर्त्त अर्थात् 'निष्कल' है। यह सादाख्य ज्योति-स्तम्भ की तरह है, जिसका प्रकाश कोटिसूर्य की तरह है। इस स्तम्भ का नाम दिव्यलिङ्ग अथवा मूलस्तम्भ है। सभी वस्तुएँ मूलस्तम्भ से उत्पन्न होती हैं और इसी में समा जाती हैं, इसलिए इसे लिंग (ल=लय, ग=गच्छन्ति, निकलना) कहते हैं।"
—*Elements of Hindu Iconography* : T. Gopinath Rao; Madras, 1916, Vol. II, pt. II, p. 364.

ख. त्रैलोक्यानगरारम्भ मूलस्तम्भाय शम्भवे नमः। (तीनों लोकरूपी नगर की रचना के मूलस्तम्भ शम्भु को प्रणाम।) —बाणभट्ट : 'हर्षचरित', प्रस्तावना

२. दुर्गासप्तशती, अध्याय २

'बौधायन गृह्यसूत्र'[1] और 'निरुक्त'[2] में इसका निर्देश पाया जाता है। कहा जाता है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र ने समुद्र पर सेतु बनाकर उसपर शिवलिङ्ग की स्थापना कर उसकी पूजा की थी और उसका नाम रामेश्वर रखा था। सन्तालपरगना (बिहार) के वैद्यनाथधाम के ज्योतिर्लिङ्ग की कथा के साथ रावण का नाम सम्बद्ध है। कहा जाता है कि रावण ने इसकी स्थापना की थी। भगवान् श्रीरामचन्द्र के समय में लिङ्गपूजा का बहुत व्यापक प्रचार रहा होगा। इसलिए भगवान् और रावण—दोनों ने ही इसकी स्थापना की होगी।

अनेक यूरोपीय विद्वानों ने शिश्नपूजा पर खोज की और अपना-अपना मत दिया। उन्होंने देखा कि यूरोप के देशों में, शिश्न की आकृति के सामने लोग टोना-टोटका करते थे और कुछ लोग अब भी करते हैं। आयरलैण्ड, इंगलैण्ड, ग्रीस, मिस्र, जापानादि सभी देशों में शिश्नपूजा का प्रचार था।

वेस्ट्रौप का कथन है कि ग्रीस, रोम, असीरिया, प्राचीन अमेरिका, जर्मनी, स्लावोनिया फ्रांस आदि देशों में इनके नाम पेरियापस (Periapus), फसाइनम (Fassinum) अथवा प्राइप (Pripe), गाला (Gala) आदि हैं।

सर विलियम जोन्स का कथन है कि मिस्रदेश में ओसिरिस (Osiris) और ईसिस (Isis) की पूजा परमेश्वर और पराशक्ति के रूप में होती है। यह भारत के ईश्वर अथवा ईश और ईशी का रूपान्तर है और केनेडी का कथन है कि ओसिरिस (Osiris) की पूजा शिश्न के रूप में होती है। इन्होंने लिङ्ग शब्द देखा और स्वयंसिद्धि की तरह मान लिया कि भारत में भी लिङ्गपूजा के नाम पर शिश्नपूजा और वेदी के रूप में स्त्री-उपस्थ की पूजा होती है।

इसी मत को प्रामाणिक मानकर श्रीगोपीनाथ राव ने प्राणपण से यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि शिवलिङ्ग शिश्न का प्रतिरूप है। उन्हें लखनऊ संग्रहालय में भीटा नामक स्थान में पाई गई एक मूर्त्ति मिली, जिसे श्रीराखालदास वन्द्योपाध्याय ने ईसा-पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी का बताया। दूसरी शिश्नाकार एक मद्रास के गुडीमल्लम् नामक ग्राम में राव महोदय को मिली, जिन्हें इन्होंने शिवलिङ्ग का आदिरूप बताया और शिवोपासना को शिश्नपूजा सिद्ध करने की यथासाध्य चेष्टा की। हम इन दोनों की परीक्षा करेंगे।

भीटावाली मूर्त्ति एक पत्थर का टुकड़ा है। इसका नीचे का भाग बेढंगा कटा हुआ है और ऊपर के भाग पर चारों ओर मनुष्य का सिर बनाने की चेष्टा की गई है। सिरों

---

१. बौधायन गृह्यसूत्र, ३, २, १६
२. निरुक्त दैवतकाण्ड, १२, ३, ९, ४०
३. क. *Nelson's Encyclopaedia*—Phallus or Phallic Worship.
   ख. Hodder, M. Westrop : *Primitive Symbolism as Illustrated in Phallic Worship.*
   ग. Sir William Jones : *Sanskrit Texts*; Messrs. George. Redway; London, Vol. VI, p. 318.
   घ. Kennedy : *Hindu Mythology*, p. 38.

के ऊपर मालूम होता है कि ककड़ी की आकृति बनाने की चेष्टा की गई है। ऐसा मालूम होता है कि शिवलिङ्ग के नियमानुसार ऊर्ध्वभाग को त्रपुषाकार बनाने की शिल्पी ने चेष्टा की, किन्तु पत्थर टूट गया। इसलिए वेदी और भूमि के भीतर रहनेवाले भाग को उसने चतुष्कोण और अष्टकोण बनाया ही नहीं और साधारण पत्थर की तरह उसे फेंक दिया। राव महोदय त्रपुषाकार ऊर्ध्वभाग को शिश्न का अग्रभाग कहते हैं और सारे पत्थर के टुकड़े को शिश्न की अनुकृति मानते हैं और कहते हैं कि शिश्न-प्रतिमा का यह प्रारम्भिक रूप है। किन्तु यह तो शिश्न की आकृति है ही नहीं। यह तो अधूरा शिवलिङ्ग है। (देखिए चित्र ६६ और ६७)

गुडीमल्लम् वाली मूर्त्ति शिश्न की मूर्त्ति है। इसकी वेदी का भाग न चतुष्कोण है और न षट्कोण। इसमें सात कोण हैं। मूर्त्ति के साथ लगी हुई एक पुरुष मूर्त्ति है। एक मोटे-तगड़े मनुष्य के कन्धों पर इसके पैर हैं। वह मनुष्य बहुत ही प्रसन्न मुद्रमुद्रा में मुस्कुरा रहा है। इसे आप शिव की मूर्त्ति कहते हैं। शिव को कहीं भी नरवाहन नहीं माना गया है। आपका कथन है कि नटराज के अपस्मार पुरुष की तरह यह भी अज्ञान या मोहपुरुष है। नटराज की मूर्त्ति में मोहपुरुष की कमर, शिव के पैर के भार के नीचे टूटती-सी है और मोहपुरुष का नाश हो रहा है, इसलिए वह कष्ट में है। कभी उसकी आँखें बन्द और कभी कष्ट में निकलती हुई-सी दिखाई जाती हैं, किन्तु इस मूर्त्ति में तो वह बड़ा प्रसन्न दिखाया गया है। इसलिए यह मोहपुरुष हो नहीं सकता। यह पुरुष-मूर्त्ति, नीचेवाले नर के कन्धे पर खड़ी है और इसके गुप्ताङ्ग प्रकट हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की, नग्नरूप में कहीं भी पूजा नहीं होती है। इस पुरुष के यज्ञोपवीत नहीं हैं, और केवल दो आँखें हैं और हाथ में गदा-जैसी कोई वस्तु है। यह शिव के प्रसिद्ध त्रिशूल, डमरू, मृग, परशु आदि अस्त्रों में से कोई भी नहीं है। न तो इसके तीन नेत्र हैं और न इसमें यज्ञसूत्र और सर्प हैं। यह शिव की मूर्त्ति तो किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है। यह किस देवता की मूर्त्ति है, जिसकी शिश्नरूप में पूजा होती थी, यह कहना कठिन है। राव महोदय का कहना है कि यह शिव का बहुत प्राचीन रूप है। ये अनार्यों के देवता थे, इसलिए पीछे इन्हें जनेऊ दिया गया और शायद तीसरी आँख भी बना दी गई। यह युक्ति और तर्कहीन हठ-कल्पना है। जब मोहोनजोदड़ों की खुदाई में भी तीन आँखोंवाली पशुपति की मूर्त्ति मिली है, और वेदों में भी त्र्यम्बक शब्द आया है, तब कैसे कहा जाय कि ईसा-पूर्व दूसरी या पहली शताब्दी के बाद शिवजी को ब्रह्मसूत्र दियाा गया और इनकी तीसरी आँख का निर्माण किया गया। यजुर्वेद के १६वें अध्याय के 'शतरुद्रिय' सूक्तों से रुद्राभिषेक किया जाता है। इसमें शिश्न की कहीं चर्चा भी नहीं है। इसलिए यह मूर्त्ति शिव की मूर्त्ति है, ऐसा कहना ठीक नहीं मालूम होता है। यह किस देवता की मूर्त्ति है, जिसकी शिश्नरूप में पूजा होती थी, यह अनुसन्धान का विषय है। (देखिए चित्र ६४ और ६५)

ऋग्वेद में 'शिश्नदेव' शब्द का व्यवहार हुआ है। इसका लोग शिश्नपूजक अर्थ लगाते हैं। निरुक्तकार और सायण—दोनों ने ही इसका अर्थ 'शिश्न को ही आराध्य माननेवाले भोगविलासी' किया है और पूर्वापर परम्परा, संस्कार और साहित्य पर विचार करने से

यही अर्थ ठीक मालूम होता है। भोग-विलास के अर्थ में 'शिश्नोदर' शब्द का स्वच्छन्दता से प्रयोग होता है।

शिश्न के बहुत-से पर्यायवाची शब्द हैं। बोलचाल में लोग कभी उनका व्यवहार नहीं करते। किन्तु, ऋषियों ने लिङ्गपुराण की रचना की। यह ब्रह्मपुराण का दूसरा नाम है। मालूम होता है कि लिङ्गपुराण की रचना के पूर्व ब्रह्मपुराण की रचना हो चुकी थी। इसलिए उस नाम का दो बार व्यवहार न कर ब्रह्मवाची लिङ्ग शब्द का व्यवहार किया गया। जिस शिश्न और उसके पर्यायवाची शब्दों का साधारण बोलचाल और लेख में भी व्यवहार करने में लोग कुण्ठित होते हैं, उसका व्यवहार कर जनता के लिए ऋषियों ने एक पुराण की रचना कर डाली! यह भी विचारणीय है।

शिश्न की यह मूर्त्ति कैसे और कहाँ से आई और इसके लानेवाले कौन थे,—यह विचारणीय है। यूरोप के कुछ लेखक यह सिद्ध कर चुके हैं कि यूरोप और यूरोप के बाहर बहुत-से देशों में शिश्न-पूजा प्रचलित थी और है। यह सिद्ध हो चुका है कि सिकन्दर के भारत में आने के बहुत पहले से ही रोम, ग्रीस, मिस्र, अरब आदि देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। ऐसा हो सकता है कि शिश्न-पूजक देश से ऐसे लोग आये होंगे, जिन्होंने अपने व्यवहार के लिए ऐसी मूर्त्तियाँ बनाई होंगी।[१]

इटली का पम्पियाई नगर, ईसवी सन् से ७८ वर्ष पूर्व विसूवियस ज्वालामुखी के विस्फोट में बहते हुए लावा (lava) में दब गया था। उसकी खुदाई हुई है। उसमें एक सड़क के किनारे एक ताक में एक चित्र है, जिसमें एक पुरुष हाथ में तराजू लिये बैठा है। उसके एक पलड़े में सोने की सीलें हैं और दूसरे में एक पुरुष की कमर से लटकता हुआ उसका शिश्न है। सोनेवाला पलड़ा ऊँचा है और शिश्नवाला झुका हुआ है। प्रदर्शक ने समझाया कि इस चित्र का यही अर्थ है कि मानव-जीवन में शिश्न सोने से भी अधिक मूल्यवान् है।[२] मानव-जीवन में सोने की तुलना शिश्न से नहीं हो सकती। ऐसे लोगों के लिए यह स्वाभाविक होगा कि शिश्न की उपासना करें। हाल में ऐसा प्रमाण भी मिला है कि दक्षिण-भारत में बहुत-से रोमन आ बसे थे या रहते थे। उनकी कब्र भी पाई गई है।[३] यदि उनके साथ शिश्नमूर्त्ति भी पहुँच गई हो तो इसमें क्या आश्चर्य है!

---

१. कलिरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

पिशाचवदनः क्रूरः कलिश्च कलह प्रियः।
वामहस्ते धृतः शिश्नो दक्षे जिह्वां च नृत्यति॥

अर्थात् कलि के बायें हाथ में शिश्न और दाहिने में जिह्वा रहती है।

२. यह चित्र मैंने सन् १९३३ ई० के सितम्बर में देखा था।

3. क. A recent exploration by Union Government has shown that there was an Indo-Roman trading cen.re at 'Nattamedu' in the South Arcot District of Madras State.

—Indian Naticn, Patna, August 10, 1957; p. 5, Column 1.

ख. In those days (B. C. 25 to A. D. 25) a vast interchange of ideas was carried on between the east and the Hellenic and the Roman worlds by means of the newly opened highways.

—A. Gruenwedel : *Buddhist Art in India*, London, 19, p. 78.

इस प्रकार की अबतक केवल एक मूर्त्ति पाई गई है। हो सकता है कि कुछ और भी मिलें। इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि जिस शब्द को लोग मुँह से निकालने में भी लज्जित होते थे और हैं उसकी मूर्त्ति बनाकर उसकी उपासना का सारे भारत के कोने-कोने तथा घर-घर में प्रचार कर दें और लोग इसे मानने भी लगें।

भारतीय सभ्यता के विषय में यूरोपीय विद्वानों का मत बहुत समझ-बूझकर ग्रहण करना चाहिए। इसके अनेक कारण हैं। आरम्भ में भारतीय सभ्यता पर लिखने-वाले अधिकतर पादरी थे। ये अपने कट्टर धार्मिक विचारों से चिपके रहते हैं। दूसरे धर्मावलम्बियों को उपहासास्पद देखने और बनाने में उन्हें स्वाभाविक आनन्द आता है। दूसरे, यूरोप के लोगों का संस्कृत-ज्ञान अत्यन्त साधारण होता है। बहुत-से संस्कृतज्ञ नागरी अक्षर जानते तक नहीं, पढ़ना तो दूर की बात है। तीसरे, ये लोग जहाँ-तहाँ पूछ-ताछ कर सुनी सुनाई बातें लिख मारते हैं। हमलोगों में—विशेष कर अँगरेजी पढ़े-लिखों में—ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे इसे अकाट्य प्रमाणस्वरूप मान लेते हैं। यह प्रवृत्ति अशुद्ध है। चौथे, इनके संस्कार और विचार हमसे सर्वथा भिन्न हैं। इस लिए अपनी दृष्टि से ये केवल हमारे विकृत रूप को देख सकते हैं, प्रकृत रूप को नहीं। विचार की भिन्नता के कारण इनके और हमारे व्यवहार भी इतने भिन्न हैं कि जो इनके लिए शिष्ट है, वह हमारे लिए उपहासास्पद है और जो इनके लिए उपहासास्पद है, वह हमारे लिए शिष्ट और संयत है। अपने समाज, दर्शन और जीवन के गम्भीर तत्त्व जो इनकी समझ के बाहर की चीजें हैं, उनपर, विना परीक्षा किये, इनके मत को मान लेना ठीक नहीं है।

भारतीय सभ्यता और संस्कार का आधार इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मविद्या और ब्रह्मचर्य है। शिश्न-पूजा सर्वथा इसके विपरीत और घृणास्पद है। श्री ई० मी० हैवेल का यह कथन बहुत यथार्थ है कि असभ्यों की शिश्न-पूजा को शिवलिङ्ग से मिलाना अनुचित है।[1]

उत्तर-भारत में लिङ्ग शब्द का शिश्न के अर्थ में व्यवहार होने का एक कारण मालूम होता है। उत्तर-भारत की बोलचाल की भाषाएँ संस्कृतमूलक हैं। बोलचाल की भाषा में शिश्नवाची मेहन, उपस्थ, शेफ आदि शब्द अत्यन्त लज्जाजनक समझे जाते हैं। प्रसंग आने पर शिश्न के लिए लोग पवित्र ब्रह्मवाची लिङ्ग शब्द का सांकेतिक व्यवहार करने लगे; जैसे इन्द्रिय शब्द का भी शिश्न के लिए व्यवहार करते हैं। कालान्तर में यह सांकेतिक प्रयोग रूढार्थ बन गया और मूल शब्द प्रयोग से बाहर हो गये और लोग उन्हें भूल-से गये। इसलिए मेदिनी-कोषकार को लिखना पड़ा कि लिङ्ग शब्द का व्यवहार मेहन के अर्थ में भी हो सकता है—(मेहनेऽपि)।

दक्षिण-भारत में लिङ्ग शब्द का व्यवहार परमात्मा के अर्थ में ही होता है। उड़ीसा में भुवनेश्वर में लिङ्गराज का मन्दिर प्रसिद्ध है। लोगों के नाम लिङ्गराज, महालिङ्ग, लिङ्गस्वामी आदि हुआ करते हैं और इसमें किसी प्रकार की कुण्ठा का भाव नहीं है।

---

1. *The Ancient and Mediaeval Architecture of India, A Study of Indo-Aryan Civilization* : E. B. Havel, London 1915, Chapter on Lingam.

बोध होता है कि दक्षिण-भारत में बोलचाल की भाषा में शिश्न के लिए लिङ्ग शब्द का व्यवहार नहीं होने के कारण इसका अपना अर्थ ज्यों-का-त्यों बना रहा।

शिवलिङ्ग के स्वरूप और पूजा का जो विधान, शास्त्र-पुराण और दैनिक व्यवहार में देखा जाता है, उसमें शिश्न-भावना की कहीं आशङ्का तक नहीं है। ऋग्वेद से 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की जो धारा चल पड़ी, शिवलिङ्ग उसी का एक अत्यन्त सरल और मनोहर रूप है।

अपने वेद, शास्त्र, सिद्धमहापुरुष और ब्रह्मज्ञानियों को देखते हुए शिवलिङ्ग के सम्बन्ध में हमारे आचार-विचार और व्यवहार स्पष्ट हैं। इस विषय में अटकल लगाने-वाले देशी और विदेशी लोगों का मत मान्य नहीं हो सकता। इसका शुद्ध और मनोहर रूप हमारे बीच अपने ज्वलन्त रूप में वर्त्तमान है।

८. श्रीराम

राम भारतीय जीवन और भारतीय सभ्यता के मूलस्तम्भ और विशालस्तम्भ हैं। राम नाम लेते ही भारत की प्रत्येक झोपड़ी से भी इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। इस नाम ने कितने युगों से और कितने रूपों में भारत को नित्य-नूतन जीवन और बल दिया, इसका लेखा करना कठिन है।

भारत में राम दो रूपों में वर्त्तमान हैं—नारायण-रूप में और नररूप में। पहले हम नारायण-रूप पर विचार करेंगे।

नारायण राम

भगवान् राम पूर्णब्रह्म हैं। संसार में अधर्म[1] बहुत बढ़ गया और भय होने लगा कि धर्म उठ जायगा। तब सृष्टि और सज्जनों की रक्षा के लिए प्रभु ने मनुष्य-रूप धारण किया और अधर्मियों का नाश कर धर्म की रक्षा की तथा सबका कष्ट दूर किया। जब-जब ऐसी विपत्ति उपस्थित होती है, तब-तब प्रभु नाना रूप धारण कर धर्म की रक्षा और धर्म के बाधक अधर्म का संहार किया करते हैं और अपनी लीला, इस सृष्टि को बनाये रखते हैं।

अपनी इच्छा से रूप ग्रहण करने के लिए प्रभु कोई निमित्त और साधन चुन लेते हैं और उन्हीं के द्वारा रूप ग्रहण करते हैं। रामावतार में अधर्ममूर्त्ति रावण का संहार कर सृष्टि के नियमों की रक्षा करना निमित्त था और दशरथ तथा कौशल्या को पिता-माता बनाकर इन्होंने रूप ग्रहण किया।[2] मनु-शतरूपा रूप में दशरथ-कौशल्या ने पूर्वजन्म में प्रभु को पुत्ररूप में देखने के लिए बड़ी तपस्या की थी और उनकी इच्छा पूर्ण हुई। धन्य हैं वे प्राणी, जिन्हें प्रभु अपनी इच्छा की सिद्धि के लिए साधन बनाकर सत्कर्म

---

१. धर्माधर्म के रूप के लिए धर्म-प्रकरण देखिए।

२. प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ (मैं अपनी प्रकृति का अवलम्बन कर अपनी माया से प्रकट होता हूँ।)—गी० ४. ६ ॥

करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं, और उन प्राणियों के सौभाग्य का क्या कहना, जिन्हें वे अपने माता-पिता के रूप में ग्रहण करते हैं।

प्रभु जब मनुष्य-रूप ग्रहण कर प्रकट होते हैं तो उनके यथार्थ रूप को, ब्रह्मविद्या के जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी लोग ही पहचान सकते हैं।

चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः ।[1]

"केवल आँखोंवाले लोग ही उन्हें देख पाते हैं, उनको नहीं जाननेवाले और लोग उन्हें नहीं जान पाते।"

वाल्मीकि, भरद्वाज, अगस्त्यादि ब्रह्मज्ञों ने इन्हें तुरत पहचान लिया और इनकी पूजा की, किन्तु औरों ने इन्हें साधारण मनुष्य समझा और कुछ ने अपशब्द तक का भी व्यवहार किया।

बेद, शास्त्र, पुराण और सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य तथा भारत की लोकभाषाओं में फैले हुए राम के ध्येय और उपास्य ब्रह्मरूप का विस्तृत विवरण, संग्रहरूप में अध्यात्म-रामायण में मिलता है :

सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण एष स्वयंज्योतिरनन्तराद्यः ।
मायातनुं लोकविमोहनीयां धत्ते परानुग्रह एष रामः ॥
अयं हि विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः ।
विरञ्चिविष्ण्वीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा ॥[2]

"वही ये परात्मा, पुरुष, पुराण, स्वयञ्ज्योति, अनन्त, आद्य, राम, दूसरों पर अनुग्रह करने के लिए, संसार को मोह लेनेवाला मायाशरीर धारण करते हैं। यही विश्व के विकास और संयम के (कालस्वरूप) एक आत्मा हैं, जो अपनी माया और अपने गुणों पर बिम्बित होकर स्वतन्त्र और पूर्णब्रह्म होने पर भी ब्रह्मा, विष्णु और ईश्वर के भिन्न नाम को धारण करते हैं।"

जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव ।
त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्त्वं जानकी शिवा ॥
ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा ।
भवान् शशाङ्कः सीता च रोहिणी शुभलक्षणा ॥
शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहाऽनलो भवान् ।
यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो ॥
निर्ऋतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा ।
रामस्त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा ॥
वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता ।
कुबेरस्त्वं राम सीता सर्वसम्पत्प्रकीर्त्तिता ॥

---

१. दुर्गासप्तशती, प्राधानिक रहस्य, श्लोक २४
२. अहल्याकृत रामस्तुतिः, अध्यात्मरामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५, श्लोक ४९, ५०

रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत् ।
लोके स्त्रीवाचकं यद्यत् तत्सर्वं जानकी शुभा ॥
पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव ।
तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन ॥[1]

"जगत् का प्रारम्भ माया आपकी गृहिणी हैं। आप विष्णु हैं, जानकी लक्ष्मी हैं; आप शिव हैं, जानकी शिवा हैं; आप ब्रह्मा हैं जानकी वाक् हैं; आप सूर्य हैं, जानकी प्रभा हैं; आप चन्द्र हैं, जानकी शुभलक्षणोंवाली रोहिणी हैं; आप इन्द्र हैं, सीता शची हैं; आप अग्नि हैं, सीता स्वाहा हैं; आप कालरूप यम हैं, सीता संयमिनी हैं; हे जगन्नाथ ! आप निर्ऋति हैं, सीता शुभलक्षणोंवाली तामसी हैं; आप वरुण हैं, जानकी भार्गवी हैं; आप वायु हैं, सीता सदागति हैं; आप कुबेर हैं, सीता सर्वसम्पत् हैं; आप लोकसंहारक रुद्र हैं, सीता रुद्राणी हैं; संसार में जितने स्त्रीवाचक हैं वे जानकी हैं और पुंवाचक सब कुछ आप हैं। इसलिए प्रभो ! तीनों लोकों में आप दोनों को छोड़कर और कुछ नहीं है।"

अयोध्याकाण्ड में वामदेव कहते हैं :

एष रामः परो विष्णुरादिनारायणः स्मृतः ।
एषा सा जानकी लक्ष्मीर्योगमायेति विश्रुता ॥
असौ शेषस्तमन्वेति लक्ष्मणाख्यश्च साम्प्रतम् ।
एष मायागुणैर्युक्तस्तत्तदाकारवानिव ॥
एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माऽभूद्विश्वभावनः ।
सत्त्वाविष्टस्तथा विष्णुर्विश्वजगत्प्रतिपालकः ॥
एष रुद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम् ।
एषा सीता हरेर्माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥[2]

"ये राम, पर, विष्णु और आदिनारायण हैं और ये वही जानकी लक्ष्मी और योगमाया हैं। अभी ये लक्ष्मण नाम से शेष उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं। माया और गुण से युक्त होने के कारण इन्होंने ये रूप ग्रहण किये हैं। रजोयुक्त होने से ये ही विश्वस्रष्टा ब्रह्मा बने, सत्त्वाविष्ट होने से जगत्प्रतिपालक विष्णु और तामस होने से अन्त में जगत्संहारक रुद्र बने। यह सीता, सृष्टि, स्थिति और अन्तकारिणी भगवान् की माया हैं।"

भरत ने जब राम के लौटने के लिए बड़ा हठ किया तब वशिष्ट ने राम का संकेत पाकर एकान्त में भरत को समझाया :

रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा ।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः ॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ॥[3]

---

१. नारदकृत रामस्तुतिः, अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, १. १०, १३-१९
२. तत्रैव, २. ५. ११—१४, २३
३. अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, २.९.४३, ४४

"राम जो साक्षात् नारायण हैं[1] उनसे रावण-वध के लिए ब्रह्मा ने प्रार्थना की। वे दशरथ के पुत्र बने हैं। योगमाया भी जनकपुत्री सीता बनी हैं। शेष भी लक्ष्मण बने हैं और सर्वदा राम के पीछे लगे रहते हैं।"

सृष्टेः प्रागेक एवासीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते॥
त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः॥
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन।
अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते॥
सृष्टिलीलां यदा कर्तुमीहसे रघुनन्दन।
अङ्गीकरोषि मायां त्वं तदा वै गुणवानिव॥[2]

"सृष्टि के पहले कल्पना (रूप) और उपाधि (नाम)-रहित केवल आप थे। आपपर आश्रित और आपका विषय माया-शक्ति कहलाता है। निर्गुण आप (ब्रह्म) को जब माया ढँक लेती है तब वेदान्तवित् आपको अव्याकृत (नामरूप से पूर्ण) कहते हैं। मूल प्रकृति, माया, संसृति, बन्ध इत्यादि नाना प्रकार से (वह) कहा जाता है। रघुनन्दन! जब आप सृष्टिलीला करना चाहते हैं, तो गुणवान् (सगुण, साकार) के रूप में माया को अङ्गीकार कर लेते हैं।"

कबन्धरूपी गन्धर्व राम से कहता है :

सूक्ष्मं ते रूपमव्यक्तं देहद्वयविलक्षणम्।
दृग्रूपमितरत्सर्वं दृश्यं जडमनात्मकम्॥
तत्कथं त्वां विजानीयाद् व्यतिरिक्तमनः प्रभो॥
हिरण्यगर्भस्ते सूक्ष्मं देहं स्थूलं विराट् स्मृतम्॥
भावनाविषयो राम सूक्ष्मं ते ध्यातृमङ्गलम्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च यत्रेदं दृश्यते जगत्॥[3]

"आपके दो रूप अव्यक्त और सूक्ष्म अवर्णनीय हैं। और जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह जड़ है आत्मा नहीं। इसलिए प्रभो! मन को छोड़कर आप और कैसे जाने जा सकते

---

१. क. नर (जीव) का समूह नार। 'नारशब्देन जीवानां समूहः प्रोच्यते बुधैः' (पारमात्मिकोपनिषत्, प्रपाठक १)। उसका अयन, अर्थात् आधार। जिसमें जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और लय हो उसे नारायण कहते हैं।

ख. 'आपो नारा इति प्रोक्ता।' आप को नारा कहा गया है। 'आप' शब्द का यहाँ वैदिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। वेद में आप का इतने अर्थों में प्रयोग होता है—'आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवःस्वरोम्'—आप ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः और ॐ हैं। यह अशेषकारणार्णव है। वह जिसका अयन अर्थात् निवासस्थान है। विष्णु के सगुणरूप का स्थित्याधार उसका अशेष कारणरूप है।

२. अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, ३.२०—२२, ३१

३. तत्रैव, ९.३१—३४

हैं। आपका सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ और स्थूल शरीर विराट्[1] कहलाता है। राम! आपका सूक्ष्म शरीर भावना का विषय है और ध्यान करनेवाले के लिए कल्याणकारी है। वही भूत, वर्त्तमान और भविष्य-रूप है, जिसमें यह जगत् दिखाई पड़ता है।"

राम के विराट् रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्वमेव सर्वकैवल्यं लोकास्तेऽवयवाः स्मृताः।
पातालं ते पादमूलं पार्ष्णिस्तव महातलम्॥
रसातलं ते गुल्फौ तु तलातलमितीर्यते।
जानुनी सुतलं राम उरु ते वितलं तथा॥
अतलं च मही राम जघनं नाभिगं नभः।
उरस्थलं ते ज्योतींषि ग्रीवा ते मह उच्यते॥
वदनं जनलोकस्ते तपस्ते शङ्खदेशगम्।
सत्यलोको रघुश्रेष्ठ शीर्षण्यास्ते सदा प्रभो॥
इन्द्रादयो लोकपालाः बाहवस्ते दिशः श्रुती।
अश्विनौ नासिके राम वक्त्रं तेऽग्निरुदाहृतः॥
चक्षुस्ते सविता राम मनश्चन्द्र उदाहृतः।
भ्रूभङ्ग एव कालस्ते बुद्धिस्ते वाक्पतिर्भवेत्॥
रुद्रोऽहङ्काररूपस्ते वाचश्छन्दांसि तेऽव्यय।
यमस्ते दंष्ट्रदेशस्थो नक्षत्राणि द्विजालयः॥
हासो मोहकरी माया सृष्टिस्तेऽपाङ्गमीक्षणम्।
धर्मः पुरस्तेऽधर्मश्च पृष्ठभाग उदीरितः॥
निमेषोन्मेषणे रात्रिन्दिवा चैव रघूत्तम।
समुद्राः सप्त ते कुक्षिर्नाड्यो नद्यस्तव प्रभो॥
रोमाणि वृक्षोषधयो रेतो वृष्टिस्तव प्रभो।
महिमा ज्ञानशक्तिस्ते एवं स्थूलं वपुस्तव॥[2]

"केवल आप ही सब कुछ हैं और लोक आपके अवयव कहे गये हैं। पाताल आपका चरण-तल है, आपका पार्ष्णि (गुल्फ के नीचे का भाग) महातल और रसातल है, रसातल आपके गुल्फ (घुट्टी) हैं। सुतल जानु, वितल और अतल उरु, पृथ्वी जघन, आकाश नाभि, ग्रह-नक्षत्र उरुस्थल और मह ग्रीवा है। जनलोक मुख, तप ललाट और हे प्रभु रघुश्रेष्ठ! सत्यलोक आपका मस्तक है। इन्द्रादि लोकपाल आपकी भुजाएँ और दिशाएँ कान हैं। दोनों अश्विनीकुमार नाक और अग्नि आपका मुख कही गई है। सूर्य आँख और चन्द्रमा

---

१. विराट् शब्द वि उपसर्ग के साथ राज (राजृ दीप्तौ) धातु से बनता है। इसका अर्थ है विराजमान अर्थात् जो विशेष रूप से दमकता हुआ रूप ग्रहण कर आँखों के सामने उपस्थित हो। जगत् के रूप में विभु के रूप का नाम विराट् है। विशेष विवरण के लिए वाक्प्रकरण देखिए।

२. अध्यात्मरामायण, ३०९. ३६/४५

मन है। आपका भ्रूभङ्ग काल और बृहस्पति बुद्धि हैं। हे अव्यय! रुद्र आपका अहंकार और वेद वाणी हैं। यम दाढ, तारे दाँत, मोहिनी माया हँसी और अपाङ्गचालन सृष्टि है। सामने का भाग धर्म और पश्चाद्भाग अधर्म है। हे रघूत्तम! आँख का खोलना और बन्द करना दिन और रात हैं। प्रभो! सात समुद्र आपका उदर और नदियाँ नसें हैं। प्रभो! वृक्ष और बूटे रोम और वृष्टि आपका वीर्य है। ज्ञानशक्ति आपकी महिमा है। ऐसा आपका स्थूलरूप है।"

इस स्थूलरूप की कल्पना का उद्देश्य इस प्रकार बताया गया है :

यदस्मिन् स्थूलरूपे ते मनः सन्धार्यते नरैः।
अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्न हि किञ्चन॥
अतोऽहं राम रूपं ते स्थूलमेवानुभावये।
यस्मिन्ध्याते प्रेमरसः सरोमपुलको भवेत्॥
तदैव मुक्तिः स्याद्राम यदा ते स्थूलभावकः॥
तदप्यास्तां तवैवाहमेतद्रूपं विचिन्तये॥[1]

"आपके इस स्थूलरूप में मन लगाने से लोग अनायास मुक्ति पा लेते हैं। इससे आगे और कुछ नहीं है। अतः राम! मैं आपके स्थूलरूप की चिन्तना करता हूँ, जिसके ध्यान से प्रेमरस की उत्पत्ति और रोमाञ्च होता है। आपके स्थूलरूप की भावना-मात्र से मुक्ति होती है। वह भी दूर रहे, मैं तो आपके जिस स्थूलरूप की चिन्तना करता हूँ, वह इस प्रकार है :

धनुर्बाणधरं श्यामं जटावल्कलभूषितम्।
अपीच्यवयसं सीतां विचिन्वन्तं सलक्ष्मणम्॥
सर्वे ते मायया मूढास्त्वां न जानन्ति तत्त्वतः।
नमस्ते रामभद्राय वेधसे परमात्मने॥
अयोध्याधिपते तुभ्यं नमः सौमित्रिसेवित।
त्राहि त्राहि जगन्नाथ मां माया मावृणोतु ते॥[2]

"धनुर्बाण, जटा और वल्कल धारण किये हुए सीता-लक्ष्मण-सहित आपका मैं ध्यान करता हूँ। सभी आपकी माया के कारण मोह में पड़े हुए हैं और आपको तत्त्वतः नहीं जानते हैं। रामभद्र को प्रणाम। स्रष्टा परमात्मा को प्रणाम। लक्ष्मण से सेवित आपको प्रणाम। जगन्नाथ! मेरी रक्षा करो, आपकी माया मुझे ढँक न ले।"

किष्किन्धाकाण्ड में बटुरूप हनुमान कहते हैं :

मायया मानुषाकारौ चरन्ताविव लीलया।
नरनारायणौ लोके चरन्ताविव मे मतिः॥[3]

---

१. अध्यात्मरामायण, ३.९.४६—४८
२. तत्रैव, ३.९.४९, ५४
३. तत्रैव, ४.१.१४, १६

"मुझे मालूम पड़ता है कि माया द्वारा मनुष्य-रूप धारण कर नर (जीव) और नारायण (ब्रह्म) लीला के लिए घूम रहे हैं।"

ये ही भाव अध्यात्मरामायण में बार-बार दुहराये गये हैं।[१] ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है शिव ही राम हैं और सीता काली हैं :

रामो ज्ञानमयः शिवः।[२]

कालो राघवरूपेण जातो दशरथालये।
काली सीताभिधानेन जाता जनकनन्दिनी॥[३]

"राम ज्ञानमय शिव हैं। (महा) काल रामरूप में दशरथ के घर उत्पन्न हुए हैं और काली सीता नाम से जनकपुत्री के रूप में उत्पन्न हुई हैं।"

राम शब्द ॐकार का ही रूपान्तर है :

कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च।
नमो वेदादिरूपाय ॐकाराय नमो नमः॥
रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्त्तये॥[४]

"इच्छारूपधारी मायामय राम को प्रणाम। वेदादिरूप ॐकार को नमोनमः। आत्मस्वरूप श्रीधर राम को प्रणाम।"

ॐकार के समस्त रूप ॐ और व्यस्त रूप अ, उ, म की तरह राम और इसका व्याकृत रूप र, अ, म ब्रह्म के समस्त और व्यस्त रूप के वाचक हैं। ॐकार का रामशक्तिव्यूह के रूप में विवरण इस प्रकार है :

अकारादभवद् ब्रह्मा जाम्बवानितिसंज्ञकः।
उकाराक्षरसम्भूत उपेन्द्रो हरिनायकः॥
मकाराक्षरसम्भूत शिवस्तु हनुमान्स्मृतः।
बिन्दुरीश्वरसंज्ञस्तु शत्रुघ्नश्चक्रराट् स्वयम्॥
नादो महाप्रभुर्ज्ञेयो भरतः शङ्खनामकः।
कलायाः पुरुषः साक्षाल्लक्ष्मणो धरणीधरः॥
कलातीता भगवती स्वयं सीतेति संज्ञिता।
तत्परः परमात्मा च श्रीरामः पुरुषोत्तमः॥
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्॥[५]

"ॐकार के अकार से ब्रह्मा जाम्बवान् नाम से हुए, उकार अक्षर से विष्णु सुग्रीव बनकर उत्पन्न हुए, मकाराक्ष से शिव हनुमान-रूप से उत्पन्न हुए, ईश्वर नामक बिन्दु स्वयं-चक्रराट् शत्रुघ्न हुए। नाद को महाप्रभु शङ्ख नामक भरत जानना चाहिए। कलापुरुष धरणी-

---

१. अध्यात्मरामायण, किष्किन्धाकाण्ड, ७.१६.१८; युद्धकाण्ड २.३४, ३५; ४.४०
२. तत्रैव, ६.७.६८
३. तत्रैव, ६.२.३४, ३५
४. रामपूर्वतापिन्युपनिषत्, श्लोक १२, १३
५. तारसारोपनिषत्।

धर (शेष) साक्षात् लक्ष्मण हैं। कलातीता स्वयं भगवती का नाम सीता है। इन सबके कारण (तत्पर:) परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीराम हैं। अविनाशी ॐ यह सब कुछ है।"

इसी भाव को आगे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :

अकारवाच्य: ब्रह्मस्वरूपो जाम्बवान् १, उकारवाच्य उपेन्द्रस्वरूपो हरिनायक: २, मकारवाच्य: शिवस्वरूपो हनुमान् ३, बिन्दुस्वरूप: शत्रुघ्न: ४, नादस्वरूपो भरत: ५, कलास्वरूपो लक्ष्मण: ६, कलातीता भगवती सीता चित्स्वरूपा ७, ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायण: स भगवाँस्तत्पर: परमपुरुष: पुराणपुरुषोत्तमो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्ताद्वयपरिपूर्ण: परमात्मा ब्रह्मैवाहं रामोऽस्मि भूर्भुव: स्वस्तस्मै नमोनम:।[1]

अकार से जिनका बोध होता है वे ब्रह्मा जाम्बवान् हैं, उकार विष्णुस्वरूप कपिनायक सुग्रीव का बोधक है, मकार शिवस्वरूप हनुमान् का बोधक है। बिन्दुरूप शत्रुघ्न हैं, नादरूप भरत हैं, कला (प्रकृति-सृष्टि)-रूप लक्ष्मण हैं, कला से भी आगे चेतनारूपी भगवती सीता हैं। ॐ जो श्रीपरमात्मा, नारायण, भगवान्, तत्स्वरूप, परमपुरुष, पुराण पुरुषोत्तम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परम, अनन्त, एक (अद्वय), परिपूर्ण, परमात्मा, ब्रह्म राम मैं हूँ। भू: भुव: स्व: स्वरूप उसे अनेक प्रणाम।

रामपञ्चायतन भी ॐकार का स्वरूप है :

> अकाराक्षरसम्भूत: सौमित्रिर्विश्वभावन: ।
> उकाराक्षरसम्भूत: शत्रुघ्नस्तैजसात्मक: ॥
> प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भव: ।
> अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रह: ॥
> श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी ।
> उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥
> सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।
> प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिन: ॥[2]

"अकार से विश्वरूप लक्ष्मण, उकार से तैजसरूप शत्रुघ्न और मकार से प्राज्ञरूप भरत उत्पन्न हुए। ब्रह्मानन्दरूप राम अर्द्धमात्रा हैं। श्रीराम के निकट रहने के कारण, जगत् के आधारस्वरूप, सारी सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेवाली मूल प्रकृति सीता हैं। प्रणवरूप होने के कारण ब्रह्मवादी इन्हें प्रकृति भी कहते हैं।"

मानस रामायण के बालकाण्ड में तुलसीदास ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है :

> बन्दौं राम नाम रघुबर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर के ॥
> बिधि हरिहरमय बेदप्रान से। अगम अनूपम गुन निधान से ॥
> महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥[3]

'रघुवर के राम-नाम की मैं वन्दना करता हूँ, जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का हेतु है। यह ब्रह्मा, हरि और हर है और वेद का प्राण है। यह अगम्य (अज्ञेय), अनुपम और सभी

---

१. तारसारोपनिषत्
२. रामोत्तरतापिन्युपनिषत्
३. तुलसीकृत मानस रामायण, बालकाण्ड

गुणों (सत्त्व, रज, तम) का आश्रय है। यह वह महामन्त्र है, जिसे महेश सर्वदा जपते रहते हैं और उपदेश देते हैं कि काशी मुक्ति का कारण है।'

उन्होंने राम को ब्रह्म, सीता को माया और लक्ष्मण को जीव कहा है :

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति पालति हरति पुनि रुख पाइ कृपानिधान की ॥[१]

"वेद के सेतु का पालन करनेवाले राम ! आप जगदीश हैं और जानकी माया हैं, जो कृपानिधान का रुख देखकर सृष्टि, पालन और हरण करती रहती हैं।"

उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥[२]

"दोनों (राम-लक्ष्मण) के बीच सीता कैसी शोभा पाती हैं जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया हो।"

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥
बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज संघाती ॥
नर नारायण सरिस सुभ्राता। जगपालक बिशेष जनत्राता ॥[३]

"राम और लक्ष्मण तुलसीदास को एक-से प्रिय हैं। इनके विषय में कहना, सुनना, स्मरण करना सुन्दर और अच्छा लगता है। अक्षरों का वर्णन करने में प्रेम बढ़ने लगता है। ब्रह्म-जीव की तरह इन दोनों का स्वाभाविक साथ है। नर-नारायण की तरह दोनों प्रिय भाई हैं। लोगों के पालक और विशेषकर भक्तों के रक्षक हैं।"

तुलसीकृत सम्पूर्ण रामायण 'राम' की ब्रह्मभावना से ओतप्रोत है। वे राम को निर्गुण ब्रह्म और सगुण रूप में राजा राम को अपना उपास्य मानते हैं और साकार-निराकार रूप में कोई भेद नहीं मानते।

उपनिषत् में शिवोमारामन्त्रद्वारा शिव और राम के एक ही रूप में पुरश्चरण का विधान है। उसमें राम का ध्यान इस प्रकार है :

रामं त्रिनेत्रं सोमार्द्धधारिणं शूलिनं परम्।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं कपर्दिनमुपास्महे ॥
रामाभिरामां सौन्दर्यसीमां सोमावतंसिकाम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरां ध्यायेत्त्रिलोचनाम् ॥[४]

"त्रिनेत्रवाले, अर्द्धचन्द्र और शूलधारी, पर (कारणस्वरूप) भस्मभूषित सर्वाङ्ग राम-कपर्दी की मैं उपासना करता हूँ।

सौन्दर्य की सीमा, चन्द्र का कर्णाभूषणवाली, पाश-अङ्कुश-धनुर्बाण-धारिणी, तीन नेत्रों-वाली रामप्रिया (सीता) का ध्यान करे।"

---

१. तत्रैव, अयोध्याकाण्ड
२. तत्रैव, अयोध्याकाण्ड
३. तुलसीकृत मानस रामायण, बालकाण्ड, दोहा १६
४. रामरहस्योपनिषत्, अध्याय २

रामशक्तिव्यूह के प्रसंग में एक कथा कही जाती है कि शङ्ख और चक्र विष्णु के हाथ में रहते हैं। उन्हें गर्व हुआ कि भगवान् हमारे ही बल से राक्षसों का संहार करते हैं। माया पैरों के पास बैठी रहती है और शेष को पैर की ठोकर लगती रहती है। इसलिए उनके मन में ऐसा अहंकार नहीं हुआ। इसलिए रावणादि के वध के लिए वन जाते समय भगवान् ने शङ्ख (भरत) और चक्र (शत्रुघ्न) को साथ नहीं लिया।

प्रतीक-रूप में राम ब्रह्म हैं, सीता माया हैं, लक्ष्मण जीव हैं, भरत शङ्ख (शब्दब्रह्म) और शत्रुघ्न चक्र हैं। विष्णुवत् पीताम्बर दिक् है, धनुष काल है और इससे जितने बाण निकलते हैं वे घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि हैं।

लव निमेष परमाण युग, वर्ष कल्प शर चण्ड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदण्ड ॥[1]

"लव, निमेष-भर, युग, वर्ष, कल्प—ये जिनके भयङ्कर बाण हैं, हे मन ! उन राम का भजन क्यों नहीं करते, काल जिनका धनुष है।"

कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम् ॥[2]

"शार्ङ्ग धनुष काल है तथा क्रिया बाण-कोश है।"

इतना विवेचन करने के पश्चात् रावण का स्वरूप आप-से-आप स्पष्ट हो जाता है। रावण शब्द रु धातु से बनता है। इसका अर्थ है शब्द करना। जो हल्ला वा घोर शब्द करता हो वह रावण है। जो स्वयं शब्द करे वा दूसरों से शब्द करावे वह रावण है। जो गर्व से उन्मत होकर स्वयं शब्द करता है और अपने साथियों में दम्भ भरकर उनसे, अथवा कष्ट पहुँचाकर दूसरों से शब्द कराता है, वह रावण है।

सृष्टि के आदिरूप माया के दो रूप कहे गये हैं—विद्यामाया और अविद्यामाया। विद्यामाया आनन्द और मोक्ष प्रदान करती है और अविद्यामाया कष्ट तथा बन्धन का कारण है। मोह, मदादि इस अविद्या के नाना रूप हैं। प्रभु इनका नाश कर जगत् वा बद्ध जीवों का उद्धार करते हैं। जगत् के सभी रूपों के अन्तर्गत यही सिद्धान्त है। जीव के बन्धन का कारण मोह है और विश्वव्यापी अविद्या वा मोह का नाम महामोह है। ब्रह्म-प्रतीकों के साथ यही महामोह नाना रूप से सम्बद्ध रहता है। जो महामोह विष्णु का हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, शिव का त्रिपुर, अन्धक और गजासुर, तथा दुर्गा का महिष, चण्ड-मुण्ड, शुम्भनिशुम्भादि है वही राम का रावण-कुम्भकर्ण, कृष्ण का कंस-शिशुपाल और भगवान् बुद्ध का मार है। अविद्या अर्थात् प्रचण्ड महामोह की विश्वव्यापी शक्ति और प्रभाव ही रावण के दशमुख हैं, जो दसों दिशाओं में व्याप्त हैं। यह महामोह के सर्वव्यापित्व का लक्षण है।[3]

राजा राम और ब्रह्म राम का सामञ्जस्य इस प्रकार दिखाया गया है :

---

१. मानस रामायण, लंकाकाण्ड, मङ्गलाचरण
२. भागवत, १२.११.१५
३. रावण के ऐतिहासिक रूप का विवेचन नर-राम-प्रकरण में आगे किया जायगा।

राम सकुल रण रावण मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा।
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती ॥[1]

"राम ने कुल-समेत रावण को मार डाला और सीताजी के साथ अपनी नगरी में लौट आये। सेवक प्रेमसहित नाम का स्मरण कर अनायास मोह-समूह को जीत लेता है।"

मानस रामायण में रामकथा के प्रतीकों का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
ऋषि हित राम सुकेतु सुताकी। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी ॥
सहित दोष दुख दास दुराशा। दलै नाम जिमि रविनिशि नाशा ॥
भंज्यो राम आप भव चापू। भवभय भंजन नाम प्रतापू ॥
दंडक वन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किय पावन ॥
निशिचर निकर दले रघुनन्दन। नाम सकल कलिकलुष निकन्दन ॥
शबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुणगाथ ॥
राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा ॥
नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। करहु विचार सजन मन माहीं ॥

एतदनुसार अहल्या दुष्ट दुर्बुद्धि है; ताड़का, मारीच, सुबाहु और उसकी सेना दोष, दुःख और दुराशा हैं; महादेव का धनुष संसार का भय है; दण्डक वन भक्तों का हृदय है; राक्षसों का दल कलिकलुष है; शबरी, जटायु आदि असंख्य पतित जीव हैं और सागर, जिस पर सेतु बनाया गया है, भवसिन्धु है।

नर राम

इतना विवेचन हो जाने पर यह प्रश्न उठता है कि राम केवल काल्पनिक पुरुष हैं अथवा दशरथनन्दन अयोध्यापति राम कोई राजा हुए हैं। यदि ये कोई राजा हुए तो फिर ये ब्रह्म कैसे हुए?

हम कह चुके हैं कि भारतीय धर्मग्रन्थों और परम्परा में ऐसी पद्धति है और लोगों का विश्वास है कि ब्रह्म अपनी इच्छा से कोई भी रूप धारण कर सकते हैं। साधारण जीवों जैसा रूप रहने पर भी, जीवों की तरह उनपर कर्मबन्धन नहीं रहता। अपनी इच्छा से वे प्रकट होते हैं और तिरोहित हो जाते हैं। माया का आवरण अपने ऊपर डालकर वे रूप ग्रहण करते हैं। जो मायाग्रस्त अर्थात् काम-क्रोधादि के वश में हैं, वे उसके उस आवरण के भीतरवाले सच्चे रूप को देख नहीं सकते, किन्तु जो आत्मशक्ति के विकसित रहने के कारण माया के भीतर देख सकते हैं वे उन्हें पहचानकर जीवन को सार्थक समझते हैं। कैकेयी, मन्थरादि ने राम को घर से निकाल दिया और राक्षसों ने मार डालने की चेष्टा की; क्योंकि उन्होंने उनके यथार्थ रूप को नहीं पहचाना। किन्तु ऋषिमुनिगण उनके इस माया के आवरणवाले रूप को देखकर चकित और मुग्ध हो गये और इनका ध्यान और पूजन कर उन्होंने अपने को कृतकृत्य समझा। सभी अवतारों के अन्तर्गत ये ही सिद्धान्त हैं।

चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः।

१. मानस रामायण, बालकाण्ड।

"आँखोंवाले देख सकते हैं, अन्य अज्ञ लोगों को सूझता ही नहीं है।"

भगवान् श्रीरामचन्द्र के ऐहिक अस्तित्व के विषय में बहुत-से यूरोपीय विद्वानों ने नाना प्रकार की अटकलें लगाने की चेष्टा की है और सिद्ध करना चाहा है कि श्रीराम नामक कोई ऐतिहासिक पुरुष हुए ही नहीं, और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातें काल्पनिक और निराधार हैं। अपने-अपने समाज और सभ्यता के अनुसार किसी वस्तु को देखने की, प्रत्येक जाति और व्यक्ति की अपनी-अपनी आँखें होती हैं। कोई विदेशी, जिसका भारतीय सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह भारतीय विचारधारा की सूक्ष्मताओं को समझ लेगा, ऐसा सोचना बेढंगी बात है। संस्कृत-साहित्य से पूर्ण परिचय नहीं रहने से, भारतीय सभ्यता की गूढ़ता नहीं समझ सकने के कारण, उनमें ऐसी भ्रान्ति का होना स्वाभाविक है। उनकी तीसरी कठिनाई है उनके पठन-पाठन की विचित्र पद्धति। किसी वस्तु को तोड़-फोड़कर विश्लेषणात्मक रीति और आधुनिक इतिहास की पद्धति से छान-कर वे 'विशेष अध्ययन' द्वारा सत्य तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। इस पद्धति से उन्होंने राम-कृष्णादि को ही नहीं, खिस्त के अस्तित्व को भी उड़ा दिया।[1] जड़ विज्ञान के अध्ययन में यह पद्धति काम कर सकती है, पर विचार और सभ्यता के अध्ययन के लिए यह घातक है। यह उनका नहीं, उनकी दूषित पठन-पाठन की पद्धति का परिणाम है। सारांश यह, कि भारतीय विषयों में उनके कथनों को जाँचने की आवश्यकता है। उन्हें वेदवाक्य की तरह स्वीकार कर लेना ठीक नहीं।

रावण के दस मुख और बीस भुजाएँ, हनुमान का समुद्र लाँघना, बन्दरों का पहाड़ उठाना, समुद्र पर पुल बनाना, आदि को पढ़कर, ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है कि ये कवि-कल्पनाएँ हैं और इनके भीतर कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं है।

रामकथा इतनी पुरानी है कि इसके काल का अबतक निर्णय नहीं हो सका है और न इसकी सम्भावना है। वाल्मीकि-रामायण रामकथा पर आश्रित आदिकाव्य है। जर्मन विद्वान् हर्मन् याकोबी का कहना है कि इसका भी रचनाकाल विक्रम से पूर्व ६०० वर्ष से इधर नहीं हो सकता। इतने दीर्घकाल में रामकथा का अवलम्बन कर कितनी रचनाएँ हुईं अथवा वाल्मीकि-रामायण में ही कितने प्रक्षेप हुए और मूलकथा में कितने परिवर्त्तन हुए इसका निर्णय करना असम्भव है। इतना होने पर भी रामकथा के ऐतिहासिक तथ्यों का सर्वथा लोप न हो सका है। वे अब भी वाल्मीकि-रामायण में पाये जाते हैं।

रावण

इसपर विचार हो चुका है कि ब्रह्म राम सर्वव्यापी प्रबल अविद्या और उसके परिवार का किस प्रकार नाश करते हैं। किसी वस्तु के सर्वव्यापित्व का बोध कराने के लिए

1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ११वाँ संस्करण, यीसू खिस्त पर लेख देखिए। लेखक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि खिस्त नामक कोई पुरुष हुए ही नहीं। यीसू खिस्त किसी का नाम नहीं है, वह ज्ञानी ऋषि जैसी उपाधि-मात्र है।

उसको चतुःशीर्षा, दशशीर्षा वा सहस्रशीर्षा कहना स्वाभाविक है। रावण का दशमुखत्व इसी सर्वव्यापित्व का बोधक है। जब मुख दस हुए तो भुजाएँ स्वतः बीस हो जाती हैं। यह रूप-कल्पना साधकों ने परमार्थ-सिद्धि के लिए की।

रामकथा के लौकिक रूप में रावण के एक ही मुख और दो भुजाओं आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। रामकथा के आदिग्रन्थ वाल्मीकि-रामायण में रावण के एक शिर, दो आँखें, दो कान, दो भुजाओं आदि का उल्लेख है।

एकमुख

हनुमान् सीता को खोजते हुए रावण के शयन-गृह में गये। वहाँ उन्होंने देखा :

तस्य राक्षसराजस्य निश्चकाम महामुखात्।
शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद्गृहम्॥
मुक्तामणिविचित्रेण काञ्चनेन विराजता।
मुकुटेनापवृत्तेन कुण्डलोज्ज्वलिताननम्॥[1]

"उस सोये हुए राक्षसराज के बहुत बड़े मुख से निःश्वास निकला, जिससे सारा कमरा भर-सा गया। कुण्डलों से उसका मुख चमक रहा था। विचित्र मुक्तामणिवाला उसका मुकुट उससे हटा लिया गया था।"

यहाँ मुखात्, मुकुटेन और आननम् शब्दों का प्रयोग एकवचन में किया गया है।

राम का जब रावण से युद्ध होने लगा तब राम ने कहा :

अद्य ते मच्छरैश्छिन्नं शिरोज्वलितकुण्डलम्।
क्रव्यादा व्यपकर्षन्तु विकीर्णंरणपांसुषु॥[2]

"आज मेरे बाणों से कटा हुआ और कुण्डलों से चमकता हुआ तेरा शिर रणभूमि में मांसभक्षी जीव घसीटें।"

यहाँ शिरः और उसके विशेषण छिन्नम् और ज्वलितकुण्डलम् का एक वचन में प्रयोग हुआ है।

रावण के मारे जाने पर उसकी स्त्रियों में से कोई मूर्च्छित हो गई और कोई अपनी गोद में उसका शिर रखकर मुख देख-देखकर रोने लगी :

हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागमत्।
काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती॥[3]

यहाँ वदनम्, शिरः और मुखम् का एकवचन में ही प्रयोग हुआ है।

मरे हुए रावण को विभीषण ने देखा कि सूर्य की तरह चमकता हुआ उसका मुकुट गिर गया है :

मुकुटेनापवृत्तेन भास्कराकारवर्चसा॥[4]

---

१. रामायण, सुन्दरकाण्ड, १०. २४, २५
२. तत्रैव, युद्धकाण्ड, १०३. २०
३. तत्रैव, युद्धकाण्ड, ११०. १०
४. तत्रैव, युद्धकाण्ड, १०९. ३

यहाँ मुकुटेन और उसके विशेषण अपवृत्तेन का प्रयोग एकवचन में हुआ है।
मृत रावण को देखकर मन्दोदरी कहती है :

हा राजन् सुकुमारं ते सुभ्रु सुत्वकसमुन्नतम्।
कान्तिश्रीद्युतिभिस्तुल्यमिन्दुपद्मदिवाकरैः ॥
किरीटकूटोज्ज्वलितं ताम्रास्यं दीप्तकुण्डलम्।
मदव्याकुललोलाक्षं भूत्वा यत्पानभूमिषु ॥
विविधस्रग्धरं चारु वल्गुस्मितकथं शुभम्।
तदेवाद्य तवैवं हि वक्त्रं न भ्राजते प्रभो ॥
रामसायकनिर्भिन्नं रक्तं रुधिरविस्रवैः ॥
विशीर्णमेदोमस्तिष्कं रूक्षं स्यन्दनरेणुभिः ॥[1]

"हा राजन्! आपका सुकुमार, सुन्दर भौंह और चर्मवाला पुष्ट कुण्डल और मुकुट से जगमगाता हुआ मुख, जो कान्ति श्री और द्युति में चन्द्र, पद्म और सूर्यतुल्य था, पानगृह में जिसकी आँखें मद से व्याकुल होकर घूमती थीं, जिस पर नाना प्रकार की मालाएँ पड़ी रहती थीं और मन्द मुसकान के साथ जिससे सुन्दर बातें निकलती थीं, प्रभो! आज आपका वह मुख शोभाविहीन हो गया। आज वह राम के बाणों से छिन्न-भिन्न हो गया है, उससे रक्तस्राव हो रहा है, उससे मेद और मस्तिष्क निकल पड़े हैं और रथों की धूल से वह रूखा हो गया है।"

इसमें मुखवाची आस्यम् और वक्त्रं का तथा इनके विशेषणों का सर्वत्र एकवचन में ही प्रयोग हुआ है।

द्विनेत्रत्व

अशोकवन में रावण के प्रेम-प्रस्ताव करने पर सीता ने रावण को कठोर वचन कहे। इसपर क्रुद्ध होकर रावण ने उनकी ओर देखा।

सीताया वचनं श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः।
विवृत्य नयने क्रूरे जानकीमन्ववैक्षत ॥[2]

यहाँ 'नयने' और इसके विशेषण 'क्रूरे' का द्विवचन में प्रयोग हुआ है।

महावीर ने अशोकवन का ध्वंस कर दिया। यह समाचार जब रावण को मिला तब वह आग में डाले हुए घी की तरह क्रोध से जल उठा। क्रोध के मारे उसकी आँखों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं। मालूम होता था कि दीप से तेल की जलती हुई बूँदें टपक रही हैं :

राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।
हुताग्निरिव जज्वाल कोपसंवर्त्तितेक्षणः ॥

---

१. रामायण, युद्धकाण्ड, १२१.३४—३७
२. तत्रैव, सुन्दरकाण्ड, २२-२३

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः ।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ॥[1]

यहाँ विशेषण-समेत 'नेत्राभ्याम्' के द्विवचन में प्रयुक्त होने से स्पष्ट है कि रावण की दो ही आँखें थीं।

द्विकर्णत्व

अशोकवन में सीता के कर्कश वचनों को सुनकर रावण अशोकवन में क्रोध से तनकर खड़ा हो गया :

तरुणादित्यवर्णाभ्यां कुण्डलाभ्यां विभूषितः ।
रक्तपल्लवपुष्पाभ्यामशोकाभ्यामिवाचल ॥[2]

"बालसूर्य के वर्णवाले कुण्डलों से वह विभूषित था। वह उस पर्वत-जैसा मालूम होता था, जो लाल फूल और पत्तोंवाले दो अशोक से विभूषित हो।"

यहाँ 'कुण्डलाभ्याम्' का और इसके विशेषण 'तरुणादित्यवर्णाभ्याम्' का द्विवचन में प्रयोग हुआ है। इससे उसके दो कानों में दो कुण्डलों का होना स्पष्ट है।

द्विभुजत्व

सीता की खोज में हनुमान् ने रावण के शयनगृह में प्रवेश किया और सोये हुए रावण को देखा :

काञ्चनाङ्गदसन्नद्धौ ददर्श स महात्मनः ।
विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ ॥
ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयनसंस्थितौ ।
मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाही रुषिताविव ॥
ताभ्यां स परिपूर्णाभ्यामुभाभ्यां राक्षसेश्वरः ।
शुशुभेऽचलसंकाशः शृङ्गाभ्यामिव मन्दरः ॥[3]

"उन्होंने महात्मा राक्षसेन्द्र की सोने के अङ्गदवाली पड़ी हुई दो भुजाओं को देखा जो इन्द्रध्वज की तरह पड़ी हुई थीं।

"कपि ने पलँग पर पड़ी हुई उसकी दो भुजाएँ देखीं, जो मन्दर के पार्श्व में पड़े हुए और फुफकारते हुए दो अजगर की तरह मालूम होती थीं। उन दोनों पुष्ट भुजाओं के कारण राक्षसेश्वर पर्वत की तरह मालूम होता था। मानों मन्दर पहाड़ और उसके दो शृङ्ग हों।"

---

१. वाल्मीकि-रामायण, सुन्दरकाण्ड, ४२. २२, २३
२. तत्रैव, २२.२८
३. तत्रैव, १०.१५.२१, २२

यहाँ 'भुजौ' और 'बाहू' का और सभी विशेषणों का द्विवचन में प्रयोग हुआ है। यदि रावण की बहुत-सी भुजाएँ होतीं तो जातिवाचक एकवचन अथवा संख्यावाचक बहुवचन का प्रयोग होता, द्विवाचक द्विवचन का नहीं।

रावण के मर जाने पर शोक-संतप्त विभीषण ने उसकी दोनों भुजाएँ अपने हाथों में ले लीं :

उत्क्षिप्य दीर्घौ निश्चेष्टौ भुजावङ्गदभूषितौ ॥[1]

"अङ्गद से विभूषित निश्चेष्ट लम्बी भुजाएँ उठा लीं।"

यहाँ पर भी 'भुजौ' और इसके विशेषणों का द्विवचन में प्रयोग हुआ है।

रावण की स्त्रियों में से भी कोई-कोई भुजाओं को उठाकर भूमि पर उलट-पुलट रही थीं।

उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद्भूमौ सुपरिवर्त्तते ॥[2]

यहाँ भी 'भुजौ' का द्विवचन में प्रयोग हुआ है।

वाल्मीकि-रामायण पर तिलक नामक सुप्रसिद्ध टीका लिखी गई है। 'ददर्श स कपिस्तस्य' इत्यादि पर टीका करते समय टीकाकार ने लिखा है :

अत्र द्विभुजत्वकथनाद्युद्धादि काल एवं विंशतिभुजत्वं दशशीर्षत्वञ्चेति बोध्यम्।

"यहाँ दो ही भुजाओं के कथन से केवल युद्धकाल में ही दस शिर और बीस भुजाएँ जाननी चाहिए।"

रावण के दशशिरत्व और विंशतिभुजत्व का इतना प्रचार हो चुका था कि तिलक-टीकाकार घबरा गया और उसने इस प्रकार व्याख्या की। पर यह व्याख्या भी ठीक नहीं बैठी। युद्धकाल में भी राम ने रावण के एक ही शिर का निर्देश किया। यदि रावण के दस शिर रहते तो राम कहते कि तुम्हारे सभी मस्तकों को काट डालूँगा, केवल एक को काटूँगा, ऐसा नहीं कहते।

ऐसा मालूम पड़ता है कि जनसाधारण में राम के नर-रूप का प्रचार था और ब्रह्मज्ञानी परमार्थसिद्धि के लिए उनके नारायण-रूप का ध्यान करते थे, जिसमें विश्वव्यापी महामोह को महापराक्रमी और अधर्मी दशमुख रावण कहा जाता था। पीछे जब रामकथा के दोनों ही रूपों का प्रचार होने लगा और चमत्कारपूर्ण पौराणिक शैली चल पड़ी, तब नर-नारायण रूप को एक कर देने का प्रयत्न किया गया और नर-नारायण राम तथा एकमुख और दशमुख रावण को मिलाकर एक कर दिया गया। जबतक पुराणों का समाज पर प्रभाव रहा तबतक किसी के हृदय में कोई सन्देह नहीं उठा, किन्तु आज की आलोचना-पद्धति से अध्ययन करनेवालों को रामकथा मनगढ़न्त गप-जैसी मालूम पड़ती है। किन्तु भारतीय जीवन में और साधना-पद्धति में राम का नर-नारायणत्व और रावण का एकमुखत्व और दशमुखत्व ज्वलन्त सत्य है, जिसके द्वारा लोग लोक और परलोक दोनों को ही सुधारते हैं।

---

१. वाल्मीकि-रामायण, युद्धकाण्ड, १०९.३
२. तत्रैव, ११०.९

सागर-संतरण

हनुमान् समुद्र को तैरकर लंका गये थे, लाँघकर नहीं। वाल्मीकि-रामायण में इसका विस्तृत विवरण है। लंका के लिए हनुमान् के प्रस्थान करने के समय लोग कहते हैं :

एष पर्वतसंकाशो हनूमान् मारुतात्मजः।
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम् ॥
यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः।
स तु तस्याङ्गवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ॥
सागरस्योर्मिजालानामुरसा शैलवर्ष्मणा।
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥
विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि।
पुप्लुवे कपिशार्दूलो विकिरन्निव रोदसी ॥
येनासौ याति बलवान् वेगेन कपिकुञ्जरः।
तेन मार्गेण सहसा द्रोणीकृत इवार्णवः ॥
आपाते पक्षिसंघानां पक्षिराज इव व्रजन्।
हनूमान् मेघजालानि प्रकर्षन् मारुतो यथा ॥
प्रविशन्नभ्रजालानि निपतंश्च पुनः पुनः।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च चन्द्रमा इव लक्ष्यते ॥[1]

"यह पर्वताकार और बड़े वेगवाले मरुत्पुत्र हनुमान् वरुणालय समुद्र को तैर जाना चाहते हैं। महाकपि समुद्र के जिन भागों से होकर गये वे उनके अङ्ग के वेग से पागल जैसे मालूम होते थे। चट्टान की तरह चौड़ी छाती से सागर की तरङ्गों पर आघात करते हुए वे बड़े वेग से तैरकर जाने लगे। लवण-महासागर में सागर की तरङ्गों को खींचकर आकाश की ओर फेंकते हुए-से कपिशार्दूल तैरने लगे। ये बलवान् कपिकुञ्जर वेग से जिस मार्ग से जाते हैं उसमें समुद्र, सहसा, दोने की तरह बन जाता है। जिस तरह आकाश-मार्ग में पक्षिराज चलते हैं अथवा मेघ-समूह को छिन्न-भिन्न करती हुई वायु चलती है उसी तरह हनुमान् जा रहे थे। बार-बार छिपते और प्रकट होते हुए हनुमान् बादल में छिपते और प्रकट होते हुए चन्द्रमा की तरह मालूम होते थे।"

जब हनुमान् लङ्का से लौट आये तो लोगों ने कहा :

हनुमान् पुप्लुवे तूर्णं महानौरिव सागरम्।
अपारमपरिश्रान्तश्चाम्बुधिं समगाहत ॥[2]

"हनुमान् अपार सागर को, महानौका की तरह, झट से पार कर गये और कुछ भी नहीं थके।"

---

१. वाल्मीकि-रामायण, सुन्दरकाण्ड १.२९, १.६९, ७०, ७२, ७३; ८१, ८३
२. तत्रैव, ५७.४

हनुमान् जब किनारे लग रहे थे तब उनके हाथों और जंघाओं के वेग का पानी में शब्द, और उत्साह का गर्जन सुनकर बन्दर बड़े प्रसन्न हुए और जहाँ-तहाँ उछलने-कूदने लगे :

तस्य बाहूरुवेगं च निनादं च महात्मनः।
निशम्य हरयो हृष्टा समुत्पेतुर्यतस्ततः॥[१]

लङ्का से लौटकर हनुमान् श्रीराम से मिलने गये। उस युग के वीराग्रणी महापराक्रमी योद्धा भगवान् श्रीराम ने भी कहा :

कृतं हनुमता कर्म सुमहद्भुवि दुर्लभम्।
मनसापि यदन्येन न शक्यं धरणीतले॥
न हि तं परिपश्यामि यस्तरेत महोदधिम्।
अन्यत्र गरुडाद्वायोरन्यत्र च हनूमतः॥[२]

"हनुमान ने ऐसा काम किया, जो इस भूमण्डल पर दुर्लभ है। इस पृथ्वी-तल पर कोई इस बात को मन में भी नहीं ला सकता है। गरुड़, वायु और हनुमान् को छोड़कर ऐसा तो कोई नहीं दीख पड़ता, जो समुद्र तैर जाय।"

श्रीराम-जैसे महापराक्रमी वीर भी हनुमान् के दु:साहसिक कार्य को देखकर चकित हो गये। तिमि, तिमिङ्गिल, मकर (शार्क), अष्टापद (औक्टोपस), समुद्री सर्प आदि भयंकर जीवों से भरे हुए समुद्र में तैरना, मृत्यु के जबड़े में घूमने के समान था। महावीर हनुमान् ने इसकी कोई गणना नहीं की और समुद्र तैर गये। संसार के इतिहास में समुद्र-संतरण-जैसे महासाहस के काम की यह सर्वप्रथम घटना है, जो भारतवर्ष में हुई और जिसे महाबली वज्राङ्गबली ने किया।

सेतु-निर्माण

समुद्र का तैर जाना या उसपर पुल बाँधना सम्भव था या नहीं—यह भी विचारणीय है।

लंका और भारत के बीच ५८ मील समुद्र है। ३५ मील तक मनार और रामेश्वर के टापू हैं और केवल २३ मील समुद्र बच रहता है, जिसका जल बहुत छिछला है। समुद्र के इस अंश में मूँगा की चट्टानें हैं, जिनसे भारत लंका से प्रायः मिला हुआ है। उक्त चट्टानों के बीच कहीं भी इतना जल नहीं है, जिससे कोई बड़ा जहाज निकल सके। लंका को रेल द्वारा भारत के साथ जोड़ देने के लिए अँगरेजों ने सर्वे (नाप-जोख) की थी, जिसके अनुसार ३५ मील रेल मनार तथा रामेश्वर के टापुओं पर २२ मील रेल उक्त मूँगावाली चट्टानों पर और केवल १ मील रेल मनार की खाड़ी पर, जिसमें बहुत कम जल रहता है, अर्थात् कुल ५८ मील रेल बनाने की योजना की गई थी।

१. वाल्मीकि-रामायण, ५७.२४
२. तत्रैव, युद्धकाण्ड, १, २, ३

इसपर निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है :

It (Ceylon) is separated from India on the north-west by the Gulf of Manar, but nearly connected with it by the Manar and Rameshwaram islands and the coral reef called Adam's Bridge. There is no channel across the reef deep enough for a large steamer to pass and surveys have been made for a projected railway to connect India and Ceylon, 35 miles of which would be on the island, 22 miles on the reef and only one mile across the shallow channels.[1]

जब आज लोग इस भूभाग पर रेल बनाने की योजना कर रहे हैं, तब इसपर श्रीराम का पुल बाँधना असम्भव नहीं कहा जा सकता।

आज जब २१ मील इंगलिश चैनेल की खाड़ी को स्त्रियाँ भी तैरकर पार कर जाती हैं तो हनुमान् २३ मील छिछला समुद्र यदि तैर गये तो इसमें कौन-सी विचित्रता है।

रामायण में सेतु बनाने की प्रक्रिया का भी विवरण है :

हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः।
पर्वतांश्च समुत्पाठ्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥[2]

"विशाल शरीरवाले महाबली (योद्धागण), जितना बड़ा हाथी होता है, उतने बड़े पत्थरों को पर्वतों से उखाड़कर यन्त्र से ढोते थे।"

इससे बन्दरों का पहाड़ों को लेकर उड़ना, पीछे के कवियों की कल्पना की उड़ान सिद्ध होता है।

लंका

कुछ लोगों ने यह सन्देह प्रकट किया था कि वर्तमान लंका रावण की लंका नहीं है। इसपर, १९४८ ई० में ओरिएण्टल कान्फरेंस के उद्‌घाटन के अवसर पर श्रीमाधव श्रीहरि अणे महोदय का भाषण पठनीय है। लंका से सम्बद्ध उसका कुछ अंश इस प्रकार है :

रामायण के सुन्दर तथा लंकाकाण्ड में वर्णित लंका आज की लंका से ठीक-ठीक मिलती है।

सिलोन का नगर उरुवेल और रामायण का सुवेल सम्भवतः एक ही है। इसके उत्तर तीन ऊँचे पहाड़ हैं, जिनको रामायण में त्रिकूट कहा है। लंका त्रिकूट शिखर पर स्थित थी, यह सच है। बन्दरबेला, तोतापल्ला, किनिगल पोता और आदम—ये तीनों शिखर एक साथ देखे जा सकते हैं।

न्यूरेलिया से ६ मील पर एक परम रम्य उद्यान है, जिसे आजकल हेगेल-गार्डन कहते हैं। पहाड़ी प्रान्त तथा न्यूरेलिया के लोग इसे अशोक-वन कहते हैं। सारा प्रान्त लाल फूलोंवाले अशोक-वृक्षों से भरा है।

---

१. *The International Geography by Seventy Authors* : Edited by Mill; Sect. III. *Asia* : Macmillan & Co, London, 1907; p. 504.

२. वाल्मीकि-रामायण, युद्धकाण्ड, २२. ५९

न्यूरेलिया से चार मील पर सीता-एलिया है। यहाँ एक धारा पहाड़ी से निकली है, जिसे लोग सीताधारा भी कहते हैं। लंका-प्रवास में सीताजी यहीं रहती थीं। एक हिन्दू महिला ने वहाँ मन्दिर बनवा दिया है, जिसमें राम, सीता और लक्ष्मण की मूर्त्तियाँ स्थापित हैं। उस महिला को ये मूर्त्तियाँ यहीं मिली थीं।

स्वर्गीय सर पी० रामनाथम् ने नमनकूल पर्वत के विषय में विशेष अध्ययन और अनुसन्धान कर यह निश्चय किया कि नमनकूल पर्वत ही रामायण का हनुमानकूल पर्वत है। यह उन्हीं पहाड़ों की श्रेणी है, जहाँ हनुमान् जी ने डेरा डाला था। यहीं पर इला पर्वत है, जिसे रावण-पर्वत कहते हैं।

अविसावेला के निकट सीतावका है। सीतावका का अर्थ है सीता का कटा शिर। मोम की सीता का शिर काटकर मेघनाद ने यहीं रखा था। यहीं कल्याणी गंगा नामक एक धारा बहती है।

कल्याणी के निकट के विहार में विभीषण की एक सिंहासनस्थ मूर्त्ति स्थापित है, जिसकी सभी पूजा करते हैं।

रावणादि पुलस्त्य के वंशज थे। लंका के पुलियनखा नगर का नाम, प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में पुलस्त्यनगर है।

लंका के दक्षिण-पूर्व किनारे पर हमवनतोता नामक पोताश्रय है। इसे लोग हनुमान्-तोता का अपभ्रंश मानते हैं।

गौल पोताश्रय से ४ मील पर समुद्र में एक पर्वत है, जिसे आजकल संजीवी मलाइ या मारुति मलाइ कहते हैं। तमिल में मलाइ पर्वत को कहते हैं। कहा जाता है कि लक्ष्मण के लिए लाई हुई संजीवनी बूटी का बचा हुआ अंश वहीं फेंक दिया गया था। अब भी उसपर बहुमूल्य औषधियाँ पाई जाती हैं और दूर-दूर से वैद्य लोग वहाँ औषधि के लिए जाया करते हैं।

वहाँ के ग्रामगीतों में रामायण की कथा पाई जाती है। कंबूकगम नदी के किनारे एक स्थान का नाम होमग्राम है। कहा जाता है कि इन्द्रजित् यहीं पर होम किया करता था।

लंकानिवासी रामायण को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और इसके लंकाकाण्ड की टीका भी सिंहलभाषा में है।[१]

इससे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वर्त्तमान लंका ही रामायण की लंका है।

वानर

श्रीराम के मित्र सुग्रीवादि और उनकी सेना के योद्धाओं को वानर और भालू कहा गया है। यह इतिहास नहीं, कविकर्म मालूम होता है। बन्दरों और भालुओं को आजतक किसी ने घोंसला तक बनाते नहीं देखा है। फिर वे किष्किन्धा-जैसी नगरी का निर्माण और समुद्र पर सेतु बनाने में यन्त्र-चालन कैसे कर सकते थे। अबतक बन्दरों को तोते की तरह भी

१. इसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए—शिवनन्दन सहाय-कृत 'लंका'; पटना, १९५२

मनुष्य के कण्ठरव का अनुकरण करते नहीं देखा गया है, किन्तु हनुमान् को ब्रह्मज्ञानी महा-पण्डित कहा गया है, जो खूब संस्कृत बोलते थे। मालूम होता है कि इस सभ्य और सुशिक्षित जाति के योद्धाओं की चुस्ती और फुर्ती देखकर लोगों ने इन्हें बन्दर कहना आरम्भ किया होगा। जापानियों की फुर्ती और कूद-फाँद देखकर रूसी उन्हें पीले बन्दर (एलो मंकी) कहते थे, यूरोप के लोग रूसियों को रूसी भालू (रसियन बीयर) कहते हैं और अँगरेजों का नाम जौनबुल (श्रीमान् बैल) था और वे अपने को बृटिश सिंह (लायन) कहा करते थे। इनमें से न कोई बन्दर है न भालू, और न बैल और न सिंह है। ये केवल गुणानुरूप उपनाम-मात्र हैं। बन्दर और भालू शब्दों का प्रयोग भी ऐसा ही मालूम होता है।

गरुड़, वायु और हनुमान्

रामायण की पंक्तियों और विवरणों से मालूम होता है कि भगवान् राम के समय गरुड़ और वायु नामक दो महाबलवान् पुरुष थे, जिनके साथ भगवान् ने हनुमान् की गणना की, जब उन्होंने कहा कि :

न हि तं परिपश्यामि यस्तरेत महोदधिम्।
अन्यत्र गरुडाद्वायोरन्यत्र च हनूमतः॥

मालूम होता है कि पीछे पौराणिकों ने जब चमत्कारपूर्ण अत्यन्त अलंकृत शैली का प्रचार किया, तब गरुड़ को विष्णु के वाहन पक्षी गरुड़ के साथ और वायु को वायुतत्त्व के साथ मिला दिया।

लंका में नागपाश से बद्ध होने पर, राम-लक्ष्मण को उस अस्त्र के बन्धन से मुक्त करने के लिए गरुड़ बुलाये गये। भगवान् ने गरुड़ से कहा :

यथा तातं दशरथं यथाजं च पितामहम्।
तथा भवन्तमासाद्य हृदयं मे प्रसीदति॥[1]

"आपसे मिलकर मेरा हृदय प्रसन्न हो उठा है, मानो मैंने पिता दशरथ और पितामह अज को पा लिया है।"

यह अपने वाहन पक्षी गरुड़ के लिए विष्णु की उक्ति नहीं है। ये एक आदरणीय पुरुष के लिए विनम्र वचन हैं। मालूम होता है कि भगवान् से मिलते समय गरुड़ की अवस्था अधिक हो गई थी। इसलिए भगवान् ने उन्हें पिता-पितामह की तरह सम्बोधन किया।

वायु हनुमान् के पिता थे और उनकी स्त्री का नाम अञ्जनी था।

हनु वा हनू का अर्थ है जबड़ा, ठुड्डी नहीं। मालूम होता है कि महावीर का जबड़ा साधारण लोगों के जबड़ों से अधिक बड़ा था। इसलिए लोग इन्हें हनुमान् अर्थात् विशिष्ट जबड़ावाला कहते थे।

---

१. वाल्मीकि-रामायण, युद्धकाण्ड, ५४.३

राक्षस

राक्षसों के विषय में भी कुछ ऐसी ही बात मालूम होती है। रामायण, महाभारत और पुराणों के राक्षस भी किसी अद्भुत अथवा अस्वाभाविक सृष्टि के द्योतक नहीं हैं। रावण ब्राह्मण था और पुलस्त्य ऋषि का नाती था। स्वयं बड़ा विद्वान्, नीतिज्ञ और पूजा-पुरश्चरण में निपुण था। उसके परिवार में देव, नर, गन्धर्वादि परिवार की स्त्रियाँ थीं। कंस भगवान् कृष्ण का मामा था। भगिना भगवान्, मामा राक्षस और उसके पिता उग्रसेन परम धार्मिक राजर्षि थे। शिशुपाल भगवान् कृष्ण का मौसेरा भाई होने पर भी राक्षस था। जरासन्ध, कंस का श्वसुर और राक्षस था, किन्तु उसका पुत्र सहदेव सुशील और धार्मिक क्षत्रिय था। इससे यही सिद्ध होता है कि राक्षस नामक ब्रह्मा की कोई विचित्र सृष्टि नहीं थी। जीवन के आदर्श और दैनिक व्यवहार में भेद होने से ही लोग मनुष्य और राक्षस कहलाते थे।

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणां च रजसितमस्युद्धव रक्षसाम् ॥[1]

"हे उद्धव! सत्त्वगुण की वृद्धि से देवताओं का, रजोगुण से असुरों का और तमोगुण से राक्षसों का बल बढ़ता है।"

मनु ने राक्षस की परिभाषा इस प्रकार दी है:

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।[2]

"मद्य, मांस, सुरा और आसव को अन्न की तरह व्यवहार करनेवाले लोग यक्ष, राक्षस और पिशाच हैं।"

मनु ने राक्षस-विवाह का विवरण इस प्रकार दिया है:

हित्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥[3]

"मार-काट कर रोती-चिल्लाती कन्या को जो घर से निकाल लावे, यह राक्षस-विवाह की विधि है।"

रावण ने सीता को समझाने-बुझाने के लिए कहा:

स्वधर्मो रक्षसां भीरु! सर्वथैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा ॥[4]

"हे भीरु! परस्त्री-गमन वा बलपूर्वक उन्हें उठा लाना, यह तो सदा राक्षसों का स्वधर्म रहा है। इसमें उन्हें हिचकिचाहट (संशय) नहीं होती।"

आज भी जो लोग धर्माधर्म का विचार नहीं करते, घोर कर्म करने से नहीं हिचकिचाते, बहुत खाते-पीते हैं और हेय जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें लोग घृणा से राक्षस और पिशाच कहते हैं।

---

१. भागवत, ११. २५. १९
२. मनुस्मृतिः, ११.३७
३. तत्रैव, ३.३३
४. वाल्मीकि-रामायण, सुन्दरकाण्ड, २०.५

पिशाच-विवाह के विषय में लिखा है :

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥

"सोई हुई, मद्यपान किये हुई, मद्यपान से अचेत स्त्री से एकान्त में संगम कर जो उसे घर में रख ले वह पापिष्ठ (नीचतम) पैशाच और अधम विवाह है।"

मालूम होता है कि ऐसे ही पतित और पशुप्राय लोगों को लोग राक्षस और पिशाच कहते थे। उनके सींग, पूँछ, बड़े-बड़े दाँत, विकृत मुखादि के जो विवरण अथवा चित्र दिये गये हैं वे उनके नीच और विकृत कर्म के प्रतीक-मात्र हैं।

द्राविड़ रामायण-कथा

तमिल भाषा में एक रामायण है। उसमें दी हुई रामकथा इस प्रकार है :

"द्राविड़ देश के राजा जीमूतवाहन ने शत्रुओं के डर से लंका और पाताललंका के प्रतापी और बलवान् राक्षस राजा भीम की शरण ली। राजा भीम वृद्ध हो गये थे और उन्हें पुत्र नहीं था। राजा भीम ने उसे दत्तक पुत्र बनाया और एक राक्षस-कन्या से विवाह कराकर लंका और पाताललंका का राजा बना दिया। प्रसिद्ध है कि लंका आज का सिलोन है और कन्याकुमारी से लेकर गोकर्ण तक तथा पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच के प्रदेश का नाम पाताललंका था। अर्थात् त्रावणकोर, कुर्ग और कनारा जिलों के कुछ भाग का नाम पाताललंका था। लंका राज्य केवल सिलोन में ही नहीं था, वरन् उत्तर-पूर्व दिशा में आधुनिक त्रिचिनापल्ली तक और उत्तर-पश्चिम में समुद्र-तट तक फैला हुआ था।

इस जीमूतवाहन के वंश में माली, सुमाली और माल्यवान् —ये तीन पराक्रमी राजा हुए। विद्याधर देश के राजा इन्द्र ने उनका राज्य छीन लिया था और उन्हें पाताललंका में आश्रय लेना पड़ा था।

इनमें सुमाली के पुत्र का नाम रत्नाश्रवा था और रावण इसी रत्नश्रवा का पुत्र था। राक्षस-कुल में यह रावण अत्यन्त प्रतापी और दिग्विजयी राजा हो गया है। इसने विद्याधर-देश के राजा इन्द्र को जीतकर लंका के आधिपत्य में सम्मिलित कर लिया। फिर इसने किष्किन्धा राज्य को जीतकर उसके राजपद पर ऋक्षज और सूर्यज को स्थापित किया। सूर्यज के बाली और सुग्रीव, दो पुत्र थे। रावण ने किष्किन्धा राज्य के साथ सम्बन्ध कर लिये। इसके बदले में, उनसे पारितोषिक-रूप में बाली और सुग्रीव से उनकी बहन की मँगनी की। बाली इसपर सहमत नहीं हुआ और सुग्रीव से उसका मतभेद हो गया। इस पर सुग्रीव ने अपना राजपाट अलग कर लिया और रावण के साथ अपनी बहन का विवाह कर निर्विघ्न राज्य करने लगा। वाल्मीकि-रामायण (सुन्दरकाण्ड, सर्ग ५१)[1] में हनुमान् रावण की सभा में गये थे। उस समय उन्होंने रावण को सम्बोधन कर कहा है कि—'हे राक्षसराज ! तुम्हारे सम्बन्धी सुग्रीव ने तुम्हारा कुशल पूछा है।' इससे बोध होता है कि इस वाक्य में 'सम्बन्धी' शब्द उपर्युक्त सम्बन्ध का बोधक है।

---

१. राक्षसेश हरीशस्त्वां भ्राता कुशलम् ब्रवीत्। भ्रातुः शृणु समादेशं सुग्रीवस्य महात्मनः। —सुन्दरकाण्ड, ५१-२, ३
यहाँ रावण को सम्बन्ध में सुग्रीव का भाई (ममेरा, फुफेरा इत्यादि) कहा गया है।

एक समय अपनी स्त्री 'सुतारा' के साथ सुग्रीव की अनबन हो गई। घृणा के मारे राजधानी से दूर किसी स्थान पर (बहुधा ऋष्यमूक पर्वत पर) वह अज्ञातवास करने लगा। इस बीच में एक दुष्ट मनुष्य, सुग्रीव का वेष धारण कर, राजधानी में आकर राज्य करने लगा।

जब सच्ची बात सुग्रीव को मालूम हुई, तब वह चिन्तातुर होकर अपने प्राणप्रिय मित्र, हनुवर देश के राजा और पवनजय के पुत्र हनुमान् की सलाह लेने गया। राजा हनुमान् को अपने दूत द्वारा खबर मिली थी कि कोसलदेश के सूर्यवंशी रामचन्द्र नामक कोई एक अति बलवान् वीर अपने पराक्रमी बन्धु लक्ष्मण के साथ, किसी कारण से वनवास स्वीकार कर, पाताललंका के सामने अरण्य में घूम रहे हैं। इसपर स्वयं वहाँ जाकर उन्होंने रामचन्द्र से भेंट की और अग्नि को साक्षी रखकर सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता कराई। इन्होंने परस्पर एक-दूसरे की सहायता करने की प्रतिज्ञा की। दोनों के बीच यह निश्चित हुआ कि वेषधारी सुग्रीव को मारकर, सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति के पश्चात् वह रामचन्द्र की पत्नी सीता की खोज करने में और उन्हें प्राप्त करने में रामचन्द्र की सहायता करेगा। सच्चे सुग्रीव और वेषधारी सुग्रीव में बहुत समता होने के कारण पहचान के लिए रामचन्द्र ने सच्चे सुग्रीव के गले में एक माला पहनाई और वेषधारी सुग्रीव के साथ युद्ध करके तथा हनुमान् की सहायता से उसे मारकर असली सुग्रीव को राजपद पर स्थापित किया। पीछे सुग्रीव ने सीता की खोज में चारों ओर दूत भेजे।

ये दूत चारों दिशाओं में फेरा लगाकर यह समाचार ले आये कि लंका के राजा रावण ने सीता का हरण किया है। रास्ते में सीता का विलाप सुनकर राजा जटायु ने इस दुष्ट के पंजे से सीता को छुड़ाने की चेष्टा की थी। किन्तु, इसमें उसको यश न मिला और रावण ने उसे मार डाला। इस प्रकार सीता की खोज हुई; फिर प्रश्न उपस्थित हुआ कि रावण के हाथ से किस प्रकार उन्हें छुड़ाया जाय। इसमें राम, लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमान्—इन सबका विचार हुआ कि राजा हनुमान् दुष्ट रावण के पास जायँ और सामोपचार से उससे बातें करके सीता को सौंप देने की बातें करें। इस कार्य के लिए हनुमान् के भेजने की योजना अत्यन्त समीचीन थी, कारण कि हनुमान् रावण की तरह राक्षस-वंश के और रावण के दूर के सम्बन्धी थे। बली होने के अतिरिक्त, अत्यन्त बुद्धिशाली, असामान्य वीर और कुशल वक्ता थे।

इस योजना के अनुसार वे शिष्ट कार्य के लिए निकले। जाने के पहले पहचानने के लिए कुछ निशानी, सीता को बताने के लिए, उन्होंने राम से ले ली। वे महेन्द्र और दधिमुख पर्वत के मार्ग से लंका जा पहुँचे। रावण से मुलाकात कर, जो बात थी, वह कही। किन्तु रावण उन्मत्त था। उसने वह कथन स्वीकार नहीं किया।

शिष्ट प्रयत्न के निष्फल हो जाने पर युद्ध छोड़कर अन्य कोई मार्ग नहीं रहा। तब राम, सुग्रीव और हनुमान् युद्ध की तैयारी करने लगे। सुग्रीव और हनुमान् ने अन्य द्राविड राजाओं की सहायता से बहुत बड़ी सेना एकत्र कर लंका की ओर प्रयाण किया। इस प्रयाण के मार्ग में वेलान्धपुर, सुवेलाचल, हंसद्वीप इत्यादि राज्यों का विस्तार पड़ता था।

उस समय वेलान्धपुर में समुद्र नाम का कोई राजा राज्य करता था। उसने अपने राज्य से मार्ग दिया।"[१]

इस कथा को वाल्मीकि-रामायण की कथा से मिलाकर पढ़ने से बहुत-सी बातें और विशेषकर कवि-कल्पनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। मालूम होता है, राजा सागर ने अपने राज्य से सेना का प्रयाण रोका था, जिससे भगवान् राम से उसका कुछ मनमुटाव हो गया था। पीछे कवि या कवियों ने राजा सागर और जलराशि सागर को एक रूप में दिखलाया।

रामायण की मूल भावना

नर को नारायण-रूप में देखना और नारायण को नरत्व प्रदान करना भारतीय संस्कार और सभ्यता की मनोहर, किन्तु अद्भुत विशेषता है। पूर्णब्रह्म परमात्मा को राम-रूप में और राजा राम को पूर्णब्रह्म के रूप में देखकर प्रत्येक भारत-सन्तान का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। जिनकी प्रतिभा और कल्पना ने इसकी सृष्टि की और जिनकी तपश्चर्या से उन्मीलित दिव्यदृष्टि ने इस रूप को देखा, वे धन्य हैं।

रामायण महाकाव्य, ब्रह्म और जगत् अथवा परमार्थ और प्रपंच की युग्मभावना पर बना हुआ आर्षग्रन्थ है। इन्द्रियपरायणता या बहिर्मुखवृत्ति ही जगत्, अर्थात् प्रपंच, का मूल है। मनुष्य की शक्ति की कहीं सीमा नहीं है। यदि वह अपनी सारी शक्ति को अध्यात्मविहीन केवल प्रपञ्च-सिद्धि में लगा दे, तो सोने का पहाड़ लग जाय, शराब की नदियाँ बहने लगें, मांस अथवा स्वादिष्ट भोजन का ढेर लग जाय और भोग-विलास की कहीं सीमा न रहे और इसका परिणाम होगा संहार।

इन सबकी, अर्थात् घोर प्रपंच-सिद्धि की, पराकाष्ठा के प्रतीक हैं—रावण, कुम्भकर्ण, मेघनादादि और सोने की लंका तथा लंकानिवासियों का अधर्म और विलासमय जीवन। प्रवाद है कि रावण के एक लाख पुत्र और सवा लाख नाती थे, किन्तु दिया देनेवाला भी कोई नहीं रहा।

दूसरी ओर अध्यात्म-जीवन है, जिसका श्रीगणेश आत्मसंयम से होता है और परिणाम है जगत् का अभ्युदय और कल्याण। इसके प्रतीक राम, लक्ष्मण, सीता, भरत, दशरथ, कौसल्यादि हैं। गुरु ने राम से कहा कि स्त्री के बिना अश्वमेध नहीं होगा। श्रीराम ने कहा—तो अश्वमेध नहीं होगा। गुरु ने व्यवस्था दी—स्त्री की मूर्त्ति बनाकर और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर यज्ञ हो सकता है। भगवान् ने कहा—वह मूर्त्ति सीता की होगी। राम और रावण, अर्थात् आध्यात्मिक और प्रपंचमय जीवन, में यही अन्तर है।[२]

---

१. बँगला मासिक पत्र 'बंगाली' के फसली सन् १३२७ के श्रावणवाले अंक में श्रीयुत अमृतलाल शील ने इसपर एक लेख लिखकर प्रकाशित किया था। उसके आधार पर श्रीयुत वासुदेव गोविन्द आप्टे ने यह लेख मराठी 'केसरी' में लिखा था। (यह मूल लेख का अंश है।)
तुलसी-कृत रामायण गुजराती भाषान्तर-सहित संवत् १९८३ में सस्तु साहित्य-मुद्रणालय से प्रकाशित हुआ। उसकी प्रस्तवाना के पृ० ११६-११७ पर इसका गुजराती-रूप प्रकाशित हुआ है, जिसका यह हिन्दी-रूप है। (ग्रन्थकार का निवेदन)

२. कालिदास, रघुवंश, १४

आध्यात्मिक जीवन का परिणाम सार्वभौम और सर्वजनीन अभ्युदय और कल्याण है और मानव-जीवन सब प्रकार से सार्थक होता है।

यह संयम और दुराचार का द्वन्द्व, विद्या और अविद्या का द्वन्द्व है। यह चिरन्तन है, और सृष्टि के साथ इसका आरम्भ हुआ और सृष्टि के साथ ही इसका अन्त होगा। भाव-जगत् में राम-रावण का युद्ध एक अनन्त क्रिया है। इसलिए विद्या और अविद्या की भावना पर आश्रित यह काव्य भी चिरन्तन है।

"यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।"

६. श्रीकृष्ण

राम की तरह कृष्ण भी पूर्णब्रह्म के आविर्भूत रूप हैं। अपने आनन्द में अपने शक्तिमायाव्यूह को लेकर ये जगत् के बद्ध जीवों के उद्धार के लिए प्रकट हुए और जगत् के बाधक अविद्याग्रस्त राक्षसादिकों को हटाने में अपनी लीला का विस्तार किया और शरणार्थी मुमुक्षुजनों के अवलम्बस्वरूप अपनी लीला की गाथा छोड़कर अन्तर्धान हो गये।

वाल्मीकि ने भगवान् राम पर नरत्व का कुछ कठोर आवरण-सा डाल दिया है और सारी रामायण में इन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न महापुरुष के रूप में दिखलाया है। इनके नारायणत्व के विषय में केवल यत्र-तत्र संकेत-मात्र है। ब्रह्मज्ञानियों ने इनके ब्रह्मरूप को प्रकट किया। किन्तु कृष्ण में नरत्व और नारायणत्व इस प्रकार ओतप्रोत है कि इनमें विभेद करना कठिन है। जन्म लेते ही देवकी को विश्वरूप का दर्शन देते हैं। बाल्यकाल से ही राक्षसों का नाश करते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में एक ओर शिशुपाल गालियाँ बक रहा है और दूसरी ओर भीष्म शङ्ख में अर्घ्यद्रव्य लेकर प्रथम पुरुष का अर्घ्य देते हैं। आरम्भ से अन्त तक, कृष्णचरित, नरत्व और ब्रह्मत्व से इस प्रकार अनुस्यूत है कि इसे अलग करना असम्भव है। अलग करने में, यथार्थ रूप से नहीं सोच सकनेवाले जीव घबरा उठते हैं। आध्यात्मिक भावनाओं को जन्तुओं की पञ्च-भूतात्मक शारीरिक क्रियाओं के रूप में देखने से यह महाभ्रम उत्पन्न होता है। किन्तु कृष्णचरित में नरत्व और ब्रह्मत्व अलग हो नहीं सकते। जिन्होंने कृष्ण को ब्रह्मरूप में देखा, उन्हें सिद्धि और मुक्ति मिली और जिन्होंने केवल मनुष्य-रूप में देखा, उन्होंने धोखा खाया। ऐसे ही प्रसंग की ओर लक्ष्य करके तुलसीदास ने कहा कि—

"राम देखि पुनि चरित तुम्हारे।
जड़ मोहहिं बुध होंहि सुखारे॥"

और

"उमा रामगुण गूढ़ पण्डित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ जे हरिविमुख न धर्मरति॥"

नारायण-कृष्ण

श्रीकृष्णचरित से महाभारत और भागवतादि पुराण भरे-पड़े हैं। उनके शक्तिमायाव्यूह-सहित ब्रह्मरूप को उपनिषदों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :

"एकमेवाद्वयं ब्रह्म मायया च चतुष्टयम् ।
रोहिणीतनयो विश्व अकाराक्षरसम्भवः ॥
तैजसात्मकः प्रद्युम्न उकाराक्षरसम्भवः ।
प्राज्ञात्मकोऽनिरुद्धोऽसौ मकाराक्षरसम्भवः ॥
अर्द्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम् ।
कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृती रुक्मिणी ॥
व्रजस्त्रीजनसम्भूतः श्रुतिभ्यो ज्ञानसङ्गतः ।
प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥
तस्मादोङ्कारसम्भूतो गोपालो विश्वसंस्थितः ॥"[1]

"ब्रह्म एक है, दो नहीं। माया से वह चार हो जाता है। अकारात्मक बलराम विश्व हैं, उकारात्मक विश्व तैजस हैं, मकारात्मक अनिरुद्ध प्राज्ञ हैं और अर्द्धमात्रात्मक कृष्ण हैं, जिनमें सबकी स्थिति है। रुक्मिणी जगत् को बनानेवाली कृष्णात्मिका मूल प्रकृति हैं। वेदरूप गोपियों से उत्पन्न ज्ञान-संगत कृष्ण हैं। प्रणवरूप होने के कारण ब्रह्मवादी प्रकृतिरूप भी कहते हैं। इसलिए गोपाल विश्वव्यापी ॐकाररूप हैं।"

स जगद्द्रुमरसः स जगत्पशुपालकः ।
स तन्तुर्भूतमुक्तानां परिप्रोत हृदम्बरः ॥[2]

"वह जगत्-वृक्ष का रस है, वह जगत्पशु का पालक (गोपाल) है। मुक्त की तरह जीवों को एकत्र रखने का वह सूत्र है, हृदय-वस्त्र है।"

"यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी ।
माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी ॥
प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी ।
तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता ॥
अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा ।
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते ॥
निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ।
स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले ॥
वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सह ।
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः ॥
वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः ।
गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः ॥
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः ।
गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारिणः ॥
दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत् ।
दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवेद्द्विजः ॥

---

१. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्, श्लोक १०—१३
२. योगवासिष्ठ, पूर्वार्द्ध, ६.५६.८

रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम् ।
बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात् ॥
शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् ।
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा ॥
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचस्त्रियः ।
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः ॥
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः ।
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै ॥
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ।
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः ।
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ॥
दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः ।
दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ॥
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ ।
संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः ॥
कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
यत्स्रष्टुरीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक् ॥
जयन्ती सम्भवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः ।
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ॥
काश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्मातादितिस्तथा ।
चक्रं शङ्ख च संसिद्धि बिन्दुं च सर्वमूर्धनि ॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः ।
नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥
गदा च कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिवर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥[1]
अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया ।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ।
वृन्दाभक्तिः क्रियाबुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ॥
तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ।
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥
सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद । देहबन्धाद्विमुच्यते । इत्युपनिषत् ।"[2]

"परमानन्द नन्द हैं, मुक्ति उनकी गृहिणी यशोदा हैं। उनकी अजेय वैष्णवी माया के तीन रूप हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी रुद्र है, राजसी ब्रह्मा है और

---

१. ऋग्वेद, पुरुषसूक्त; यजुः, ३१.१४—'ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः'।
२. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत्सु कृष्णोपनिषत्; बम्बई, १९२५ ई०; पृ० ५२२

तामसी असुरों में है। अजेय वैष्णवी माया, जो पहिले अक्षर से उत्पन्न हुई, वह ब्रह्म (कृष्ण) की माता देवकी है, वेद जिसकी स्तुति करते हैं। निगम और वेदार्थ वसुदेव हैं, जो राम और कृष्ण की सर्वदा स्तुति करते हैं, जो गोप-गोपियों के साथ खेलने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। गोपी और गाएँ वेद की ऋचाएँ हैं, ब्रह्म लाठी हैं, भगवान् रुद्र वंशी हैं, इन्द्र सींग हैं, देवगण गाय और बैल हैं, वैकुण्ठ गोकुल और वन है, तापसगण वहाँ के वृक्ष हैं, लोभ, क्रोधादि दैत्य हैं, अपमान कलिकाल है, माया से शरीर धारण करनेवाले साक्षात् हरि गोप हैं, दुर्बोध कुहरे-जैसा यह संसार उनकी माया से मोह में पड़ा हुआ है। वह बड़ी धृष्ट है और देवताओं के लिए भी दुर्जय है। जिसने मायारूपी रुद्र को वंशी बनाया, उसके लिए जगत् क्या है। उसने देवताओं के ज्ञान और बल को क्षण-भर में हर लिया। शेषनाग बलराम हुए और चिरन्तन ब्रह्म कृष्ण हुए। ऋचाएँ गोपियाँ हुईं। द्वेष-चाणूर मल्ल हैं, मत्सर मुष्टिक है, दर्प कुवलयापीड हाथी है और गर्व वकासुर है। दया रोहिणी माता है, पृथ्वी सत्यभामा है, महाव्याधि अघासुर है और कलि राजा कंस है। शम उनका मित्र सुदामा है, सत्य अक्रूर और दम उद्धव है। लक्ष्मीरूप में स्वयं विष्णु मेघ के समान शब्दवाला शङ्ख हैं, जो क्षीर-समुद्र से उत्पन्न हुआ था। दधि लेने में पात्र तोड़कर उन्होंने क्षीर-समुद्र बनाया। दुष्टों के नाश और सज्जनों की रक्षा के लिए वटपत्रशायी की तरह बालक बनकर ये क्षीरसागर में क्रीड़ा करते हैं। सब जीवों पर दया करने के लिए और अपने पुत्र-धर्म की रक्षा करने के लिए ब्रह्मरूप चक्र है। वायु, जयन्ती से उत्पन्न धर्म नामक चँवर है, महेश्वर आग की तरह जलता हुआ खड्ग है। कश्यप ऊखल हैं; माता अदिति रज्जु हैं। शङ्ख और चक्र सब के मस्तक पर (रहनेवाले) सिद्धि के प्रतीक-बिन्दु हैं। बुद्धिमान् लोग देवताओं के जितने रूप बताते हैं, उनमें उसी की स्तुति करते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। शत्रुओं का संहार करनेवाली कालिका गदा है और विष्णुमाया शार्ङ्ग धनुष है। शरत्काल भोजन है। अपनी लीला के लिए हाथ में लिये हुए कमल का नाल संसार का बीज है। गरुड़ भाण्डीर वट हैं, नारद सुदामा हैं और सब जीवों को प्रकाश देनेवाली भक्ति, ज्ञान और क्रिया वृन्दा हैं। इसलिए विभु (सर्वव्यापी) इनसे भिन्न वा अभिन्न नहीं है। स्वर्गवासियों के वैकुण्ठ को उतारकर उन्होंने पृथ्वी पर रख दिया। जो यह जानता है, उसे सभी तीर्थों का फल मिलता है। देहबन्ध से वह विमुक्त हो जाता है। यही उपनिषत् है।"

"ईश्वरः परमः कृष्ण सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्॥
कर्णिकारं महद्यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम्।
षडङ्गषट्पदीस्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च॥
प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं हि यत्।
ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम्॥

तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि ।
चतुरस्रं तत्परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम् ॥
चतुरस्रं चतुर्मूर्त्तेश्चतुर्धाम चतुःकृतम् ।
चतुर्भिः पुरुषार्थैश्च चतुर्भिर्हेतुभिर्वृतम् ॥
शूलैर्दशभिरानद्धमूर्ध्वाधोदिग्विदिक्ष्वपि ।
अष्टभिर्निधिभिर्जुष्टमष्टभिः सिद्धिभिस्तथा ॥
मनुरूपैश्च दशभिर्दिक्पालैः परितो वृतम् ।
श्यामैर्गौरैश्च रक्तैश्च शुक्लैश्च पार्षदैर्वृतम् ॥
शोभितं शक्तिभिस्ताभिरद्भुताभिः समन्ततः ।
एवं ज्योतिर्मयो देवः सदानन्दः परात्परः ॥
आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः ॥
मायया रममाणस्य न वियोगस्तया सह ।
आत्मना रमया रेमे त्यक्तकालं सिसृक्षया ॥
नियतिः सा रमा देवी तत्प्रिया तद्वशंगता ।
तल्लिङ्गं भगवान् शम्भुर्ज्योतीरूपः सनातनः ॥
या योनिः सा पराशक्तिः कामबीजं महद्धरेः ।
लिङ्गयोन्यात्मिका जाता इमा माहेश्वरी प्रजाः ॥
शक्तिमान् पुरुषः सोऽयं लिङ्गरूपी महेश्वरः ।
तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः ॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
सहस्रबाहुर्विश्वात्मा सहस्रांशः सहस्रसूः ॥[1]

"सच्चिदानन्दरूप कृष्ण परमेश्वर हैं। गोविन्द, अनादि, आदि और सभी कारणों के कारण हैं। सहस्रदल कमल ही उनका गोकुल नामक महास्थान है। उनके अनन्त अंशों से निकली हुई उसकी कर्णिका के दल उनके धाम हैं। कर्णिकार महायन्त्र है, जिसमें छह कोण हैं और वज्रकीलक है। प्रकृति और पुरुष के साथ षडङ्ग षट्स्थान हैं। प्रेमानन्द के महानन्द के रस में, ज्योतिरूप कामबीज (क्लीं) मन्त्र के साथ अवस्थित है। उनके अंशों के बने हुए केशर हैं और उनकी श्रियों के बने हुए पत्र हैं। उनके चारों ओर चौकोर अद्भुत श्वेतद्वीप है। यह चतुष्कोण[2], चार मूर्त्ति, चार धाम, चार पुरुषार्थ और चार कारणों से घिरा है। दिशा-विदिशा और ऊपर-नीचे—दसों स्थानों में दस शूलों से, आठ निधि-सहित आठ सिद्धियों से और मन्त्ररूप दस दिक्पालों से घिरा है। श्याम, गौर, रक्त और शुक्ल (अर्थात्, त्रिगुणरूपी) पार्षदों से घिरा है। चारों ओर स्थित इन अद्भुत शक्तियों से सुशोभित है। परात्पर, ज्योतिर्मय, सदानन्द देव ऐसे हैं। अपने ही आनन्द में विभोर उनका प्रकृति से सम्पर्क नहीं है। उस माया के साथ विहार में उनमें कोई क्षोभ नहीं होता। काल-रहित

---

१. योगाशास्त्र, ब्रह्मसंहिता, बंगाक्षर; वसमती प्रेस, कलकत्ता; पृ० ३०७

२. चतुष्कोण के लिए लिङ्गप्रकरण और प्रासाद-पुरुषप्रकरण देखिए।

होकर अपने ही प्रतिरूप रमा के साथ सृष्टि की इच्छा से उन्होंने विहार किया। उनके वश में रहनेवाली उनकी प्रिया रमा देवी ही नियति है। ज्योतिरूप सनातन भगवान् शम्भु उनके साङ्केतिक चिह्न (लिङ्ग) हैं। हरि की पराशक्ति, जो महाकाम बीजस्वरूपिणी (क्लीं) है, वही उद्गमस्थान (योनि) है।[१] महेश्वर की यह सृष्टि इन्हीं लिङ्ग-योनि से उत्पन्न हुई। लिङ्गरूपी महेश्वर ही शक्तिमान् पुरुष हैं। उसमें जगत्पति महाविष्णु लिङ्ग-रूप[२] में प्रकट हुए, जिनके सहस्र मस्तक, सहस्र नेत्र, सहस्र पैर, सहस्र बाहु, सहस्र अंश और सहस्र सन्तति हैं और जो विश्वात्मा हैं।"

कृष्ण पूर्णब्रह्म हैं। उनकी शक्ति राधा माया हैं, जो उनकी चिरसंगिनी हैं।

"सुन्दर त्रयगुण रस की सीमा
सूर राधिका श्याम।"[३]

"सूरदास का कथन है कि राधा और कृष्ण, सुन्दरता, त्रिगुण और महारस की चरम सीमा हैं।"

कृष्ण की राधिका के प्रति उक्ति है :

"ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु।
बातनि भेद करायो॥"[४]

"ब्रज में रहकर अपने को भी भूल गई। जान लेने पर प्रकृति और पुरुष एक ही हैं, भेद केवल (दो) शब्दों का।"

"तब नागरि मन हरष भई।
नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनन्दमई॥
प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूलि गई।
जन्म-जन्म युग-युग यह लीला प्यारी जान लई॥"[५]

और

"सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत युगल स्वरूप॥
सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥"[६]

---

१. इसके सम्बन्ध में लिङ्ग और कामकला-प्रकरण देखना चाहिए।
२. अधिक स्पष्टता के लिए लिङ्ग-प्रकरण देखिए।
३. सूरसागर; बम्बई, संवत् १८९०; स्कन्ध १०, पृष्ठ ३४४, पद ३१
४ तत्रैव, पृ० २६२, पद २६
५. तत्रैव, पृ० २६२, पद २७
६. सूरसारावली, पद १०९९—११०१

सर्वश्रीसुभगो विष्णुर्यो वै प्रेममयो बहिः।
श्रीसम्पत्प्रेमजलधिः स एवान्तरतस्तव॥
अष्टौ प्रकृतयो बाह्या जीवभूता तथा परा।
य एताभिः समं नित्यं रासलीलापरायणः॥
स एव तत्त्वरूपाभिः सखीभिश्च त्वया सह।
देहवृन्दावने नित्यं रासलीलां करोति हि॥[1]

"सब प्रकार की श्री से मनोहर विष्णु हैं, जो बहिर्जगत् में प्रेम के रूप में हैं। वे श्रीमान् और प्रेम के सागर हैं। वे ही तुम्हारे भीतर वर्त्तमान हैं। आठ बाह्य प्रकृति और जीवरूप पराशक्ति के साथ वह नित्य रासलीला करता रहता है। वह तुम्हारे और तत्त्वरूप सखियों के साथ देह के वृन्दावन में नित्य रासलीला करता है।"

मोरपक्ष इसके महाकालत्व का लक्षण है; क्योंकि मयूर कालसर्प का भक्षण करता रहता है।[2]

शाण्डिल्य उवाच परीक्षितं वज्रनाभम्—
शृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं व्रजभूमिजम्।
व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद्व्रज उच्यते॥
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते।
सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्॥
तस्मिन्नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः।
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते॥
आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः॥
कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः।
नित्याः सर्वे विहाराद्या आप्तकामस्ततस्त्वयम्॥[3]

"शाण्डिल्य ने परीक्षित और वज्रनाभ से कहा—व्रजभूमि के रहस्य को दत्तचित्त होकर सुनिए। व्रजन का अर्थ है व्याप्ति। व्यापक होने के कारण इसे व्रज कहते हैं॥१९॥ गुणातीत व्यापक परब्रह्म व्रज हैं। वे सदानन्द, ज्योतिःस्वरूप और मुक्तों के अचल पद हैं॥२०॥ उसमें नन्दनन्दन, आनन्दरूप, आत्माराम, आप्तकाम को प्रेमीजन अनुभव करते हैं॥२१॥ उनकी आत्मा का नाम ही राधा है। उसीमें ये मग्न रहते हैं। आत्मरमण होने के कारण, गूढ तत्त्व जाननेवाले सिद्ध पुरुष इन्हें राधारमण कहते हैं॥२२॥ उनकी इच्छाएँ

१. वैजयन्तीतन्त्रम्; कलकत्ता, १३३६ साल; बंगाक्षर, पटल ७, श्लोक १२—१४

२. मोरपक्ष येही दरसावत सर्पकाल को काल।
श्याम ब्रह्म अस श्रुति बोलत सो देवकि सुत गोपाल।
याको तुम भजन करो।
—काष्ठजिह्वा स्वामी

३. भागवत-माहात्म्य, १.१९—२३

छुधित बहुत अघात नाहीं निगम द्रुम-दल खाइ ।
अष्टदश घट नीर अँचवै तृषा तउ न बुझाइ ॥
छहू रसहू धरति आगे बहै गंध सुहाइ ।
और अहित अभच्छ भच्छति गिरा बरनि न जाइ ॥
व्योम नद धर शैल कानन इतै चरि न अघाइ ।
ढीठ निठुर न डरति काहू त्रिगुन ह्वै समुहाइ ॥
हरै खाल बल बनुज मानव सुरनि सीस चढ़ाइ ।
रचि बिरंचि मुख भौं छबीली चलत चितहि चुराइ ॥
नील खुर तिमि अरुण लोचन स्वेत सींग सुहाइ ।
दिन चतुर्दश खेल खूँदति सु यह कहा समाइ ॥
नारदादि सुकादि मुनिजन थके करत उपाइ ।
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सूर सकत चराइ ॥[1]

दिक् पीताम्बर है। कालिय काल है, जिसको उपकरण बनाकर नटवर महानृत्य करता है।[2]

विष्णु के हाथ का शंख और शिव का डमरू कृष्ण के हाथ में वंशी का रूप ग्रहण करते हैं, जो वाक् वा शब्द, ब्रह्म का प्रतीक है और सृष्टि-प्रवर्त्तन में महामाया का रूप ग्रहण करता है।

शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे ।
विलासिनीगणवृतं तैः स्वैरं स्वैरमभिष्टुतम् ॥
अथ वेणुनिनादस्य त्रयीमूर्त्तिमती गतिः ।
स्फुरन्ती प्रविवेशाशु मुखाब्जनि स्वयम्भुवः ॥[3]

"मुखकमल से शब्दब्रह्मस्वरूप वेणु बजा रहे हैं। सुन्दरियाँ उनको घेरकर धीरे-धीरे स्तुति कर रही हैं। तब वेणुनाद की गति तीनों वेदों की मूर्त्ति हुई। वह थिरकती हुई ब्रह्मा के मुखकमलों में प्रविष्ट हो गई।"

शब्दब्रह्ममयं वेणुं वादयन्तं मुखाम्बुजे ।[4]

"कमल-जैसे मुख से शब्दब्रह्ममय वेणु बजा रहे हैं।"

नामलीलारूपं वेणुनादं निरूपयति ।[5]

"नाम, लीला और रूप ही वेणुनाद है। इसका निरूपण करते हैं।"

चेतना में स्वाभाविक आनन्द का स्पन्दन ही सृष्टि का कारण है। यही रास है। उसकी विहारभूमि सम्पूर्ण विश्व का प्रतीक मथुरा और वृन्दावन है। ये सब नित्य हैं।

---

१. सूरसागर; बम्बई, संवत् १९८०; पृ० ३५, स्कन्ध १, पद ६
२. दिक्काल के विशेष विवरण के लिए विष्णु-प्रकरण देखिए।
३. योगशास्त्र, ब्रह्मसंहिता; वसुमती प्रेस, कलकत्ता; बंगाक्षर; पृ० ३१३, श्लोक २९, ३०
४. ब्रह्मसंहिता; लन्दन, संवत् १९८५; अध्याय ५, श्लोक ३४
५. वेणुगीतम्; सुबोधिनीसहितम्, पृ० १७

सर्वश्रीसुभगो विष्णुर्यो वै प्रेममयो बहिः।
श्रीसम्पत्प्रेमजलधिः स एवान्तरतस्तव ॥
अष्टौ प्रकृतयो बाह्या जीवभूता तथा परा।
य एताभिः समं नित्यं रासलीलापरायणः ॥
स एव तत्त्वरूपाभिः सखीभिश्च त्वया सह।
देहवृन्दावने नित्यं रासलीलां करोति हि ॥[1]

"सब प्रकार की श्री से मनोहर विष्णु हैं, जो बहिर्जगत् में प्रेम के रूप में हैं। वे श्रीमान् और प्रेम के सागर हैं। वे ही तुम्हारे भीतर वर्त्तमान हैं। आठ बाह्य प्रकृति और जीवरूप पराशक्ति के साथ वह नित्य रासलीला करता रहता है। वह तुम्हारे और तत्त्वरूप सखियों के साथ देह के वृन्दावन में नित्य रासलीला करता है।"

मोरपक्ष इसके महाकालत्व का लक्षण है; क्योंकि मयूर कालसर्प का भक्षण करता रहता है।[2]

शाण्डिल्य उवाच परीक्षितं वज्रनाभम्—
शृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं व्रजभूमिजम्।
व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद्व्रज उच्यते ॥
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते।
सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम् ॥
तस्मिन्नन्दात्मजः कृष्णः सदानन्दाङ्गविग्रहः।
आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमाक्तैरनुभूयते ॥
आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥
कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः।
नित्याः सर्वे विहाराद्या आप्तकामस्ततस्त्वयम् ॥[3]

"शाण्डिल्य ने परीक्षित और वज्रनाभ से कहा—व्रजभूमि के रहस्य को दत्तचित्त होकर सुनिए। व्रजन का अर्थ है व्याप्ति। व्यापक होने के कारण इसे व्रज कहते हैं ॥१९॥ गुणातीत व्यापक परब्रह्म व्रज हैं। वे सदानन्द, ज्योतिःस्वरूप और मुक्तों के अचल पद हैं ॥२०॥ उसमें नन्दनन्दन, आनन्दरूप, आत्माराम, आप्तकाम को प्रेमीजन अनुभव करते हैं ॥२१॥ उनकी आत्मा का नाम ही राधा है। उसीमें ये मग्न रहते हैं। आत्मरमण होने के कारण, गूढ तत्त्व जाननेवाले सिद्ध पुरुष इन्हें राधारमण कहते हैं ॥२२॥ उनकी इच्छाएँ

१. वैजयन्तीतन्त्रम्; कलकत्ता, १३३६ साल; बंगाक्षर, पटल ७, श्लोक १२—१४

२. मोरपक्ष येही दरसावत सर्पकाल को काल।
श्याम ब्रह्म अस श्रुति बोलत सो देवकि सुत गोपाल।
याको तुम भजन करो।
—काष्ठजिह्वा स्वामी

३. भागवत-माहात्म्य, १.१९—२३

गो, गोप और गोपिकाएँ हैं। ये सभी नित्य हैं और लीला में निरत हैं। वे स्वयं आप्तकाम हैं ॥२३॥

अष्ट बाह्य प्रकृति ललितादि सखियाँ हैं और जीवभूता पराशक्ति राधा हैं।

सोरह सहस पीर तन एकै राधा जिब सब देह।[1]

"सोलह सहस्र गोपियाँ एक शरीर की पीड़ा (स्पन्दन) की तरह हैं, और राधा जीव ॥"

नित्य धाम बृन्दावन श्याम। नित्य रूप राधा ब्रज वाम ॥
नित्य रास जल नित्य विहार। नित्य मान खण्डिताभिसार ॥
ब्रह्मरूप एई करतार। करनहार त्रिभुवन संहार ॥
नित्य कुंज सुख नित्यहि डोर। नित्यहि त्रिविध समीर झकोर ॥
सदा वसन्त रहत जहँ वास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास ॥
कोकिल कीर सदा कल रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर ॥[2]

अर्थात् ये सभी अविनाशी ब्रह्म की अविनाशी लीलाएँ हैं।

रास रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि कहाँ वह मन ल्हौं कहाँ इह चित्त जिय भ्रम भुलावै।
जो कहौं कौन माने अगम निगम जों कृपा बिनु नहिं या रसहिं पावै।
भाव सों भजै बिनु भाव सों यह नहीं भाव हो माँह याको बसावै ॥
यहै निज मंत्र यह ज्ञान यह ध्यान है दरस दास दम्पति भजन सार गाऊँ।
इहै माँग्यो बार बार प्रभु सूर के नैन दोऊ रहैं नर देह पाऊँ ॥[3]

भगवान् का नटवर-रूप नटराज-रूप का प्रतिरूप है। नटराज का ज्वालमालयुत मायाचक्र गोपीमण्डल है, जो उनके पैरों के ताल और वंशी की तान पर थिरकता रहता है। यही नटवर का नित्य-विश्वनृत्य रास है, जो चिदानन्द के आनन्द के महास्फोट का प्रतीक है। इसके चिन्तन और कलात्मक अनुकरण में दार्शनिक, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार आदि कलाकारों ने अपनी-अपनी सारी शक्ति लगा दी है। यह भारतीय प्रतिभा की एक अनमोल सृष्टि है।

भगवान ने कालिय के मस्तक पर चित्रताण्डव नामक नृत्य किया था—

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र-पादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त्त।
तं नर्त्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ॥
प्रीत्या मृदङ्गपणवाणकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसापसेदुः।
तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरुवमन्नृपभग्नगात्रः ॥[4]

"उस (कालिय) के मस्तकों पर रत्नों के स्पर्श से उनका चरण-कमल प्रगाढ रक्तवर्ण-

---

१. सूरसागर; बम्बई, संवत् १९८०; पृ० ३५६, १०.२६
२. तत्रैव, पृ० ४२९, १०.७२
३. तत्रैव, पृ० ३४०, १०.९३
४. भागवत, १०, १६, २६, २७, ३०। नटवर के इस नृत्य का वर्णन नटराज के प्रदोषस्तोत्र में दिये हुए प्रदोष-नृत्य की तरह है।

वाला हो गया और अखिल कलाओं के आदिगुरु नृत्य करने लगे। उनको उस समय नृत्य के लिए उद्यत देखकर गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण और देववधूगण प्रेम से मृदंग, पणव, आणकवाद्य, गीत, पुष्पोपहार और स्तुति के साथ सहसा घेरकर खड़े हो गये। उस चित्रताण्डव में (कालिय के) फैले हुए फण पीड़ित और क्षत-विक्षत हुए और वह रक्त-वमन करने लगा।"

रास का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ॥
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ॥
यं मन्येरन्नभस्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।
दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।
जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ।
वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥
तत्राति शुशुभे ताभिर्भगवान्देवकीसुतः ॥
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ।
पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः
भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कबरदशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो-
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥
उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥
काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ॥
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात् ॥[1]

"गोविन्द ने रासक्रीड़ा आरम्भ की। अनुरक्त सुन्दरी स्त्रियों ने हाथों में हाथ डालकर उन्हें घेर लिया। गोपीमण्डल से मण्डित रासोत्सव का आरम्भ हुआ। दो-दो के बीच कृष्ण सम्मिलित हुए। स्त्रियों-सहित मुग्ध देवगण के सैंकड़ों विमानों से आकाश भर गया। तब दुन्दुभी बजने लगी और पुष्पवृष्टि होने लगी। सस्त्रीक गन्धर्वपति उनके यश का गान करने लगे। स्त्रियों के कंकण, किंकिणी और नूपुर से रासमण्डल में तुमुल शब्द होने लगा। उन सबके बीच भगवान् इस तरह सुशोभित हुए, जैसे कनक मणि के बीच महामरकत शोभता है। पादन्यास, भुजविक्षेप, मुसकान के साथ भ्रू-संचालन, कपड़ों के मोड़, गाल पर हिलते हुए कुण्डल, मुख पर स्वेदबिन्दु, कमर और केश बँधे हुए और गाती

१. तत्रैव, १०, ३३, २—१०

हुई गोपियाँ, बादल में बिजली की तरह चमकने लगीं। नाचती हुई प्रेममग्ना गोपियाँ, कृष्ण की निकटता से मुदित होकर भावभरे उच्च स्वर से गाने लगीं और गीत से इसे ढँक लिया। कोई मुकुन्द के साथ स्वर और लय को न मिलाकर गेय को आगे ले चली। कृष्ण ने साधु-साधु कहकर उसका सम्मान किया। फिर ध्रुवपद को आगे बढ़ाकर उसका बहुत मान किया।"[१]

> वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिका संग।
> भोर निसा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत यक रंग॥[२]

इस क्रीडा में भोर-निशा का ज्ञान नहीं है; क्योंकि यह कालातीत है। शक्ति और शक्तिमान् सदा अभिन्न और एकरस हैं। इसलिए सदा एक रंग में रँगे रहते हैं।

१०. स्त्री-पुरुष और जीव-ब्रह्म

विश्वलीला अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लय की क्रियाओं में ब्रह्म और उसके स्व-भाव, नित्य आनन्द का उल्लास माया के साथ, जिस महा आनन्द अथवा महारस की कल्पना या अनुभव किया जा सकता है, राधिका और श्याम के नाम-रूप उसीके प्रतीक हैं और प्रेम द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्रत्येक जिज्ञासु जीव के लिए अवलम्ब हैं। भावाश्रयी भक्तों और योगियों ने समान रूप से इसका अवलम्बन किया।

योगमार्ग में समाधि की छह प्रणालियाँ कही गई हैं: १. ध्यानयोग समाधि, २. नादयोग समाधि, ३. लयसिद्धियोग समाधि, ४. भक्तियोग समाधि, ५. राजयोग समाधि और ६. रसानन्द समाधि।

लयसिद्धियोग समाधि का विवरण इस प्रकार है।

> अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत्।
> मन्दं मन्दं त्यजेद्वायुं भृङ्गनादस्ततो भवेत्॥
> अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो लयेत्।
> समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥[३]

"मन्द वेगवाली वायु द्वारा कुम्भक करे और धीरे-धीरे वायु को छोड़े। इससे भौंरे का शब्द होता है। भीतरवाले भ्रामरी नाद को सुनकर उसमें मन को लीन करे। इससे समाधि लग जाती है और सोऽहं का आनन्द प्राप्त होता है।"

यह भ्रामरी नाद कृष्ण-कथा का भ्रमर और तत्सम्बन्धी भावनाएँ भ्रमरगीत हैं।

रसानन्द समाधियोग का वर्णन इस प्रकार है:

> योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
> सुश्रृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
> रसानन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
> अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥[४]

---

१. विद्यापति और सूर की रचना में आनन्दसागर का क्षोभ नहीं, आनन्द के उन्माद-सागर का महाविप्लव है।
२. सूरसागर; बम्बई, संवत् १९८०। सूरसारावली, पद १०९६
३. घेरण्डसंहिता, ७. १०, ११
४. तत्रैव, ७.१२,१३

"योनिमुद्रा धारण कर स्वयं शक्तिमय (स्त्री-रूप) हो जाय और सुन्दर श्रृङ्गाररस द्वारा परमात्मा में विहार करे। रस के आनन्द में सराबोर हो जाने पर मैं ब्रह्म हूँ, इस अद्वैत-भावना द्वारा ब्रह्म का ऐक्य सम्भव हो जाता है और इससे समाधि होती है।"

यह रसानन्द समाधि साधकों का सामरस्य है, जिसका स्थूल प्रतीक मिथुनमूर्त्ति है।

ब्रह्म के पुरुष-रूप और जीव के स्त्री-रूप के विषय में आर्षमत स्पष्ट हैं। वेदों में ब्रह्म का नाम ही पुरुष है। यह पुरुषसूक्त से स्पष्ट है। अन्यत्र भी यही भाव है :

केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद्ब्रह्मन् उपवल्हामसि त्वा किंस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र॥
पञ्चस्वन्तः पुरुष अविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवसि उत्तरो मत्॥[1]

"किनके भीतर पुरुष छा गया, पुरुष में किनका अर्पण किया गया, यह मेरा आग्रह है, इसपर आपका क्या उत्तर है?

पञ्च (तत्त्वों) के भीतर पुरुष छा गया, उन्हें (पञ्च तत्त्वों को) पुरुष में अर्पण कर दिया गया। यहाँ यही मैं तुम्हें समझाना चाहता हूँ, मेरा उत्तर माया के कारण समझ में नहीं आता है।"

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय॥[2]

"मैं इसे जानता हूँ, जो पुरुष है, महान् है, आदित्य-रूप है और अन्धकार से परे है। उसको जानकर मृत्यु को पार कर जाता है। आगे बढ़ने के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।"

पाद्मे—शब्दोऽयं सोपचारेण तथा पुरुष इत्यपि।
निरुपाधौ वदन्त्येते वासुदेवे सनातने॥
सर्वलोकप्रतीत्या च पुरुषः प्रोच्यते हरिः।
तं विना पुण्डरीकाक्षं कोऽन्यः पुरुषशब्दभाक्॥[3]

"यह शब्द ही उपचार-मात्र से पुरुष भी कहलाता है। उपाधिरहित सनातन वासुदेव में सारी सृष्टि के पड़े रहने के कारण हरि का नाम पुरुष है। उस पुण्डरीकाक्ष को छोड़कर दूसरा कोई पुरुष शब्द का भागी कैसे हो सकता है?"

स्कान्दे—यथा भास्करशब्दोऽयमादित्ये प्रतितिष्ठति।
यथा चाग्नौ बृहद्भानुर्यदा वायौ सदागतिः॥
तथा पुरुषशब्दोऽयं वासुदेवेऽवतिष्ठति॥[4]

"जिस प्रकार भास्कर (भाः कर=प्रकाश करनेवाला) शब्द सूर्य पर ही लगता है,

---

१. शुक्लयजुर्वेद, २३. ५१, ५२
२. तत्रैव, ३१.१८
३. अप्रकाशिता उपनिषदः; मद्रास, १९३५; पृ० १७५ में उद्धृत।
४. तत्रैव

जिस प्रकार बृहद्भानु (बहुत बड़ा प्रकाशवाला) अग्नि में लगता है, जिस प्रकार सदागति (सर्वदा गतिशील) वायु पर लगता है, उसी प्रकार यह पुरुष शब्द वासुदेव पर ही बैठता है।"

नारसिंहे—य एव वासुदेवोऽयं पुरुषः प्रोच्यते बुधैः ।
प्रकृतिस्पर्शराहित्यात् स्वातन्त्र्ये वैभवादपि ॥
स एव वासुदेवोऽयं साक्षात् पुरुष उच्यते ।
स्त्रीप्रायमितरत्सर्वं जगद्ब्रह्मपुरःसरम् ॥[1]

"ये जो वासुदेव हैं, बुद्धिमान् इन्हें ही पुरुष कहते हैं। अपनी स्वतन्त्रता में वैभव और प्रकृति के स्पर्श से रहित होने के कारण, ये वही वासुदेव हैं, जो साक्षात् पुरुष कहलाते हैं। ब्रह्म द्वारा आगे बढ़ाया जानेवाला यह जगत् और अन्य सब कुछ स्त्रीप्राय है।"

[कोष-ग्रन्थों में भी पुरुष शब्द का यही अर्थ है : १. पुरि अग्रगमने + कुषन् आगे बढ़ने-बढ़ानेवाला। २ आप्यायने + कुषन् — तृप्ति, अर्थात् आनन्दप्रद।

पौराणिक अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। पुराणों में ही अन्यत्र इसका अर्थ है : १. पुरि देहे शेरते लोकाः यस्य—जिसके शरीर के अन्तर्गत सारा लोक हो। २. पुरि देहे शयः—शरीर के अन्तर्गत रहनेवाला।]

वेद, दर्शन और पुराणों के भावानुकूल पुरुष शब्द का अर्थ, परमात्मा पर ही लग सकता है। परमात्मा ही जीव-मात्र को आगे बढ़ाते हैं, सुख देते हैं और आत्मगत कर रखते हैं। मनुष्य के सम्बन्ध में एक अत्यन्त संकुचित अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। कोई मानव पुरुष, यथार्थ में, न किसी को अग्रसर कर सकता है, न सुख दे सकता है और न आत्मसात् कर सकता है। सांसारिक व्यवहार में यदि थोड़ा-बहुत कर भी सकता है, तो यह शब्द के अर्थ का संकुचित प्रयोग ही कहा जायगा। प्रकृत अर्थ में तो सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् पुरुष ही एक पुरुष है और उससे तृप्ति, उन्नति और अवलम्ब की आकांक्षावाले सभी स्त्री हैं। यह जीव-ब्रह्म, स्त्री-पुरुष, गोपी-कृष्ण, राधा-गोविन्द, हर-पार्वती वा मीरा-गिरिधर का रहस्य है।

विभु की विश्वक्रीड़ा में गोपादि शक्तिमाया व्यूह के अङ्ग-उपाङ्ग हैं :

गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ।
ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥[2]

"गोप जाति में छिपकर देवताओं ने गोपों का रूप धारण किया। जिस प्रकार (नाटक में) एक नट दूसरे नट की सेवा में उपस्थित होता है, उसी प्रकार वे राम और कृष्ण की सेवा में लगे रहे।"

उस भाव का विस्तार सूर ने इस प्रकार किया :

ब्रह्म जिनहि यह आयसु दीन्हों।
तिन-तिन संग जन्म लियो ब्रज में सखी सखा करि परगट कीन्हों ॥

---

१. तत्रैव, पृ० १७६
२. भागवत, १०.१८.११

गोपी ग्वाल कान्ह दुई नाहीं ये कहुँ नेक न न्यारे।
जहाँ जहाँ अवतार धरत हरि ये नहिं नेक बिसारे॥
एकै देह बिलग करि राखे गोपी ग्वाल मुरारि।
यह सुख देखि सूर के प्रभु को थकित अमर सँग नारि॥[१]

"ब्रह्म ने जिन्हें आज्ञा दी, उन्होंने व्रज में जन्म लिया और सखी, सखा आदि के रूप में प्रकट हुए। गोपी-ग्वाल और कान्ह—ये दो नहीं हैं। ये कभी अलग नहीं होते, अर्थात् एक होने के कारण अभिन्न हैं। हरि जहाँ-जहाँ अवतार ग्रहण करते हैं, वहाँ इन्हें कभी नहीं भूलते, अर्थात् अवश्य साथ ले लेते हैं। गोपी-ग्वाल के रूप में, मुरारि ने, एक ही शरीर को भिन्न रूप में[२] रखा। सूर के प्रभु का यह (आनन्दमय रूप) सुख देखकर देवी-देवगण स्तम्भित हो गये।"

संसार को दार्शनिकों और कवियों ने महावृक्ष कहा है, जिसके बीज ब्रह्म हैं, अथवा ब्रह्म ही संसारवृक्ष के रूप में अवस्थित हैं।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥[3]

"जिससे कुछ भी न बड़ा है, न छोटा; जिससे कोई न सूक्ष्म है और न स्थूल। अचल वृक्ष की तरह वह शून्य में खड़ा है। उस पुरुष से यह सब कुछ भरा हुआ है।"

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्माल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्॥[४]

"मूल ऊपर है, शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह चिरन्तन अश्वत्थ है। यही तेज है, यही ब्रह्म है, इसे ही अमृत कहते हैं। इसीसे सब लोक लगे हुए हैं। इसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता है। यही वह है।"

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।[५]

"अव्यय को ऊर्ध्वमूल और अधःशाखावाला अश्वत्थ कहा गया है।"

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो।[६]

---

१. सूरसागर; बम्बई, संवत् १९८०; पृ० २५०, स्कन्ध १०, पद ८४

२. दुर्गासप्तशती के इस श्लोक को मिलाइए : 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥'

३. तै० आ०, १०.१० । योगवासिष्ठ, ६.४५-४६

४. केनोपनिषत्, २. ६. १

५. गीता

६. श्वेताश्वतरोपनिषत्, ६.६

"वह वृक्ष काल, आकृति आदि से परे और कुछ है।"

संसारविटप नमामहे।[1]

कदम्बगोलकैस्तुल्यं ब्रह्माण्डस्फारचेतसः।
किं प्रयच्छति किं भुङ्क्ते प्राप्तेऽस्मिन्सकलेऽपि सः॥[2]

"चिदाकाश में ब्रह्माण्ड, कदम्ब के फूल की तरह है। इन सभी के रहते भी वह इनमें क्या देता है और क्या लेता है॥"

इन्द्र, कृष्ण, शिवादि की पत्नियों के रूप को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :

स्वदेहसंविदाभासो देवोऽयमिति भावयेत्।
विचित्राः शक्तयो बह्व्यो नानाचारा मनोदशाम्।
उपासते मामनिशं पत्न्यः कान्तमिवोत्तमम्॥

—यो० वा०, पूर्व० ६.३९.२१

"अपने शरीर की, चेतनामय देव के रूप में, भावना करे। अनेक प्रकार की क्रियाओं से युक्त विचित्र शक्तियाँ, प्रिय कान्त को पत्नियों की तरह, मेरी मनोदशाओं (इच्छाओं) को पूर्ण करती रहती हैं॥"

अप्रमेयस्य शान्तस्य शिवस्य परमात्मनः।
सौम्य चिन्मात्ररूपस्य सर्वस्यानाकृतेरपि॥
इच्छासत्ता व्योमसत्ता कालसत्ता तथैव च।
तथा नियतिसत्ता च महासत्ता च सुव्रत॥
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्त्तृताऽकर्त्तृतापि च।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः॥

—यो० वा०, पूर्व० ६,३४. १४—१६

"परमात्मा शिव, अप्रमेय, शान्त, सौम्य, निराकार और सबमें चेतना-मात्र रूप में हैं। हे सुव्रत! इच्छासत्ता, व्योमसत्ता, कालसत्ता, नियतिसत्ता, महासत्ता, ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, कर्त्तृता, अकर्त्तृता इत्यादि उनकी शक्तियों का अन्त नहीं है॥"

वेद में इन्द्र की 'शचियों' का भी यही स्वरूप है।

राधा और कृष्ण को लेकर आधुनिक 'रिसर्च-पण्डितों' ने नाना प्रकार की वितण्डाएँ खड़ी कर दी हैं। उनका कहना है कि महाभारत, हरिवंश, श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में राधा का नाम नहीं मिलता है। इसलिए कृष्ण-कथा में राधा काल्पनिक पात्र हैं और इनका कोई अस्तित्व नहीं है। कृष्ण के सम्बन्ध में भी उन्होंने ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। ऋग्वेद में कृष्ण का नाम आया है, वेदव्यास का भी नाम कृष्ण है, एक वासुदेव कृष्ण हुए, एक आभीर कृष्ण हुए, रासलीलावाले कृष्ण और महाभारतवाले कृष्ण भिन्न-भिन्न

---

१. तुलसीकृत मानस रामायण, उत्तरकाण्ड, वेदस्तुति।
२. यो० वा० ४,५७,३८

पुरुष हैं, कृष्ण नामक कोई मनुष्य हुए या ये कल्पनापुरुष हैं, इत्यादि-इत्यादि अटकलों से ये स्वयं विक्षिप्त हैं और दूसरों के भी सुलझे हुए विचारों को उलझाना चाहते हैं। इनके विचार से राम और कृष्ण तो कल्पना-पुरुष हैं ही, यीसू खिृस्त नाम के भी कोई पुरुष नहीं हुए।[1] विश्लेषण तथा काल-निर्णय द्वारा सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करना और विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलने पर भी जहाँ-तहाँ से समरूप घटनाओं अथवा विवरणों को एक साथ मिलाकर अटकल लगाते फिरना, इनकी ऐसी विध्वंसक प्रणाली है कि राम,[2] कृष्णादि जैसे महापुरुषों के साथ-साथ महात्मा खिृस्त भी लुप्त हो गये। संस्कृति और सभ्यता के विषयों में यथार्थ को पाने के लिए यह प्रणाली अशुद्ध और अहितकर है।

राम-कृष्णादि का शुद्ध रूप हमारे ग्रन्थों में वर्त्तमान है और उसे ठीक-ठीक समझ लेने से वह भूतकाल की तरह वर्त्तमान और भविष्य में भी हमारे लिए कल्याणकर होगा।

आध्यात्मिक विषयों को आध्यात्मिक रीति से और लौकिक विषयों को लौकिक रीति से ठीक-ठीक समझ लेने से ही भारतीय पुरुषों और उनके चरित्रों का यथार्थ रूप स्पष्ट हो जाता है।

११. सूर्य

भारतीय सनातन वैदिक समाज में, प्रत्येक सत्कर्म के आरम्भ में, पञ्चदेवता के रूप में, परमात्मा की आराधना करके, किसी कर्म का आरम्भ किया जाता है। ये पञ्चदेव हैं : गणेश, विष्णु, शिव, सूर्य और दुर्गा।

किसी मूर्त्ति, चित्र, वा यन्त्र की तरह, सूर्यमण्डल भी विभुशक्ति का प्रतीक है और परमात्मा के प्रत्यक्ष रूप में इनकी उपासना होती है। यह मत श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्रादि-सम्मत है।

य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यं आदित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥[3]

"जो आदित्य के भीतर अवस्थित है और आदित्य से भिन्न है, जिसे आदित्य नहीं जानता है, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर इसका नियन्त्रण करता है वही तुम्हारा आत्मा, अन्तर्यामी और अविनाशी है।"

इस उद्धरण में सूर्य का ब्रह्मप्रतीकत्व स्पष्ट है।

सूर्याद्ध खलु इमानि भूतानि जायन्ते। सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा नमस्त आदित्य। त्वमेव प्रत्यक्षं कर्म कर्त्तासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि। त्वमेव

१. *Encyclopaedia Britannica*, 11th Edition, Article on Christ.

२. संस्कृत-साहित्य के इतिहास में वेवर, मैक्डोनल आदि विद्वानों ने यह प्रतिपादन करने की चेष्टा की है कि रामकथा वैदिक कल्पनाओं के आधार पर निर्मित हुई है। इन्द्र राम है, सीता जोती हुई धरती है, मरुत् हनुमान है, वृत्र रावण है इत्यादि।

३. बृहदारण्यकोपनिषत्, ३.७९

प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षं ऋगसि । त्वमेव प्रत्यक्षं यजुरसि । त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि । त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वासि । त्वमेव सर्वं छन्दोऽसि आदित्याद्वायुर्जायते । आदित्याद्भूमिर्जायते । आदित्यादापो जायन्ते । आदित्याज्ज्योतिर्जायते । आदित्याद्व्योमदिशो जायन्ते । आदित्याद्देवा जायन्ते । आदित्याद्वेदा जायन्ते । आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति । असावादित्यो ब्रह्म............

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु ।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च ॥[1] इत्यादि

"सूर्य से ही सभी जीव उत्पन्न होते हैं। सूर्य से ही यज्ञ, मेघ, अन्न और आत्मा हैं। हे आदित्य, आपको नमः। आप प्रत्यक्ष कर्मकर्त्ता हैं। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आप ही प्रत्यक्ष विष्णु हैं। आप ही प्रत्यक्ष रुद्र हैं। आप प्रत्यक्ष ऋक् हैं। आप प्रत्यक्ष यजु हैं, आप प्रत्यक्ष साम हैं, आप प्रत्यक्ष अथर्व हैं। आप सभी छन्द हैं, आदित्य से वायु उत्पन्न होती है, आदित्य से भूमि उत्पन्न होती है, आदित्य से जल उत्पन्न होता है, आदित्य से ज्योति उत्पन्न होती है, आदित्य से आकाश और दिक् उत्पन्न होते हैं, आदित्य से देवगण उत्पन्न होते हैं, आदित्य से वेद उत्पन्न होते हैं। आदित्य ही यह मण्डल है, जिससे यह ताप मिलता है। यह आदित्य ब्रह्म है।............"

"सूर्य से भूत (पञ्चतत्त्वात्मक) उत्पन्न होते हैं, सूर्य से पालित होते हैं और सूर्य में लीन होते हैं। जो सूर्य है, वही मैं (अहम्) हूँ। इत्यादि॥"

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः ।
त्रिमूर्त्यात्मा त्रिवेदात्मा सर्वदेवमयो रविः ॥[2]

प्रत्यक्षदेवतं सूर्यः परोक्षं सर्वदेवताः ।
सूर्यस्योपासनं कार्यं गच्छेत्सूर्यस्य संसदम् ॥[3]

"यही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और भास्कर हैं। सर्वदेवस्वरूप रवि त्रिमूर्त्ति और त्रिवेद हैं। सूर्य प्रत्यक्ष और अन्य देव परोक्ष हैं। सूर्य की उपासना करनी चाहिए। इससे सूर्य का सान्निध्य प्राप्त होता है।"

त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम् ॥[4]

"आपको लोग इन्द्र कहते हैं, आप रुद्र, विष्णु, प्रजापति, अग्नि, सूक्ष्म मन, प्रभु और शाश्वत ब्रह्म हैं।"

आदित्यो मातृको भूत्वा आदित्यो वाङ्मयं जगत् ॥[5]

---

१. सूर्योपनिषत्
२. सूर्यतापिन्युपनिषत्, अप्रकाशिता उपनिषदः; मद्रास, १९३३, पृ० ५५
३. तत्रैव, पटल ६, पृ० ६०
४. महाभारतोक्त युधिष्ठिरकृतं सूर्यस्तोत्रम्
५. आदित्यहृदय, श्लोक ३६, मातृक और वाक् के विशेष विवरण के लिए वाक्प्रकरण देखिए।

"आदित्य मातृका बनकर वाङ्मय-जगत् का रूप है।"

सूर्य के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है :

> नमोङ्कार वषट्कार सर्वयज्ञ नमोऽस्तुते ।
> ऋग्वेदाय यजुर्वेद सामवेद नमोऽस्तुते ॥
> त्वं ज्योतिस्त्वं द्युतिर्ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ।
> त्वमेव रुद्रो रुद्रात्मा वायुरग्निस्त्वमेव च ॥
> नमः सुरारिहन्त्रे च सोमसूर्याग्निचक्षुषे ।
> नमो दिव्याय व्योमाय सर्वतन्त्रमयाय च ॥
> नमो वेदान्तवेद्याय सर्वकर्मादिसाक्षिणे ।
> नमो हरितवर्णाय सुवर्णाय नमो नमः ॥[1]

"ओंकार, वषट्कार और सर्वयज्ञस्वरूप ! आपको बार-बार नमस्कार। हे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ! आपको नमस्कार। आपही ज्योति, द्युति, ब्रह्मा, विष्णु, प्रजापति, रुद्र, रुद्रात्मा, वायु और अग्नि हैं। चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप नेत्रवाले राक्षसहन्ता को नमस्कार। दिव्यव्योम और सर्वतन्त्रमय को नमस्कार। वेदान्त से जानने योग्य और सर्वकर्म के आदिसाक्षी को नमस्कार। हरित वर्ण और सुवर्ण को नमो नमः ॥

बारह महीनों में तपनेवाले बारह आदित्यों के नाम और विवरण इस प्रकार हैं :

> एकधा दशधा चैव शतधा च सहस्रधा ।
> तपन्ते विश्वरूपेण सृजन्ति संहरन्ति च ॥
> एष विष्णुः शिवश्चैव ब्रह्मा चैव प्रजापतिः ।
> महेन्द्रश्चैव कालश्च यमो वरुण एव च ॥
> वायुरग्निर्धनाध्यक्षो भूतकर्त्ता स्वयं प्रभुः ।
> उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वरः ॥
> अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्त्तिश्च दिवाकरः ॥[2]

"एक प्रकार से, दस प्रकार से, सौ प्रकार से, सहस्र प्रकार से, विश्वरूप से ये तपते हैं, सृष्टि और संहार करते हैं। यही विष्णु, शिव, ब्रह्म, प्रजापति, महेन्द्र, काल, यम, वरुण, वायु, अग्नि, कुबेर, तत्त्वों के स्रष्टा और स्वतः सिद्ध अधीश्वर हैं। उदय-काल में ब्रह्मा, मध्याह्न में महेश्वर और अन्त काल में स्वयं विष्णुरूप दिवाकर त्रिमूर्त्ति हैं।

> त्रिगुणं च त्रितत्त्वं च त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
> त्रयाणां च त्रिमूर्त्तिस्त्वं तुरीयस्त्वं नमोऽस्तुते ॥[3]

"आप त्रिगुण, त्रितत्त्व, तीन देव, तीन अग्नि, तीनों के त्रिमूर्त्ति और चतुर्थ हैं। आपको प्रणाम।"

---

१. तत्रैव, श्लोक ४४—५३
२. तत्रैव, श्लोक ५९, ६०, ६१, ११८
३. आदित्यहृदय, श्लोक १३८

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरिञ्चिनारायण शङ्करात्मने ॥[१]

"संसार के एकमात्र चक्षु, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, नाश के हेतु, त्रिवेदमय, त्रिगुण के आत्मा और आधार, विरिञ्चि-नारायण और शङ्कर के आत्मा-स्वरूप सविता को नमः।"

सूर्य का ध्यानश्लोक इस प्रकार है :

ध्येय सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥[२]

"सवितृमण्डल में वर्त्तमान, पद्मासन लगाये हुए, केयूर, मकर-कुण्डल, किरीट और हारवाले शङ्खचक्रयुत, सोने-जैसा शरीरवाले नारायण[३] का ध्यान करे।"

इस प्रकार सूर्य-प्रतीक पर भी केवल परमात्मा के ध्यान का विधान है।

सूर्य की सात रंगवाली किरणें इनके सात घोड़े हैं :

जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः ।
मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्तिता ॥[४]

"जय, अजय, विजय, जितप्राण, जितश्रम, मनोजव, जितक्रोध—ये सात घोड़े कहे गये हैं।"

विष्णुलिङ्ग और शिवलिङ्ग की तरह ब्रह्मलिङ्ग के रूप में सूर्य की उपासना होती है। इसका नाम गगनलिङ्ग है। इसमें आकाशवेदी और सूर्यमण्डल लिङ्ग है।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
गगनलिङ्गमाराध्यं त्वां सूर्यं प्रणमाम्यहम् ॥[५]

"चराचरव्यापी अखण्ड वृत्त के आकारवाले, पूजनीय गगनलिङ्ग सूर्य! तुम्हें मैं प्रणाम करता हूँ।"

जिस प्रकार शिवलिङ्ग और शालिग्राम पर सभी देवताओं का आह्वान करके पूजन

---

१. तत्रैव, श्लोक १३९

२. तत्रैव, श्लोक १५५

३. नारायण शब्द के तीन अर्थ किये जाते हैं : १. नारा—जल—अशेष कारण का अर्णव। वह जिसका विश्राम-स्थान है, अर्थात् अशेष कारणस्वरूप परब्रह्म। २. नर, अर्थात् जीवों का समूह नार है। उनका विश्राम-स्थान, अर्थात् आधार परब्रह्म परमात्मा। ३. आपो नारा इति प्रोक्ता—आपका नाम नारा है, और आपका अर्थ है—आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्—ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूर्भुवः स्वः और ओम्। अर्थात् चित् की ज्योति या ब्रह्म जिसका अयन हो, अर्थात् अशेष कारणब्रह्म का साकार रूप।

४. तत्रैव, श्लोक १२१

५. सूर्यस्तोत्र, श्लोक ७। गगनलिङ्ग के विशेष विवरण के लिए लिङ्ग-विग्रह-प्रकरण देखना चाहिए।

किया जाता है, उसी प्रकार सूर्यमण्डल में सभी देवताओं का ध्यान कर साधना द्वारा सिद्धिलाभ किया जा सकता है। वाग्देवी, गायत्री आदि देवियों का और नारायण, ब्रह्मा, शिवादि देवों का ध्यान सूर्यमण्डल में विहित है :

त्रिपुरा के सहस्रनामों में एक नाम है :

भानुमण्डलमध्यस्था ॥[1]

सूर्यमण्डल में ललिता के ध्यान का विधान इस प्रकार है :

सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम् ।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः ।
त्रैलोक्यं मोहयेदाशु वरनारीगणैर्युतम् ॥[2]

"पाश, अंकुश, धनुष और बाण हाथों में लिये हुए, देवी त्रिपुरसुन्दरी का सूर्यमण्डल के बीच ध्यान करे। वह श्रेष्ठ स्त्रियोंवाले त्रैलोक्य को मोह लेता है।"

ये चिन्तयन्त्यरुणमण्डलमध्यवर्त्तिरूपं तवाम्ब नवयावकपङ्कशोणम् ।
तेषां सदैव कुसुमायुधबाणभिन्नवक्षस्थला मृगदृशो वशगा भवन्ति ॥[3]

"अम्ब ! नये यावकपङ्क के रंगवाले तुम्हारे रूप का जो सूर्यमण्डल के मध्यभाग में ध्यान करते हैं, कामबाण से विद्ध हृदयवाली मृगलोचनाएँ सदा उनके वश में हो जाती हैं।"

सूर्यमण्डल में गायत्री का ध्यान :

श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयवसना तथा ।
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलङ्कारैश्च भूषिता ॥
आदित्यमण्डलस्था च ब्रह्मलोकगताथवा ।
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा ॥

"(गायत्री का) श्वेतवर्ण, रेशमी वस्त्र, श्वेत चन्दनादि का विलेपन, पुष्प और अलंकार, अक्षसूत्र, पद्मासन तथा आदित्यमण्डल अथवा ब्रह्मलोक में स्थिति का निर्देश किया गया है।"

उपर्युक्त सूर्यमण्डल में नारायण के ध्यान के अतिरिक्त, अन्यत्र परमपुरुष के ध्यान का विधान इस प्रकार है :

ईश्वरं पुरुषाख्यं च सत्यधर्माणमच्युतम् ।
भर्गाख्यं विष्णुसंज्ञं च ध्यात्वामृतमुपाश्नुते ॥
दृश्यो हिरण्मयो देव आदित्यो नित्यसंस्थितः ।
यः सूक्ष्मं सोऽहमित्येव चिन्तयाम सदैव तु ॥

"ईश्वर का नाम पुरुष, सत्यधर्मा, अच्युत, भर्ग और विष्णु है। इनका ध्यान करने से अमृत (त्व) की प्राप्ति होती है। जो नित्य स्थित हिरण्मय देव आदित्य के रूप में दिखाई पड़ता है, उस सूक्ष्म की 'अहं' रूप में मैं सर्वदा चिन्तना करता हूँ।"

गगनलिङ्ग के रूप में सूर्य विभु का प्रत्यक्ष प्रतीक है।

---

१. ललितासहस्रनाम, श्लोक ११६
२. सूर्यस्तोत्र
३. ललितासहस्रनाम

१२. कामदेव[1]

प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि नगर के बाहर उद्यान में कामदेव का मन्दिर रहता था, जिसमें निश्चित तिथि पर एकत्र होकर लोग काम की, प्रतिमा द्वारा, आराधना करते थे। शिल्पशास्त्र में ऐसी प्रतिमाओं के बनाने का विधान है और उनके उद्देश्य का भी निर्देश है।

विभु की नित्य इच्छा वा काम, उसकी लीला के मूल कारणों में से एक है। उसकी कामना ही उसकी लीला (क्रिया) को प्रेरणा देनेवाली शक्ति है। इसलिए सभी कामनाओं के मूल, ब्रह्म का नाम कामेश्वर है। सृष्टिक्रिया में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—ये सभी कामोद्भव और काम-रूप हैं और सर्वव्यापी ब्रह्म, काम के पूर्ण रूप हैं :

आनन्दचिन्मयरसात्मतया मनःसु यः प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरतामुपेत्य।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥[2]

"जो चित् और आनन्द के रस से मन को भरकर और प्राणियों में प्रतिफलित होकर, स्मर का रूप धारण कर, अपनी लीलाओं से, निरन्तर अगणित भुवनों की सृष्टि करता रहता है, उस आदिपुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।"

सृष्टि में सभी छोटी अथवा बड़ी शक्तियों के, बनाने और बिगाड़नेवाले दो रूप हुआ करते हैं, जो शक्ति के प्रयोगकर्त्ता की शुद्ध और अशुद्ध बुद्धि पर आश्रित हैं। भगवान् ने गीता में कहा :

धर्माविरुद्धो लोकेऽस्मिन्कामोऽस्मि भरतर्षभ।

"हे भरतर्षभ! धर्मानुकूल कामशक्ति मैं ही हूँ।"

इसका अर्थ होता है कि एतद्विपरीत नीचे गिरानेवाली कामशक्ति राक्षस है।

काम के नाम मनोज, मानसजन्मा, मदन, मन्मथ आदि हैं; क्योंकि मन से इसकी उत्पत्ति है और मन को यह मथ डालता है। जहाँ मन है, वहाँ काम है और इसको अनुभव करना स्वस्थ प्राणी का स्वभाव है। इसके वश में पकड़र उन्मत्त होना भी स्वभाव है। इस भावना की विवृति, पुराणों में नाना प्रकार के काव्य और कथानकों के रूप में दी गई है। आदिदेव जगत्स्रष्टा ब्रह्मा भी सरस्वती के पीछे दौड़ते हैं और आदिदेव महादेव भी मोहिनी के पीछे दौड़ते हैं। रसानन्दमय मन्मथ के रूप में गोपीकृष्ण की उपासना होती है।

पुराण में द्वादशी व्रत की कथा है। इसमें कामदेवता के रूप में विष्णु की पूजा का विधान है :

कामनाम्ना हरेरर्चां स्नापयेद्गन्धवारिणा।
शुक्लपुष्पाक्षततिलैरर्चयेन्मधुसूदनम्॥
प्रीयतामत्र भगवान् कामरूपी जनार्दनः।
हृदये सर्वभूतानां य आनन्दोऽभिधीयते॥

---

१. इस प्रकरण को कामकला-प्रकरण के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए।

२. योगशास्त्र, ब्रह्मसंहिता; वसुमती प्रेस, कलकत्ता; पृ० ३१८, श्लोक ४६

यः स्वरः संस्मृतो विष्णुरानन्दात्मा महेश्वरः ।
सुखार्थी कामरूपेण स्मरेदङ्गजमीश्वरम् ॥[1]

"काम नामक हरि की पूजा करे। सुगन्धित जल से स्नान करावे। उजले फूल, अक्षत और तिल से मधुसूदन की पूजा करे कि कामरूपी भगवान् जर्नादन, जो सब जीवों के हृदय में आनन्द का विधान करते हैं, प्रसन्न हों। जिसे स्मर[2] कहते हैं, वह आनन्द का प्राण विष्णु और महेश्वर है। सुख चाहनेवाला, अङ्ग में उत्पन्न ईश्वर का काम-रूप में स्मरण करे।"

वेश्याएँ स्पर्शसुख के व्यापार से जीविकोपार्जन करती हैं। इस जीविकोपार्जन की क्रिया को भी धर्म का रूप देकर रूपाजीवाओं की आत्मिक पवित्रता और विकास के लिए, काम के रूप में विष्णु की पूजा का विधान है। वेश्याधर्मनिरूपण के प्रसंग में अनङ्गदान-व्रत की कथा है, जिसमें अनङ्गदान का विधान इस प्रकार किया गया है :

कामदेवं सपत्नीकं गुडकुम्भोपरि स्थितम् ।
ताम्रपात्रासनगतं हैमनेत्रपटावृतम् ॥
सकांस्यभाजनोपेतमिक्षुदण्डसमन्वितम् ।
दद्यादेतेन मन्त्रेण तथैकां गां पयस्विनीम् ॥
यथान्तरं न पश्यामि कामकेशवयोः सदा ।
तथैव सर्वकामाप्तिरस्तु विष्णो सदा मम ॥
यथा न कमला देहात् प्रयाति तव केशव ।
तथा ममापि देवेश शरीरे स्वे कुरु प्रभो ॥[3]

"सपत्नीक कामदेव को ताम्रपात्र में रखकर गुडकुम्भ पर रखे और सोने के पत्र से उसकी आँखें ढक दे। काँसे की थाली में खाने की वस्तुएँ और ईख का दण्ड एक दूध देनेवाली गाय के साथ इस मन्त्र से दान कर दे। क्योंकि काम और केशव में मैं कभी कोई अन्तर नहीं समझती, इसलिए हे विष्णु! सर्वदा मेरी सभी इच्छाएँ पूर्ण हों। हे केशव! जिस प्रकार कमला आपके शरीर से कभी अलग नहीं होती है, उसी प्रकार हे देवेश! मेरे शरीर को भी अपने रूप में ले लीजिए।"

काम की प्रतिमा के निर्माण का विधान शिल्पशास्त्र में इस प्रकार किया गया है :

कामदेवस्तु कर्त्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि ।
अष्टबाहुः प्रकर्त्तव्यः शङ्खपद्मविभूषणः ॥
चापबाणकरश्चैव मदोदञ्चितलोचनः ।
रतिः प्रीतिस्तथाशक्तिर्मदशक्तिस्तथोज्ज्वला ॥
चतस्रस्तस्य कर्त्तव्या पत्न्यो रूपमनोहरा ।

१. मत्स्यपुराण; आनन्दाश्रम, पूना, शाके १८२९; अध्याय ७, श्लोक १५,१६,२८
२. स्मर—स्मरण-मात्र से जो जग जाय, काम।
३. मत्स्यपुराण; आनन्दाश्रम, पूना, शाके १८२९; अध्याय ७०, श्लोक ५०—५३

चत्वारश्च करास्तस्य कार्या भार्यास्तनोपगा ।
केतुश्च मकरः कार्यं पञ्चबाणमुखो महान् ॥[1]

"कामदेव को संसार में बेजोड़ सुन्दरतावाला बनावे। इसकी आठ भुजाएँ हों, जिनमें शङ्ख, पद्म, चाप और बाण हों। मद से उसकी आँखें घूमती हों। उसकी चार स्त्रियाँ हों—रति, प्रीति, शक्ति और मदशक्ति। वे देखने में मनोहर और जगमगाती हुई हों। उसके चार हाथ भार्याओं के स्तनों पर बनाना चाहिए। ध्वजा पर बड़ा-सा मकर हो, जिसका मुख पाँच बाणों का बना हो।"

प्रीतिर्दक्षिणभागेऽस्य भोजनोपस्करान्विता ।
वामभागे रतिः कार्या रन्तुकामा निरन्तरम् ॥[2]

"कामदेव के दक्षिण भाग में भोजन की सामग्रीवाली प्रीति की प्रतिमा बनानी चाहिए। वाम भाग में रति को बनाना चाहिए, जिससे रति की इच्छाएँ प्रकट होती रहें।"

ग्रीस में क्यूपिड की आँखें अन्धी कर दी गई हैं। इससे सौन्दर्य की भावना पर चोट लगती है। काम से अन्धे प्राणी की आँखें फूट नहीं जातीं। वह भावावेश में उचित-अनुचित का विचार खो देता है, अर्थात् ज्ञान का अन्धा हो जाता है। काम की आँखों पर सोने का पत्र बाँधकर भारतीय विचारकों और कलाकारों ने अपनी कोमल भावना प्रकट की है। भावावेश का चकाचौंध, सोने का पत्र है। प्रतिकृति की आँख फोड़ना असभ्यता होती।

अष्टबाहु इसके आठो दिशाओं में व्याप्तित्व का चिह्न है। पद्म हाथ में रहना सारी सृष्टि पर शासन का प्रतीक है। शङ्ख ॐकारस्वरूप शब्दब्रह्म है। इससे काम का ब्रह्मत्व प्रकट होता है।

कन्दर्प का धनुष, रस से भरे हुए एक प्रकार के इक्षुदण्ड का होता है, जिसे पुण्ड्रेक्षु कहते हैं। जीवन की आनन्दमय सरसता, सृष्टि की वृद्धि और पुष्टि का कारण है। रस से भरा हुआ जीवन, पुण्ड्रेक्षु धनुष है और इससे निकलती हुई कोमल भावनाएँ पुष्पदान हैं, जो चेतना को आनन्द में विभोर कर प्रपंचलीला की सृष्टि और विस्तार करते रहते हैं।

मनीषियों ने कामदेवता के पञ्चबाणों को स्थूल, सूक्ष्म, प्रकृतिमय, भावमय आदि नानारूप दिये हैं।

स्थूल रूप का विवरण इस प्रकार है :

काममन्मथकन्दर्पमकरध्वजसंज्ञकाः ।
मीनकेतुस्तथा पुत्र पञ्चबाणा इति स्मृता ॥[3]

काली ने कृष्ण से कहा—"वत्स ! काम के पाँच बाणों के नाम ये हैं—काम; मन्मथ, कन्दर्प, मकरध्वज और मीनकेतु।"

---

१. विष्णुधर्मोत्तर
२. शिल्परत्न
३. कालीविलासतन्त्रम्; लन्दन, १९१७; पटल २४, श्लोक २३

सूक्ष्म रूप :

ह्रीं क्लीं ऐं ब्लूं स्त्रौं एते पञ्चबाणाः । एते सर्वचक्रं व्याप्य वर्त्तन्ते ॥[1]

"ह्रीं इत्यादि पञ्चबाण हैं। ये सर्वचक्र (संसार-भर) में व्याप्त हैं।"

बाह्यप्रकृतिमय :

अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥२

"श्वेत कमल, अशोक (के फूल), आम (की मंजरी), नवमल्लिका और नीलकमल—ये काम के बाण हैं।"

भावनामय :

उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा ।
सम्मोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्त्तिताः ॥[3]

"उन्मादन (पागल कर देनेवाला), तापन (दुःखी कर देनेवाला), शोषण (शरीर को सुखा देनेवाला), स्तम्भन (कोई काम करने के अयोग्य बनानेवाला) और सम्मोहन (मुग्ध कर देनेवाला)—ये (काम के) पाँच बाण कहे गये हैं।"

काम की कल्पना विभु की, आनन्दमय वृत्ति का रूपान्तर-मात्र है, जिसका महास्फोट, रास महानट का नृत्य, संगीत, कोमल भावनाओं का विलास इत्यादि है।[4]

१३. दुर्गा

पुरुषरूप में विष्णु, शिव, प्रजापति, ब्रह्मा इत्यादि के रूप में जिस प्रकार परब्रह्म का ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार स्त्रीरूप में, दुर्गा के रूप में उनका ध्यान और उपासना की जाती है। पुरुषरूप में माया और मायी की कभी एक ही और कभी दो भिन्न (स्त्री-पुरुष के) रूपों में कल्पना की जाती है। प्रभामण्डलविहीन नटराज और कालिय पर नृत्य करती हुई कृष्ण-मूर्त्ति में एक ही मूर्त्ति में त्रिगुणात्मिका माया और ब्रह्म के प्रतीक हैं। ये ही भाव अलग-अलग हर-गौरी, राधा-कृष्णादि के रूपों में साकार किये जाते हैं।

पुरुषं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत् ।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥[5]

"(परब्रह्म का) पुरुषरूप में वा स्त्रीरूप में ध्यान करे अथवा निराकार सत्-चित्-आनन्दमात्र का चिन्तन करे।"

ब्रह्म एक शक्तिमात्र है, इसका कोई निश्चित रूप नहीं है। इसलिए न इसका कोई लिङ्ग है और न जाति है। रूप तो निमित्त पर आश्रित है। भूतविद्या से एक उदाहरण

---

१. त्रिपुरातापिन्युपनिषत्
२. अमरकोष
३. तत्रैव
४. इसकी विशेष जानकारी के लिए त्रिपुरा-प्रकरण भी देखना चाहिए।
५. ललितासहस्रनाम; सौभाग्यभास्करभाष्य; बम्बई, शाके १८५७; १७वें श्लोक की टीका में उद्धृत।

दिया जा सकता है। बिजली एक शक्ति है। इसका क्या स्वरूप है, यह कहा नहीं जा सकता, पर निमित्त-भेद से प्रकाश देती है, यन्त्र-चालन करती है और उष्णता तथा शीतलता भी प्रदान करती है। ब्रह्म के विषय में भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। पिता का स्नेह प्राप्त करने के लिए पिता के रूप में और माता की अगाध करुणा के लिए मातृरूप में इसकी उपासना होती है। इस प्रकार अनन्त रूप अनन्त भावनाओं पर आश्रित हैं।

न त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गना चित्स्वरूपिणि न षण्ढतापि ते।
नापि भर्त्तु रपि ते त्रिलिङ्गता त्वां विना न तदपि स्फुरेदयम् ॥[1]

"अम्ब! तू न तो पुरुष है, न स्त्री और न नपुंसक। तू तो केवल चित्-मात्र है। तुम्हारे पति में भी तीनों लिङ्ग नहीं हैं। तुम्हारे विना उनमें स्फुरण नहीं होता।"

राजा सुरथ ने मेधा ऋषि से प्रश्न किया :

भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान्।
ब्रवीतिकथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज ॥[2]

"भगवन्! जिसे आप महामाया कहते हैं, वह देवी कौन है? ब्रह्मन्! वह किस प्रकार उत्पन्न होती है और उसके कौन-से कर्म हैं?"

मेधा ने उत्तर दिया :

नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम ॥[3]

"वह सर्वदा बनी रहती है। संसार ही उसकी मूर्त्ति है। उसीने यह सब फैलाया है। तथापि उसकी नाना प्रकार की उत्पत्ति मुझसे सुनिए।"

वहाँ ही ब्रह्मस्तुति में जो लिखा है वह मननीय है। ब्रह्मा कहते हैं :

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारस्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ॥
अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा ॥
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये ॥
प्रकृतिस्त्वं हि सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी।
यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥[4]

---

१. तत्रैव, पृष्ठ २६ में उद्धृत।
२. दुर्गासप्तशती, १.४५
३. तत्रैव, १.४७
४. दुर्गासप्तशती, १.५४, ५५, ५६, ५७, ५९, ६३

"तुम स्वाहा, स्वधा, वषट्कार अर्थात् सर्वयज्ञमयी, स्वरों का प्राण (वाक्), अमृत, अक्षर (ब्रह्मस्वरूपिणी), नित्या (अविनाशी) और तीन मात्राओं (अ, उ, म) के प्राणरूप (ॐ) में स्थित हो। अर्द्धमात्रा (तुरीया) में स्थित नित्या जिसका उच्चारण नहीं हो सकता, वह तुम ही हो। तुम सावित्री हो और सबकी जन्मदात्री परा (कारण-स्वरूपा) हो। तुम ही विश्व का पालन, सृजन और संहार करती हो। जब सृष्टि नहीं रहती है, तब सृष्टिरूप में तुम ही प्रकट होती हो। जगन्मयि! पालन में स्थितिरूपा और अन्त में संहृतिरूप तुम ही हो। सबका उत्पत्ति-स्थान तुम ही हो और तीनों गुणों को विभावित (क्रियाशील) करनेवाली हो।

"सबके प्राण! सत् असत् जहाँ जो कुछ है, उन सबकी जो शक्ति है उसकी क्या स्तुति हो।"

जिसकी प्राप्ति कष्टसाध्य हो, उसे दुर्गा कहते हैं। ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता का लक्षण कहा गया है—'इहामुत्र भोगविरागः'।—जीवनकाल में और मरने के बाद भी भोग से उदासीनता। यह बड़ा कठिन व्रत और दुःसाध्य अवस्था है। इसलिए ब्रह्मप्राप्ति के व्रत को क्षुर की धार पर चलने के समान कहा गया है :

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥[1]

देव्युपनिषत् में दुर्गा शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी॥
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।
तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम् ॥[2]

"देवी मन्त्रों की जननी और शब्दों का ज्ञान हैं। ज्ञान में भी चेतना से आगे और शून्यों में भी शून्य की साक्षिणी हैं। जिनसे बढ़कर कोई नहीं है, उसीका नाम दुर्गा है। उस पापनाशिनी, भवसागर से उद्धार करनेवाली दुर्गमा दुर्गा देवी को, संसार से त्रस्त होकर मैं प्रणाम करता हूँ।"

वहाँ ही देवी के स्वरूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवि। साऽब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च। अहमानन्दानानन्दाः। विज्ञानाविज्ञा नेऽहम् ब्रह्माऽब्रह्मणी वेदितव्ये। इत्याहाथर्वणी श्रुतिः ॥[3]

"सभी देवता देवी को घेरकर खड़े हो गये—'देवि! तुम कौन हो? उन्होंने कहा—मैं

१. कठोपनिषत्, ३.१४
२. देव्युपनिषत्, श्लोक १७, १८, १९
३. वही

ब्रह्म हूँ। मुझसे ही प्रकृति-पुरुष और शून्य-अशून्यवाला जगत् है। मैं आनन्द और अनानन्द हूँ। जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म (हूँ)।' यह अथर्ववेद का मत है।"

विष्णु, शिवादि रूपों से भिन्न अपनी विभूतियों और शक्तियों समेत, ब्रह्म के एक अभिनव रूप-कल्पना का प्रतीक दुर्गा की प्रतिमा है।

दुर्गा पराशक्ति अथवा परब्रह्म हैं। त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा और क्रिया) इनके तीन नेत्र हैं। ज्योति-स्वरूप सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी त्रिनेत्र कहे जाते हैं। जब आगे-पीछे अथवा दक्षिण-वाम—इन दो ही भागों में दिशाओं की कल्पना की जाती है, तब इनकी दो भुजाएँ होती हैं। मीनाक्षी[1], कुमारी[2], पार्वती आदि रूपों में दो भुजाएँ मानी जाती हैं। जब दिशाओं के पूर्वादि चार रूप माने जाते हैं, तब इनकी चार भुजाएँ होती हैं। चार दिशाओं और चार उपदिशाओं की कल्पना पर आठ भुजाएँ मानी जाती हैं। ऊर्ध्व और अधः जोड़ देने से दस दिशाओं के प्रतीक दस भुजाएँ और असंख्य कल्पित दिशाओं में सर्वव्यापित्व दिखलाने के लिए सहस्र अथवा दस सहस्र भुजाओं की कल्पना की जाती है।

महिषासुर ने देवी को देखा :

स ददर्श ततो देवीं व्याप्तलोकत्रयां त्विषा।
पादाक्रान्त्या नतभुवं किरीटोल्लिखिताम्बराम् ॥
क्षोभिताशेषपातालां धनुर्ज्यानिःस्वनेन ताम्।
दिशो भुजसहस्रेण समन्ताद्व्याप्य संस्थिताम् ॥[3]

"तब उसने देवी को देखा। उनकी ज्योति से तीनों लोक भर गया था। पैरों के दबाव से पृथ्वी धँस रही थी और किरीट आकाश को कुरेद रहा था। धनुष की डोरी के टङ्कार से अन्तिम पाताल तक डगमगा रहा था और उसकी सहस्रों भुजाएँ दिशाओं की ओर फैलकर भर गई थीं।"

यह देवी के सर्वव्यापी रूप की कल्पना है।

दस भुजाओं की कल्पना में, इनके दस हाथों में, दस दिक्पालों के अस्त्र रहते हैं—पूर्व दिशा के अधिपति इन्द्र का वज्र, अग्निकोण के अग्नि की शक्ति, दक्षिण के अधिपति यम का दण्ड, नैर्ऋत के निर्ऋति का खड्ग, पश्चिम के वरुण का पाश, वायुकोण के वायु का अंकुश, उत्तर के कुबेर की गदा, ईशान के ईश का शूल, ऊपर विष्णु का चक्र और नीचे ब्रह्मा का पद्म।

---

१. मीनस्येव ईक्षणं यस्याः। मीनानां वीक्षणमात्रे शिशूनामभिवृद्धिर्नतु स्तन्यदानादिनेति प्रसिद्धेः। तेन कटाक्षमात्रेण भक्तपोषका इत्यर्थः। अर्थात् मछली केवल दृष्टि-पात-मात्र से अपने बच्चों को पोसती है, दूध पिलाकर नहीं। उसी तरह दुर्गा दृष्टिपात-मात्र से भक्तों को पोसती है। —ललिता स० ना०, श्लोक ५७ की टीका।

२. 'यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति। यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति॥'—दुर्गा० स० ५.६९। 'जो मुझे युद्ध में जीत ले, जो मेरा दर्प दूर कर दे, जो मेरे जैसा बली हो, वही मेरा पाणिग्रहण करेगा।' ब्रह्ममयी की तुलना में ऐसा कोई नहीं है। इसलिए वह कुमारी है।

चार और आठ भुजाओं की परिकल्पना में अस्त्रों के विधान भी तदनुसार होते हैं। इनके चतुर्भुज और अष्टभुज विग्रहों की उपासना का भी बहुत प्रचार है।

दो भुजाओंवाले विग्रह की कल्पना करने पर दोनों में विग्रह के निमित्त सूचक दो अस्त्र रहते हैं। जैसे बगला के हाथ में गदा और शत्रुजिह्वा तथा छिन्नमस्ता के हाथ में छिन्न मस्तक और खड्ग। अथवा दोनों हाथ अभय और वरद-मुद्रा में रहते हैं।

महिषासुरमर्द्दिनी के रूप में एक सर्प है, जो महिष के अङ्ग से लिपटकर उसे विवश किये रहता है। अध्यात्म-पक्ष में महिषासुर महामोह का प्रतीक है। जब वह कालक्रम से परिणतावस्था प्राप्त कर घोर उपद्रव का रूप धारण कर लेता है, तब कालशक्ति (सर्प) द्वारा विवश कर महाशक्ति उसे समेटकर आत्मसात् कर लेती है। विद्या और अविद्या की यह क्रिया सृष्टि में निरन्तर चलती रहती है। इसलिए इनके इस रूप की परिकल्पना भी चिरन्तन है।

मधु-कैटभ, महिष, शुम्भ-निशुम्भादि महामोह वा अविद्या हैं। इनका महापराक्रमी रूप और सबपर विजय प्राप्त करना इनका प्रचण्ड सर्वव्यापित्व का लक्षण है। देवी से युद्ध करते समय शुम्भ और निशुम्भ के रूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है :

स रथस्थस्तथात्युच्चैर्गृहीतपरमायुधैः।
भुजैरष्टाभिरतुलैर्व्याप्याशेषं बभौ नभः ॥[१]
पुनश्च कृत्वा बाहूनामयुतं दनुजेश्वरः।
चक्रायुतेन दितिजश्छादयामास चण्डिकाम् ॥[२]

"वह (शुम्भ) रथ पर बैठा था। अपने अतुलनीय हाथों में बड़े-बड़े अस्त्रों को ऊँचा उठाये हुए सारे आकाश को भरकर जगमगा रहा था।"

"फिर दैत्याधिपति (निशुम्भ) ने अपने सहस्रों हाथ प्रकट कर सहस्रों चक्रों से चण्डिका को ढँक दिया।"

शुम्भ-निशुम्भ की ये आठ और सहस्रों भुजाएँ प्रबल महामोह का सर्वव्यापित्व है।[३]

अपनी विश्वधारण-शक्ति धर्म पर अवस्थित रहकर, जगन्मूर्त्ति की सारी क्रियाएँ वा लीलाएँ सर्वत्र होती रहती हैं। इसलिए सभी रूपों में धर्म ही उसका वाहन है। विष्णु-रूप में धर्म गरुड़ और शिव-रूप में वृषभ है।* दुर्गा-रूप में सिंह और बुद्ध-रूप में सिंह, वृषभ, गज, और अश्व है। जैनमत में गोमुख के रूप में धर्म को (वृषभ-रूप में) ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया गया है।

---

१. दुर्गासप्तशती, ९.१६
२. तत्रैव, ९.२८
३. यह वेद का वृत्र है। जितना ही इसका नाश किया जाता है, उतनी ही इसकी वृद्धि होती है।

* इन्द्र के प्रतीक सिंह, व्याघ्र और वृषभ हैं :
सिंहप्रतीको विशो अद्धिसर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽवबाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा विजीगवाञ्छन्नूयतामा खिदा भोजनानि ॥—अथर्व० ५.२२.७

दुर्गा के सिंह का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

दक्षिणे पुरतः सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम् ।
वाहनं पूजयेद्देव्या धृतं येन चराचरम् ॥[१]

"देवी के दक्षिण ओर, सामने, शक्तिशाली समग्रधर्मस्वरूप सिंह की पूजा करे। यह देवी का वाहन है, जो चराचर को धारण किये रहता है।"

पराशक्ति की लीला का अवलम्ब होने के कारण सिंह को विष्णु और महिष को सदाशिव भी कहा गया है :

अधुना सम्प्रवक्ष्यामि सिंहस्य च यथोचितम् ।
सिंहस्त्वं हरिरूपोऽसि स्वयं विष्णुर्न संशयः ॥
पार्वत्या वाहनं त्वं हि अतस्त्वां पूजयाम्यहम् ॥[२]

"अब सिंह का यथोचित विवरण देता हूँ। सिंह ! आप हरि-रूप (सिंह-रूप में) निःसन्देह स्वयं विष्णु हैं। आप ही पार्वती के वाहन हैं, इसलिए आपकी पूजा करता हूँ।"

यहाँ संसार की स्थिति के कारण विष्णु और धारणशक्ति धर्म को एक ही रूप में देखा गया है।

अधुना सम्प्रवक्ष्यामि महिषस्य च पूजनम् ।
महिषस्त्वं महावीरः शिवरूपः सदाशिवः ।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि क्षमस्व महिषासुर ॥[3]

"अब महिष के पूजन का विवरण देता हूँ। महिष ! आप बहुत बड़े वीर शिवरूप सदाशिव हैं। इसलिए आपकी पूजा करूँगा। महिषासुर क्षमा कीजिए।"

यहाँ महिष को भी प्रपंचलीला का अवलम्ब माना गया है।

वाहनरहस्य का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

सिंहस्थां परमेशानीं ब्रह्मविष्णुशिवार्चिताम् ।
प्रेतस्थां च महामायां रक्तपद्मासनस्थिताम् ॥
सिंहस्थां च तथा दुर्गां ध्यायेत्परममोक्षदाम् ।
शिवः प्रेतो महादेवो ब्रह्मा लोहितपङ्कजः ॥
विष्णुः सिंह इति ख्यातः वाहनानि महौजसः ।
स्वमूर्त्या वाहनं नैव तेषां देवि प्रयुज्यते ॥
तत्तन्मूर्त्यन्तरं कृत्वा वाहनत्वं गतास्त्रयः ।
शिवप्रेते कदाचित् सा कदाचिद्रक्तपङ्कजे ॥
कदाचित् केशरिपृष्ठे वसते परमेश्वरि ।
कामकाले शिवप्रेते वसते सिंहवाहिनी ॥[४]

१. वैकृतिरहस्य, ३०
२. कालीविलासतन्त्रम्; लन्दन, १९१७; पटल १८. श्लोक २९।
३. तत्रैव, १९.१,२
४. तत्रैव, २१.२९—३३

"ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूज्या, महामाया, परमेश्वरी का सिंहस्थ, शवारूढ तथा रक्तपद्मस्थ, और दुर्गा का सिंहस्थ ध्यान करे। यह परम मोक्ष देनेवाली है। महादेव शिव, शव हैं, ब्रह्मा लाल कमल हैं और विष्णु सिंहरूप में विदित हैं। ये बड़े तेजस्वी वाहन हैं। देवि ! अपने ही रूप पर ये नहीं चढ़ सकते, इसलिए अपनी ही दूसरी मूर्त्ति बनाकर ये तीनों अपने वाहन बन गये। कभी शिव शव पर, कभी लाल कमल पर, कभी सिंहपीठ पर सिंहवाहिनी रहती हैं।"

आध्यात्मिक पक्ष में वाहनतत्त्व का अभिप्राय यही है कि अशेष निष्क्रिय तत्त्व पर उसकी शक्ति प्रकट होकर क्रियाशक्ति के रूप में त्रिगुणात्मक प्रपंचलीला की रचना करती है।

देवी-प्रतिमा के एक ओर बुद्धि के प्रधान देवता गणेश और धनशक्ति लक्ष्मी हैं और दूसरी ओर ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और सैन्यबल के प्रतीक सेनापति कार्त्तिकेय हैं।

गणेश के स्वरूप पर विचार हो चुका है। लक्ष्मी के तत्त्व और रूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

या विद्या प्रकृतिर्लक्ष्मी दुर्गाया दक्षिणे स्थिता।
तां तप्तकाञ्चनाभासां द्विभुजां लोललोचनाम्॥
कटाक्षविशिखोद्दीप्तामञ्जनाञ्चितलोचनाम्।
शुक्लाम्बरपरीधानां सिन्दूरतिलकोज्ज्वलाम्।
शुक्लपद्मासनगतां ध्यायेन्नारायणप्रियाम्॥[1]

"जो विद्या (ब्रह्मस्वरूपिणी) प्रकृति (जगत्कारणरूपा, मूलतत्त्व ब्रह्म की प्रतिकृति) लक्ष्मी-रूप में दुर्गा की दाहिनी ओर स्थित हैं, उस नारायणप्रिया का तपाये सोने-जैसे वर्ण-वाले, द्विभुज, कटाक्षबाण से उद्दीप्त लोल अञ्जित लोचनवाले, शुक्लाम्बरवाले, सिन्दूर-तिलक से जगमगाते हुए, श्वेतपद्म पर बैठे हुए, रूप का ध्यान करे।

सरस्वती और कार्त्तिकेय के तत्त्व और रूप का विवरण इस प्रकार है :

शङ्खेन्दुकुन्दसङ्काशां द्विभुजां कमलेक्षणाम्।
कटाक्षेण च सोद्दीप्तामञ्जनाञ्चितलोचनाम्॥
सिन्दूरतिलकोद्दीप्तां दिव्याम्बरपरिच्छदाम्।
दिव्याभरणशोभाढ्यां वाक्यरूपां सरस्वतीम्॥[2]

"शङ्ख, कुन्द, चन्द्रमा-जैसी, द्विभुजा, कटाक्ष से उद्दीप्त, अञ्जित, कमल-से नेत्रवाली, सिन्दूर-तिलक से चमकती हुई, दिव्य वस्त्रोंवाली, दिव्य भूषणों की शोभावाली वाक्-रूपिणी सरस्वती का (ध्यान करे)।"

सोष्णीशमस्तकं देवं मयूरवरवाहनम्।
ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे वीरं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्॥[3]

---

१. तत्रैव, पटल २०, श्लोक १—३
२. तत्रैव, २०.७,८
३. तत्रैव, पटल १८, श्लोक ७

"मस्तक पर उष्णीश, मयूरवर वाहन, ब्रह्मविष्णुशिवस्वरूप वीर (स्कन्द) का ब्रह्मव्यापी (ध्यान करे)।"

१४. दुर्गासप्तशती

दुर्गोपासना का सर्वप्रधान ग्रन्थ दुर्गासप्तशती है। यह मार्कण्डेय पुराण के ८१ से ९३ अध्याय तक है। इसमें ५६७ श्लोकों के ७०० मन्त्रों में विभाग किये गये हैं। इसलिए इसे दुर्गासप्तशती कहते हैं।

सप्तशती की कथा सूक्ष्म भावनाओं का प्रतीक है। दुर्गा को जानने और प्राप्त करने की जिज्ञासा और उद्यम की कथा का आरम्भ राजा सुरथ (अच्छे रथवाला, अर्थात् कर्मनिष्ठ) और समाधि वैश्य (चित्त की एकाग्रता) की कथा से होता है। सुरथ शत्रुओं से पराजित हुए और राज्य छोड़कर उन्हें वन में शरण लेनी पड़ी। समाधि को स्त्रियों और पुत्रों ने धन के लोभ से, मार-पीटकर घर से निकाल दिया। अर्थात्, कर्मठता, विरोधी शक्तियों से पराजित हुई और चित्त की एकाग्रता संसार की चंचलताओं से घबराकर भाग खड़ी हुई। कर्म और समाधि, दोनों व्याकुल होकर ऋषि सुमेधा (सद्बुद्धि, विचार-शक्ति) के पास जाते हैं और देवी महामाया के विषय में प्रश्न करते हैं। उनके उपदेश से वे तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके बताये हुए उपाय से ब्रह्मशक्ति को प्रकट करते हैं। देवी की कृपा से सुरथ को राज्य (भोगसिद्धि) मिलता है और समाधि को उसकी इच्छा के अनुसार मोक्ष मिलता है।

दुर्गासप्तशती में दुर्गोपासना का जिस प्रकार विधान किया गया है, उसमें मानव-बुद्धि और समाज के गूढ़तम सिद्धान्त सन्निहित हैं। आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के उद्भव और विकास के स्थूल, सूक्ष्म और पर—जितने रूप हो सकते हैं उनके प्रपंचात्मक तथा आध्यात्मिक सभी पक्षों पर विचार किया गया है और उनकी साधना की रीति बताई गई है।

मनुष्य-मात्र की प्रथम आवश्यकता भोजन है। इसका विकसित रूप व्यक्तिगत सम्पत्, प्रौढ़रूप राष्ट्रसम्पत् और और विराट् रूप महालक्ष्मी है। इसकी रक्षा के लिए क्रमशः उसी परिमाण में व्यक्तिगत राष्ट्रीय और विराट् रूप में बल चाहिए। नहीं तो गदहे गेहूँ चर जायँगे और लक्ष्मी को राक्षस लूट ले जायँगे। बल के भी तीन रूप हैं—व्यक्तिगत शक्ति, सुसंगठित समूहशक्ति और विराट् वा महाकाली-शक्ति। सम्पत्ति और बल के समायोग से पशुशक्ति, अर्थात् मनुष्य का शारीरिक आवश्यकताओंवाला पशुरूप पूर्ण हो जाता है। मनुष्य और पशु दोनों समान रूप से इसका उपयोग करते हैं। शारीरिक बल में श्रेष्ठ मनुष्य और पशु बलहीन का सर्वस्व अपहरण कर आत्मसात् कर लेते हैं। इतने में ही अपने को आबद्ध रखनेवाला मनुष्य राक्षस हो जाता है। (रावण, कंसादि ऐसे ही राक्षस थे।) मनुष्यत्व और देवत्व के लिए, इन शक्तियों के अतिरिक्त विवेक की आवश्यकता होती है। इसका व्यस्तरूप व्यक्तिगत विद्वत्ता और ज्ञान, समस्तरूप विद्याविलासियों और ज्ञानियों का समाज और विराट् रूप महासरस्वती हैं। मानव और मानवता को परमोत्कृष्ट रूप देने के लिए ही, उस एका महाशक्ति की, महालक्ष्मी, महाकाली[1] और महासरस्वती के रूप में उपासना की जाती है।

---

१. महाकाली—कल गतौ। काली-क्रियारूपिणी महाशक्ति, जो अपने ज्ञानबल और

दुर्गा की प्रतिमा समस्त शक्ति अर्थात् राष्ट्रशक्ति का प्रतिरूप है। जो व्यक्ति और व्यक्तियों का सम्मिलित रूप राष्ट्र, शारीरिक बल, सम्पत्तिबल और ज्ञानबल से सिंह-सदृश है, उस व्यक्ति में और उस राष्ट्र पर दुर्गा (शक्ति) प्रकट होती है। राष्ट्र को सैन्यबल (कार्त्तिकेय) और सम्पत्तिबल (लक्ष्मी) और ज्ञानबल (सरस्वती) अवश्य चाहिए, किन्तु बुद्धिहीन बल, सम्पत्ति और ज्ञान निरर्थक ही नहीं, वरन् आत्मसंहार के लिए प्रबल अस्त्र सिद्ध होते हैं। इसलिए मनुष्यता के आदिदेव, बुद्धि के महाकाय (गणपति) वर्त्तमान हैं, जिनकी विशाल बुद्धि (शरीर) के भार के नीचे सभी विघ्न (चूहे) विवश रहते हैं। सभी दिशाओं में फैली हुई राष्ट्रशक्ति ही, राष्ट्र की, दो, चार, आठ, दस, सहस्र और अनन्त तथा असंख्य भुजाएँ हैं और सब प्रकार के उपलब्ध अस्त्र-शस्त्र ही दिक्पालों के अस्त्र-शस्त्रादि इनके आयुध हैं। कोई व्यक्ति और राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसका विरोधी न हो। यही महिष है, शक्ति जिसका सर्वदा संहार करती रहती है। दुर्गा के रूप में यह भारतशक्ति की उपासना है।

दुर्गासप्तशती की कथा में, समाज की अविकसित, अर्द्धविकसित और पूर्ण विकसित अवस्थाओं में, शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों का बड़ा सुन्दर विवरण मिलता है। मधु-कैटभ की कथा में समाज की आदिम अविकसित अवस्था का चित्र है। इस अवस्था में व्यक्तिगत पशुबल, अर्थात् शारीरिक बल, काम करता है, बुद्धि काम नहीं करती। मधु और कैटभ एक बूढ़े और निःसहाय पुरुष (ब्रह्मा) को देखते हैं और विना कारण ही उनकी हत्या करने को तैयार हो जाते हैं। विष्णु से मल्लयुद्ध करते-करते प्रसन्न हो जाते हैं और उन्हें इतनी ही बुद्धि है कि मरने-मारने पर तुले हुए शत्रु (विष्णु) को वर दे बैठते हैं। यह पशुत्व और बुद्धिहीनता की पराकाष्ठा है। घबराकर प्राणरक्षा के लिए चारों ओर देखते हैं। देखते हैं कि सर्वत्र प्रलयकाल का जल-ही-जल है। उनकी समझ में यह नहीं आता है कि कहीं सूखा भी हो सकता है। झट कह बैठते हैं—जहाँ धरती पर पानी न हो, वहाँ हमें मार डालो। उनकी आँखों के सामने ही सूखा निकल आता है—विष्णु की

सम्पत्ति-बल से सृष्टि का प्रवर्त्तन, संचालन और रक्षा करती रहती है। चण्ड-मुण्ड और उसके योद्धाओं ने देवी को देखा :

> ददृशुस्ते ततो देवीमीषद्धासां व्यवस्थिताम्।
> सिंहस्योपरि शैलेन्द्रशृङ्गे महति काञ्चने ॥—दु० स० ७.२

"उन्होंने देखा कि शैलराज का एक बड़ा भारी सोने का शिखर है। वहाँ सिंह पर बैठी देवी जरा-सा मुस्कुरा रही है। राक्षसों की धृष्टता देखकर उनको बड़ा क्रोध हुआ :

ततः कोपं चकारोच्चैरम्बिका तानरीन्प्रति। कोपेन चास्या वदनं मषीवर्णमभूत्तदा। —तत्रैव ७.२

भृकुटीकुटिलात्तस्या ललाटफलकाद्द्रुतम् काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी। —तत्रैव ७.५ "तब अम्बिका को उन शत्रुओं पर बड़ा क्रोध हुआ। क्रोध से इनका रंग काला हो गया। टेढ़ी भौंहोंवाले इनके ललाटपट्ट से करालमुखवाली काली, खड्ग और पाश के साथ निकल पड़ीं।" इससे स्पष्ट है कि माँ के क्रियारूप का ही नाम काली है।

जाँघ, और उसी पर रखकर उनके शिर काट दिये जाते हैं। यहाँ व्यक्ति में पशुत्व की प्रचुरता और बुद्धि का नितान्त अभाव दिखाया गया है।

महिषासुर की कथा में समाज की व्यस्त शक्तियों की, समस्तरूप में अग्रसर होने की कथा है। देवगण राक्षसों से हारकर आत्मरक्षा का उपाय ढूँढ़ निकालने के लिए अपने नायक ब्रह्मा, विष्णु, महेश के पास जाते हैं। महिषासुर पर देवनायकों को क्रोध होता है। उनमें से प्रत्येक के शरीर से ज्योति निकलती है और मिल जाने से, जलती हुई ज्योति के पर्वत-सी दिखाई पड़ती है। यह ज्योतिराशि घनीभूत होकर स्त्री-रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। उसके प्रकाश से सारी सृष्टि भर जाती है। देवी को देखकर सभी बड़े प्रसन्न होते हैं और जिसके पास जो अस्त्र-शस्त्र है, उसका सार भाग देकर देवी का सम्मान करते हैं। आदर पाकर देवी प्रसन्न होती है और अट्टहास करने लगती है। इससे क्रुद्ध होकर महिषासुर उनपर आक्रमण कर देता है और सैन्य-समेत मारा जाता है। यह व्यक्ति की शक्तियों का संघटन कर समष्टि, अर्थात् संस्था, के रूप में समाज का निर्माण करना है। जब किसी संस्था के सभी सदस्य इसमें अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं, तब वह शक्तिशालिनी बनकर अट्टहास करने लगती है। उसकी प्रचण्ड शक्ति के सामने कोई विरोधी ठहर नहीं सकता।

शुम्भ-निशुम्भ की कथा में समाज के चरम विकास की कथा है। शुम्भ-निशुम्भ दो थे। उन्होंने रक्तबीज के रूप में अपने दल और समाज का अद्भुत संघटन किया था। वे स्वयं बलवान्, चतुर और बुद्धिमान् तो थे ही, रक्तबीज के रूप में उनकी संघटित शक्ति ने उन्हें दुर्दान्त और उद्दण्ड बना दिया था। उनके दल में जहाँ एक गिरता था वहाँ सौ (रक्तबीज) उठकर खड़े हो जाते थे; जहाँ से एक हटता था वहाँ असंख्य योद्धा उनका स्थान लेने को प्रस्तुत थे। देवी एक थीं, उन्होंने असंख्य शक्तियों के रूप में अपने को प्रकट कर फैला दिया। घोर युद्ध हुआ और सब राक्षस मारे गये। केवल शुम्भ बच गया। उसने कहा—मैं अकेला हूँ और तुम बहुत-से हो। यह कैसा युद्ध है? देवी ने कहा—तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट (दुष्ट) है। मुझको छोड़कर संसार में दूसरा है कौन? देखो, मेरी विभूतियाँ मुझमें अभी समा जाती हैं। देखते-ही-देखते देवी की सारी विभूतियाँ, ब्रह्माणी इत्यादि, उनमें समा गईं और देवी अकेली रह गईं। युद्ध हुआ और शुम्भ मारा गया। इससे स्पष्ट है कि जब समाज की व्यक्तिगत शक्तियाँ असंख्य रूपों में प्रकट हों और आवश्यकता पड़ते ही एक रूप धारण करें, और आवश्यकता पड़ते ही एक से असंख्य बन जायँ तो यह सामाजिक विकास और संघटन की पराकाष्ठा है। इसी में दुर्दान्त दैवी और प्रचण्ड दानवी शक्तियाँ सन्निहित हैं।

(किसी व्यक्ति वा संस्था का देव और दानव-रूप विचार की शुद्धता और अशुद्धता पर आश्रित है। अशुद्ध विचारों के कारण कोई राक्षस बन जाता है और शुद्ध विचारों से मनुष्य तथा देवता बनता है।)

दुर्गासप्तशती में बारम्बार यही दिखाने की चेष्टा की गई है कि देवी विश्वव्यापिनी और एक हैं और उनकी इच्छा से उनके असंख्य रूप हो जाते हैं। शुम्भ-निशुम्भ से उत्पीड़ित देवताओं ने देवी की स्तुति की। उसी स्थान पर एक पहाड़ी सोते में स्नान करने पार्वती आईं। उन्होंने देवताओं से पूछा कि आप किसकी स्तुति कर रहे हैं। उनके शरीर से

निकलकर एक देवी ने कहा—'स्तोत्रं ममैतत्क्रियते'—यह मेरी स्तुति हो रही है, और पार्वती का रंग काला हो गया। वे काली बन गईं। ऐसी कथाओं द्वारा यही स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि देवी एक हैं, किन्तु उनके रूप अनेक हैं और हो सकते हैं। नवार्ण मन्त्र (ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे) द्वारा इसे और भी स्थिरता दे दी गई है। सप्तशती के पटलों का क्रम है काली, लक्ष्मी और सरस्वती; किन्तु, मन्त्र के बीजों का क्रम है सरस्वती (ऐं), लक्ष्मी (ह्रीं) और काली (क्लीं), अर्थात् काली-पटल की क्रियाएँ सरस्वती-बीज से होती हैं और सरस्वती-पटल की क्रियाएँ काली-बीज से। देवी के आदिरूप को लक्ष्मी कहा गया है। लक्ष्म का अर्थ है चिह्न, लिङ्ग। यह ब्रह्म की त्रिमूर्त्ति की तरह है। लक्ष्मी अर्थात् ब्रह्म की प्रकट इच्छाशक्ति, मध्य में रहकर ज्ञान (सरस्वती) और क्रिया (काली)-शक्तियों का संचालन करती रहती है, इसलिए यह ह्रीं (देवी प्रणव) का वाच्य बनकर मध्यस्थ रह जाती है।

यन्त्र-प्रतीक पर भी, सभी देवताओं की तरह, देवी की भी पूजा होती है। उसमें प्रधान देवता का स्थान यन्त्र के मध्य में होता है और आवरण देवताओं की पूजा प्रधान देवता के भिन्न-भिन्न पार्श्व में यन्त्र के भिन्न-भिन्न भागों पर होती है। वहाँ उन देवताओं की प्रतिमा नहीं बनाई जाती, केवल ध्यान और मन्त्र से उनकी पूजा होती है।

यन्त्र और प्रतिमा एक ही भावना के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। देवी के रूप की कल्पना भी शिवलिङ्ग की तरह यन्त्र की भावनाओं के आधार पर की जाती है। दिव्यज्योतिस्वरूप पराशक्ति का घनीभूत रूप यन्त्र है और दिव्यज्योति का घनीभूत लघुरूप शिवलिङ्ग है। दुर्गासप्तशती के द्वितीय अध्याय में है कि देवताओं की आत्मज्योति जलते हुए पर्वत की तरह दिखाई पड़ने लगी (अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्) और वह घनीभूत होकर स्त्रीरूप में परिवर्तित हो गई। रुद्र-अंश से उनका मुख बना (यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम्)। यह शिवलिङ्ग का गोल रुद्रांश है। आठ भुजाएँ विष्णु-अंश से बनीं (बाहवो विष्णुतेजसा)। यह शिवलिङ्ग का वेदी के भीतरवाला अष्टप्रकृति का सूचक अष्टकोण है। ब्रह्मा के तेज से उनके चरण बने (ब्रह्मणस्तेजसा पादौ)। यह शिवलिङ्ग के निम्नस्थ ब्रह्मांश का सूचक स्थितितत्त्व चतुष्कोण है। ये ही यन्त्र के क्रमशः बिन्दु, अष्टदल और चतुष्कोण-भूपुर हैं।

शाक्तों ने परब्रह्म को उनकी शक्ति के रूप में ग्रहण किया। यह अत्यन्त सूक्ष्म भावना है। जबतक इसे स्थूल रूप नहीं दिया जाय तबतक इसे पकड़ना कठिन होता है।

शक्ति के तीन स्थूल रूप हैं—शारीरिक (पशुबल), अर्थबल और ज्ञानबल। तदनुसार प्रथम, मध्यम और उत्तम चरित्र तथा महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती-पटल में दुर्गासप्तशती का विभाग किया गया है। शारीरिक बल सबसे निकृष्ट है। अतः इसके लिए एक अध्याय है। अर्थबल उससे अधिकतर है। इसके लिए तीन अध्याय हैं और ज्ञान-बल सबसे श्रेष्ठ है, अतः इसके लिए नौ अध्याय हैं। किन्तु सबके भीतर प्रचण्ड ब्रह्मबल उनका संचालन करता है—ज्ञानान्नास्ति परं बलम्—यही सिद्धान्त इन विभागों और नाम-रूपों के भीतर काम करता है। यदि तामसी महामाया मधु-कैटभ की बुद्धि भ्रष्ट नहीं करती तो बाहुयुद्ध का अन्त ही नहीं होता। मध्यम चरित्र में दुर्गा मधुपान करती हैं और महिष मारा जाता है। यह मधुपान अपने ब्रह्मस्वरूप को स्मरण करना है। यह स्वरूप ज्ञान का

महानन्द है।[1] उत्तम चरित्र में तो आदि से अन्त तक ब्रह्ममयी की अपनी लीला-ही-लीला है और अन्त होता है ऋग्वेद की प्रथम ऋचा की भावना, भक्ति अर्थात् पूर्ण आत्मसमर्पण में—तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।

१५. दशमहाविद्या

ब्रह्म का ही दूसरा नाम ज्ञान वा विद्या है। शाक्तसम्प्रदाय में जिन दस प्रधान रूपों में ब्रह्म की उपासना होती है, उन्हें महाविद्या कहते हैं।

ब्रह्म, अर्थात् ब्रह्ममयी की असंख्य रूपों में उपासना हो सकती है और होती है।

असङ्ख्या त्रिपुरादेवी असङ्ख्याता च कालिका।
वागीश्वरी तथा सङ्ख्या तथा च सुकुलाकुला॥
मातङ्गिनी तथा पूर्णा विमला चण्डनायिका।
त्रिपुरैकजटा दुर्गा या चान्या कुलसुन्दरी॥[2]

"त्रिपुरादेवी असंख्य हैं; कालिका, वागीश्वरी, शक्तिमयी (सुकुला)[3], शिवमयी (अकुला)[4], मातङ्गिनी, पूर्णा, विमला, चण्डिका, एकजटा, दुर्गा, कुण्डलिनी (कुलसन्दरी) आदि के भी असंख्य नाम और रूप हैं।"

रुचि और निमित्तभेद से इन असंख्य रूपों में से किसी भी या अनेक रूपों में ब्रह्मविद्या की उपासना की जा सकती है।

ये दस महाविद्याएँ हैं :

काली तारा छिन्नमस्ता सुन्दरी बगला रमा।
मातङ्गी भुवनेशानी सिद्धविद्या च भैरवी।
धूमावती च दशमी महाविद्या दश स्मृता॥[4]

"सिद्ध महाविद्या के रूपों में ये दशमहाविद्या हैं—काली, तारा, षोडशी सुन्दरी, छिन्नमस्ता, बगला, कमला, मातङ्गी, भुवनेश्वरी, भैरवी और धूमावती।"

शाक्तदर्शन में प्रकाश और विमर्श—इन दो शब्दों का प्रयोग होता है। विमर्श का अर्थ है :

विमृश्यते परामृश्यते इदम् इति विमर्शः प्रपञ्चः॥

"जो संकल्प-विकल्प का विषय हो सके, उसे विमर्श अर्थात् प्रपञ्च कहते हैं।"

---

१. देखिए—ऋग्वेद, मं० १.९०. ६, ७, ८
तेभिर्दुग्धं पपिवान् सोम्यं मधु इन्द्रो वर्द्धते प्रथते वृषायते॥—ऋ०, मं० १०.९४.९
२. कुलचूडामणि; कलकत्ता, १९१५; पटल १, श्लोक १, २
३. कुल—शक्ति। अकुल—शिव। इसलिए शक्तिस्थान मूलाधार का नाम है। कुलकुण्ड और सहस्रार का नाम है अकुल।
४. पुरश्चर्यार्णव : नेपाल-महाराज प्रतापसिंह-कृत; बनारस, १९०१; पृ० १३ में शक्तिसंगम से उद्धृत।

वेदान्त का परमार्थ और प्रपञ्च ही तन्त्रदर्शन का प्रकाश और विमर्श है।

सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥[१]

"सारी सृष्टि के उदय, स्थिति, लयरूप लीला-विनोद में संलग्न, जिसके भीतर विमर्श लीन है, प्रकाशमात्र शरीरवाले महेश रक्षा करें।"

प्रकाश और विमर्श पर भास्करराय का मत है :

प्रकाशात्मकस्य परब्रह्मणः स्वाभाविकं स्फुरणं विमर्श इत्युच्यते ।

"प्रकाशरूप परब्रह्म के आप-से-आप स्पन्दन को विमर्श कहते हैं।"

स्वाभाविकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य विद्यते शक्तिः ।
सैव चराचरमखिलं जनयति जगदेतदपि च संहरति ॥[२]

"स्वाभाविक स्फुरण इसकी (परब्रह्म की) विमर्शरूप शक्ति है। वही सभी चर-अचर के रूप में संसार को उत्पन्न कर उसका संहार करती रहती है।"

वाचकेन विमर्शेन विना किंवा प्रकाश्यते ।
वाच्येनापि प्रकाशेन विना किंवा विमृश्यते ॥
तस्माद्विमर्शो विस्फूर्तौ प्रकाशं समपेक्षते ।
प्रकाशश्चात्मनो ज्ञानं विमर्शं समपेक्षते ॥[३]

"वाचक विमर्श के विना क्या प्रकाशित होगा, और वाच्य प्रकाश के विना किस पर विमर्श होगा। इसलिए स्फुरण के लिए विमर्श को प्रकाश की अपेक्षा है, और प्रकाश को अपने ज्ञान के लिए विमर्श की आवश्यकता है।"

रक्तशुक्लबिन्दुमयप्रकाशविमर्शात्मकब्रह्मणः सर्वं जातम् ।[४]

"रक्त-शुक्लबिन्दुमय प्रकाश-विमर्शवाले ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न हुआ।"

वन्दे गुरुपदद्वन्द्वमवाङ्मनसगोचरम् ।
रक्तशुक्लप्रभामिश्रमतर्क्यं भैरवं महः ॥[५]

"महः, भैरव, वाणी और मन के बाहर और अतर्क्य हैं। ये रक्त और शुक्ल प्रभा के सम्मिश्रण, गुरु के दोनों चरण हैं। इनकी मैं वन्दना करता हूँ।"

---

१. कामकलाविलास; कलकत्ता, १९२५; मङ्गलाचरण। यह शाक्तदर्शन का ग्रन्थ है, कामशास्त्र का नहीं।

२. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करभाष्य; बम्बई, १९३३; १६३वें श्लोक की टीका।

३. तत्रैव, मातृकाविवेक से उद्धृत।

४. कामकलाविलास, श्लोक ९ की टीका।

५. दारुणसप्तक, श्लोक १

जब विमर्श प्रकाश में लीन होकर स्थिर हो जाता है तब इसको एकरस[1], समरस, सामरस्य, रसानन्द आदि संज्ञाएँ दी जाती हैं। यही वेदान्तियों की निरुपाधि निर्विकल्प समाधि, बौद्धों की शून्यता और जैनों का कैवल्यज्ञान है। यह शिवत्व की स्वाभाविकी स्पन्दनहीन अवस्था है।

सामरस्यसम्बन्धेन शक्तिविशिष्टः शिवः एव हि परंब्रह्म ।[2]

"समरस रूप में शक्तिमान् शिव 'परंब्रह्म' है।"

ये ही प्रकाश और विमर्श, शाक्तदर्शन और प्रतीकों में नाना प्रकार से वर्णित हैं। इन्हीं भावनाओं के आधार पर शाक्तप्रतीकों का निर्माण होता है।

साधना के अवलम्ब और स्थान के भेद से प्रतीकों के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं :

स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा ।
प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरस्त्वतः ॥
मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम् ।
लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरेव च ॥
इत्येकादशधा बाह्यं पुनस्तद्बहुधा भवेत् ॥[3]

"साधना के स्थान तीन प्रकार के हैं—प्राण, शरीर और बाहर। प्राण में पाँच प्रकार के (स्थान) और देह में बाह्य और आभ्यन्तर—दो प्रकार के हैं। बाहर के स्थान हैं—मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र (माला), पुस्तक, लिङ्ग, तूर, पट, पुस्त (लेपादि से प्रस्तुत रूप), प्रतिमा, मूर्ति (गुरु इत्यादि की)। ये ग्यारह प्रकार के बाह्य हैं। इनके फिर अनेक भेद हो जाते हैं।"

अपनी इन कारिकाओं पर अभिनवगुप्त की टीका इस प्रकार है :

पुस्तं लेपादिनिर्मिताकृतिः। मूर्तिर्गुर्वादिसम्बन्धिनी। तदिदयानन्तर्याद्बाह्यं, पुनरित्येकादशविधत्वेऽपि, बहुधेति मण्डलादीनामप्येकशूलत्रिशूलादिक्रमेण नानाविधत्वात् ॥[4]

"पुस्त—लेप इत्यादि से बनाई हुई आकृति। मूर्ति—गुरु इत्यादि से सम्बद्ध। तत् अर्थात् उसके अनन्तर बाह्य, फिर ११ प्रकार के होने पर भी, बहुधा अर्थात् मण्डलादि, और उनमें भी एक शूल, त्रिशूलादि क्रम से अनेक भेद हो जाते हैं।"

देवी के तीन रूप हैं :

"स्थूलं समस्तया नाम्ना सूक्ष्मं मन्त्रतनुं तथा ।
पररूपं स्वर्पणेन विदितं पूजनं शिवे ॥[5]

---

१. मिलाइए—सदा एकरस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत युगल स्वरूप ॥—सूरसागर

२. ललितासहस्रनाम, श्लोक २०१ पर भास्करराय की टीका।

३. तन्त्रालोक; श्रीनगर, काश्मीर, सन् १९२२ ई०; भाग ४, आह्निक ६, श्लोक २, ३

४. वही, श्लोक २, ३ की टीका।

५. मन्त्रराज; लन्दन, १९२६; पटल ४, श्लोक ९७

"देवी की उपासना तीन प्रकार से प्रसिद्ध है—स्थूल रूप के नाम के साथ; सूक्ष्म, मन्त्र-रूप तथा अर्पण (मनोलय) द्वारा पररूप।"

उपनिषत् का भी यही मत है :

देवतायाः त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परञ्चेति। तत्राद्यं तद्ध्यानश्लोकोक्तम्। द्वितीयं तन्मूलमन्त्रात्मकम्। तृतीयन्तूपासनात्मकम्। देवतारूपं त्रैविध्यात् तदुपास्तिरपि त्रिविधा—बहिर्यागजपान्तर्यागभेदात्॥[1]

"(किसी) देवता के तीन रूप होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर। उसमें पहला ध्यान-श्लोक में कहा जाता है। द्वितीय उसका मूलमन्त्र के रूप में है और तृतीय उपासना-रूप है। देवता के रूप के तीन भेद होने के कारण, इसकी उपासना भी तीन प्रकार की होती है। उसके भेद हैं—बहिर्याग, जप और अन्तर्याग।

अन्यान्य शाक्तदर्शन के ग्रन्थों में भी ये ही भाव व्यक्त किये गये हैं। सारांश यह कि परब्रह्म की, नाना प्रकार से कल्पित रूपों द्वारा, उपासना की जाती है। हाथ-पैरोंवाली नाना रंगों की मूर्त्तियाँ बनाकर और उनमें प्राणप्रतिष्ठा कर, ध्यान द्वारा उसे बोधगम्य करने की चेष्टा की जाती है। मन्त्र द्वारा भी उसे प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

वर्णमाला के सभी अक्षर चेतनामय नाद की एक-एक मूर्त्ति हैं। इनमें अक्षर प्रतिमा की तरह स्थूल रूप, ध्वनि सूक्ष्म, और प्रकाशमय चित् में मनोलय, पररूप है। प्रत्येक वर्ण का शक्तिमय रूप निश्चित है। अकार की शक्ति का ध्यान इस प्रकार है :

केतकीपुष्पगर्भाभां द्विभुजां हंसलोचनाम्।
शुक्लपट्टाम्बरधरां पद्ममालाविभूषिताम्॥
चतुर्वर्गप्रदां नित्यां नित्यानन्दमयीं परां।
वराभयकरां देवीं नागपाशसमन्विताम्॥
शृणु तत्त्वमकारस्य अतिगोप्यं वरानने।
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयं सदा॥
पञ्चदेवमयं वर्णं शक्तिद्वयसमन्वितम्।
निर्गुणं सगुणोपेतं स्वयं कैवल्यमूर्त्तिमान्।
बिन्दुद्वयमयं वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणी॥[2]

"(अकार-मातृका) का वर्ण केवड़े के फूल के गर्भपत्र की तरह है। इसके दो भुजाएँ हैं, आँखें हंस-जैसी हैं, शुक्ल रेशमी वस्त्र धारण किये है, पद्म की माला से विभूषित है, नित्य चतुर्वर्ग का फल देनेवाली है, नित्य-आनन्दमयी है, परा (कारणरूपा) है, हाथों में नाग और पाश तथा अभय और वरद हैं।

सुन्दरि! अत्यन्त गोप्य अकार का तत्त्व सुनिए। शरच्चन्द्र की तरह (शीतल और प्रकाशमान) है, सदा पञ्चकोणमय है। पञ्चदेवमय, दोनों शक्तियुक्त, निर्गुण-सगुण, मूर्त्तिमान् कैवल्य और दो बिन्दुओंवाला है। यह स्वयं प्रकृतिरूपिणी है।"

---

१. *Kaul and other Upanishads*; Calcutta, 1922; भास्करभाष्य, पृ० १०

२. सार्थ-सौन्दर्यलहरी; प्रयाग; पृ० ५

इस प्रकार वर्णमाला के सभी वर्णों के निश्चित रूप हैं। सूक्ष्मरूप में सबकी ध्वनि भिन्न है, किन्तु पररूप में सब एकाकार वाङ्मय हो जाते हैं।

सभी आध्यात्मिक साधनाओं की तरह तान्त्रिक साधनाओं का भी प्रारम्भ स्थूल प्रतीक से होता है।

ब्रह्मविद्या के दो प्रधान मार्ग हैं—योग और तन्त्र। दोनों का ही प्रारम्भ स्थूल और सूक्ष्म प्रतीकों से होता है और उद्देश्य है 'पर' में आत्मलय।

१६. काली

दस महाविद्याओं में काली प्रथमा महाविद्या हैं। महाविद्या, अर्थात् ब्रह्मविद्या के दस रूपों में प्रथम रूप काली है। इसलिए इन्हें प्रथमा शक्ति और आद्याशक्ति भी कहते हैं।

'काली' शब्द की व्याख्या नाना प्रकार से की गई है :

तव रूपं महाकालो जगत्संहारकारकः।
महासंहारसमये कालः सर्वं ग्रसिष्यति॥
कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः।
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा॥[1]

"जगत् का संहार करनेवाला महाकाल तुम्हारा ही रूप है। महासंहार के समय काल सबका ग्रास कर लेगा। सभी तत्त्वों को समेट लेने के कारण इसका नाम महाकाल है। तुम आद्या (सबसे पहली) और परा (सबका कारण) हो, महाकाल को भी समेट लेने के कारण तुम कालिका हो।"

परापरात्मा कालश्च परः संविदि वर्त्तते।
काली नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते॥[2]

"क्रम और अक्रम (आगे-पीछे) का निर्धारण करनेवाले काल का पररूप (कारणरूप उद्गम-स्थान) संवित् (चेतना-रूप ब्रह्म) में रहता है, अर्थात् चिद्ब्रह्म का कियात्मक आंशिक रूप ही काल है। ब्रह्म की नित्य-क्रियाशक्ति-रूप पराशक्ति का ही नाम काली है, अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय रूप ही काली है।"

इसी प्रसंग को और भी अधिक स्पष्ट इस प्रकार किया गया है :

एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी।
क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः।
एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते॥[3]

---

१. प्राणतोषिणी, वंगाक्षर; १३३५ साल; पृ० ३८२ में महानिर्वाणतन्त्र के चतुर्थोल्लास से उद्धृत।

२. तन्त्रालोक; बम्बई, १९२०; आह्निक ६, श्लोक ७

३. तत्रैव, ६.३८, ३९

"विश्व के रूप में प्रकट होनेवाली, देव की यह क्रियाशक्ति ही काल है, जो सभी तत्त्वों का कारण-रूप है। यही ईश्वर-तत्त्व है, जो शिव का शरीर कहलाता है।"

'शिवस्य वपुः' इसपर टीका में अभिनवगुप्त कहते हैं :

बहिरोन्मुख्येऽपि स्वात्मन्येव विश्रान्तम् ।

"बाहर की ओर उन्मुख होने पर भी यह तत्त्व (क्रियाशक्ति) अपने ऊपर ही स्थित है।"

अर्थात्, शिव और उनपर स्थित उनकी क्रियाशक्ति-रूप काली, एक ही तत्त्व के दो नाम हैं।

योगवासिष्ठ में इसका विस्तृत विवरण है कि कूटस्थ (निष्क्रिय ब्रह्म) की क्रियाशक्ति अर्थात् सक्रिय रूप काली हैं :

ब्रह्माण्डभैक्ष्यभाण्डेयं काली भगवती क्रिया ॥५२॥
स्वयं दत्त्वैव दत्त्वैव भूतभिक्षां जिघृक्षति।
तिमिरालीककबरी इन्द्वर्कचपलेक्षणा ॥५३॥
ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रादिधरागिरिवरादिका ।
ब्रह्मतत्त्वैकपिटका लम्बमानपयोधरा ॥५४॥
चिच्छक्तिमातृका स्थूला तरला घनचापला।
तारकाजालदशना सन्ध्यारुणतराधरा ॥५५॥
समस्तपद्मिनीहस्ता शतक्रतुपुरानना।
सप्ताब्धिमुक्तालतिका नीलाम्बरपरीवृता ॥५६॥
जम्बूद्वीपमहानाभिर्वनश्रीरोमराजिका ।
भूत्वा भूत्वा विनश्यन्ती त्रिलोकीवृद्धकामिनी ॥५७॥
रुद्रा केचन विद्यन्ते तस्मिंश्चित्परमे पुनः ।
तेऽपि यस्य निमेषेण भवन्ति न भवन्ति च ॥६४॥
तादृशोऽप्यस्ति देवेशो ह्यनन्तोऽयं क्रियास्थितिः ।
अनन्तसङ्कल्पमये शून्ये च ब्रह्मणः परे ॥६५॥

(यो० वा०, निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्ध, ६.७, ५२-५७, ६४, ६५)

"भगवती काली (निष्क्रिय ब्रह्म की) क्रियाशक्ति हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इनका भिक्षापात्र (हाथ का खप्पर) है। स्वयं दे-देकर जीवों को भिक्षारूप में ग्रहण करती हैं। अन्धकार-समूह इनके केश हैं, सूर्य और चन्द्र इनके चंचल नेत्र हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेन्द्र, पृथ्वी, पर्वत, ब्रह्मज्ञानादि उनकी पिटारी में हैं, उनके स्तन लटके हुए हैं, वे चेतना का उत्पत्तिस्थान हैं, स्थूल, तरल और मेघ की तरह चंचल हैं, तारे उनके दाँत हैं, सन्ध्या की लालिमा उनका अधर है, पूर्णकमल (सृष्टि) उनके हाथ में है, अमरावती उनके मुख में है, सातों समुद्र उनके मुक्ताहार हैं, नीलवस्त्र में लिपटी हैं, जम्बूद्वीप उनकी नाभि है, वन के वृक्षादि उनके रोम हैं, तीनों लोकों के रूप में यह वृद्धा प्रकट और लुप्त होती रहती है। उस महा-चेतना में, उसके पलक मारने से बहुत-से रुद्र बनते और मिटते रहते हैं। ब्रह्मा से भी अधिक असंख्य कल्पनाओं से भरे शून्य में इस क्रियाशक्ति की स्थिति है।"

आद्यविद्या की प्रशंसा इस प्रकार की गई है :

कालसङ्कलनात् काली सर्वेषामादिरूपिणी ।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते ॥
पुनः स्वरूपमासाद्य तमोरूपं निराकृतिः ।
वाचातीतं मनोगम्यं त्वमेकैवावशिष्यसे ॥
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी ।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका ॥
अतस्ते कथितं भद्रे ब्रह्ममन्त्रेण दीक्षितः ।
यत्फलं समवाप्नोति तथैव तव साधनात् ॥

"आप सबके आरम्भरूप हैं और (सबका संग्रह करनेवाले) काल को भी अपने में समेट लेने के कारण आप काली हैं। कालत्व, अर्थात् जिन गुणों को लेकर काल उत्पन्न होता है, वे गुण आप ही हैं और (काल का भी) प्रारम्भ आपसे ही होता है इसलिए आपका नाम आद्या काली है।

फिर विना किसी रूपवाले अपने रूप अन्धकार (काला) के रूप में, अकथनीय (वाचातीतं) अनुभव के रूप में (मनोगम्यं), (अशेष कारण के रूप में) एक आप ही अवशिष्ट रहती हैं।

साकार होने पर भी आप निराकार हैं और माया से बहुत रूप धारण करती हैं। आपका आरम्भ नहीं है और आपसे सबका आरम्भ होता है। आप ही करने, हरने और पालनेवाली हैं।

भद्रे ! (कल्याणमयि !) इसलिए आपसे कहा कि ब्रह्ममन्त्र (गायत्री) से दीक्षित होने पर जो फल मिलता है, वही आपकी साधना से भी प्राप्त होता है।"

द्वितीय श्लोक में काली के घोर काले रंग का रहस्य है। अशेषकारण का रंग न उजला है और न काला। वह तो सत्तामात्र है। प्रकाश-रूप में उसे सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकोटिसुशीतलः' (करोड़ों सूर्य-जैसा प्रकाशमान और करोड़ों चन्द्रमा-जैसा शीतल) कहा जाता है। और, अन्धकार-रूप में उसे सभी रूपों को मिटाकर सत्तामात्र एक तत्त्व के रूप में महाघोर काला रंगवाली सत्ता कहा जाता है। यही तान्त्रिकों की तिरस्करिणी विद्या है, जो सभी वस्तुओं को आत्मसात् कर उन्हें अपने भीतर छिपा लेती है।

काली-तत्त्व का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

महालक्ष्मी समाख्याता साहं सर्वाङ्गसुन्दरी ।
महाश्रीः सा महालक्ष्मीश्चण्डा चण्डी च चण्डिका ॥
भद्रकाली तथा भेदाः काली दुर्गा महेश्वरी ।
त्रिगुणा भगवत्पत्नी तथा भगवती परा ॥
एताः संज्ञास्तथान्याश्च तत्र मे बहुधा स्मृता ।
विकारयोगादन्याश्च तास्ता वक्ष्याम्यशेषतः ॥

---

१. प्राणतोषिणी, वंगाक्षर; १३३५ साल, पृष्ठ ३८३

रक्षयामि जगत्सर्वं पुण्यापुण्ये कृताकृते ।
महनीया च सर्वत्र महालक्ष्मीः प्रकीर्त्तिता ॥
महाब्धिश्रयणीयत्वान्महाश्रीरिति गीयते ।
भण्डस्य दयिता भण्डी भण्डत्वाद्भण्डिका मता ॥
कल्याणरूपा भद्रास्मि काली भद्रा प्रकीर्त्तिता ।
कलात्सतां स्वरूपत्वादपि काली प्रकीर्त्तिता ॥
सुहृदाञ्च द्विषाञ्चैव युगपत्सदसद्भिभोः ॥
भद्रकाली समाख्याता मायाश्चर्यगुणात्मिका ॥
माया योग इति ज्ञेया यज्ज्ञानाज्ञानयोर्नृणाम् ।
पूर्णषाड्गुण्यरूपत्वात्स्मृता चाहं परात्परा ॥
शासनाच्छक्तिरूपाहं राज्यहं रञ्जनात्सताम् ।
सदा शान्तविकारत्वाच्छान्ताहं परिकीर्त्तिता ॥
मत्तः प्रक्रमते विश्वं प्रकृतिः सास्मि कीर्त्तिता ॥
श्रयन्ति ह्ययना चास्मि शृणोमि दुरितं सताम् ॥
शृणोमि करुणावाचं शृणोमि च गुणैर्जगत् ।
शरणं सर्वभूतानां स्मेऽहं सर्वकर्मणाम् ॥
ईडिता च सदा देवैः शरीरञ्चास्मि वैष्णवम् ।
एतान्मयि गुणान्दृष्ट्वा वेदवेदाङ्गपारगाः ॥
गुणयोगविधानज्ञाः श्रियं मां संप्रचक्षते ।
साऽहमेवंविधा नित्या सर्वाकारा सनातना ॥ इति ॥'[1]

'जिसे महालक्ष्मी कहा गया है, वह सर्वाङ्गसुन्दरी (त्रिपुरसुन्दरी—षोडशी) मैं ही हूँ। महाश्री, महालक्ष्मी, चण्डा, चण्डी, चण्डिका, भद्रकाली, नाना प्रकार की काली, दुर्गा, महेश्वरी, त्रिगुणा, भगवान् की स्त्री, भगवती, परा.—ये तथा और बहुत-से मेरे नाम हैं। परिवर्त्तन (विकार) होते रहने के कारण और भी नाम हैं। उन्हें मैं विस्तारपूर्वक कहती हूँ। पुण्य-अपुण्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-रूप सारे जगत् की मैं रक्षा करती हूँ और सर्वत्र लोग मुझे बड़प्पन देते हैं, (इसलिए) मेरा नाम महालक्ष्मी है। (अशेषकारण-रूप) महासागर को आश्रय बनाने के कारण महाश्री नाम है। भण्ड की स्त्री भण्डी और भण्ड होने के कारण भण्डिका नाम है। कल्याण-रूपिणी होने के कारण भद्रा हूँ और भद्रकाली नाम कहा गया है। कला (साकार जगत) को आत्मसात् करनेवाला रूप होने के कारण भी काली कहा गया है। मित्र-शत्रु और सत्-असत्—दोनों में एक साथ व्याप्त होने के कारण, आश्चर्य गुणवाली माया, काली कही जाती है। माया के सम्पर्क से ही मैं, मनुष्यों के ज्ञान और अज्ञान से पूर्ण षड्गुण-रूप में समझ में आती हूँ। इसलिए मैं पर से भी पर हूँ। शासन करने के कारण में शक्तिरूपा हूँ। सज्जनों का

१. अप्रकाशिता उपनिषदः, गुह्यषोढान्यासोपनिषत्; मद्रास, १९३३; पृष्ठ १९२ में लक्ष्मीतन्त्र से उद्धृत।

रञ्जन करने के कारण मैं राज्ञी हूँ। सर्वदा शान्त विकार के कारण मुझे शान्ता कहते हैं। मुझसे सृष्टि का प्रवर्त्तन होता है। इसलिए मैं प्रकृति कहलाती हूँ। मुझमें लोग आश्रय पाते हैं, इसलिए मैं अयना (अवलम्बरूपा) हूँ। सज्जनों के दुःख को सुनती हूँ, करुणवचन सुनती हूँ, गुणों द्वारा जगत् को सुनती हूँ, सब जीवों की रक्षा करती हूँ, सभी कर्मों के भीतर रहती हूँ, देवराज सदा मेरी पूजा करते हैं, विष्णुरूप में मैं ही हूँ। मुझमें इन गुणों को देखकर, वेदवेदान्तपारग और गुणयोग के विधान को जाननेवाले मुझे श्री कहते हैं। वही मैं इस प्रकार नित्या, सर्वाकार और सनातनी हूँ।"

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम्।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम्॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवामाधोर्ध्वकराम्बुजाम्।
वरदञ्चाभयं चैव दक्षिणाधोर्ध्वपाणिकाम्॥
महामेघप्रभां श्यामां तथैव च दिगम्बरीम्।
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम्॥
कर्णावतंसतानीतशवयुग्मभयानकाम्।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम्॥
शवानां करसंघातैः कृतकाञ्चीं हसन्मुखीम्।
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम्।
घोररूपां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम्।
बालार्कमण्डलाकार लोचनत्रितयान्विताम्॥
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकचोच्चयाम्।
शवरूपमहादेवहृदयोपरि संस्थिताम्।
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम्॥
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम्।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम्।
भजेत् त्रिजगतां धात्रीं सर्वकामार्थसिद्धिदाम्॥[1]

"कराल वदनवाली, घोर, खुले हुए बालोंवाली, चतुर्भुजा, ब्रह्मरूपिणी (विद्या), मुण्डमाला से विभूषित, बाँये नीचे और ऊपरवाले हाथों में तुरत का कटा हुआ शिर और खड्ग, दाहिने नीचे और ऊपरवाले हाथों में वरद और अभय, महामेघ के समान श्याम वर्ण, दिग्वस्त्रा, गले से लटकती हुई मुण्डमाला से टपकती हुई रक्त की बूँदों से चर्चित, दो शवों के बने हुए दो कर्णाभूषण से भयानक, घोर दाँतोंवाली, भयंकर, पुष्ट और उन्नत स्तनोंवाली, शवों के हाथों के बने हुए कटिबन्धवाली, हँसती हुई, ओठ के कोनों से टपकती हुई रक्त की बूँदों से फड़कता हुआ मुख, घोर महारौद्र रूपवाली, श्मशान में निवास करनेवाली, बालसूर्यमण्डल की तरह तीन नेत्रोंवाली, बड़े-बड़े दाँतोंवाली, दाहिनी ओर खुले हुए केशों से ढँकी हुई, शवरूप महादेव के हृदय पर स्थित, घोर शब्द करनेवाली

१. श्यामारहस्य; जीवानन्द, कलकत्ता, १९८६; पृ० ३७ में भैरवमन्त्र से उद्धृत।

शिवाओं से घिरी हुई, महाकाल के साथ विपरीत रति में आतुर, सुख से प्रसन्न वदनवाली, मुस्कुराता हुआ मुखकमलवाली, सभी काम और अर्थ को सिद्ध करनेवाली त्रैलोक्यजननी दक्षिणा कालिका का ध्यान करे।"

अन्यत्र ध्यान इस प्रकार है :

देव्या ध्यानं प्रवक्ष्यामि सर्वदेवोपसेविताम् ।
अञ्जनाद्रिनिभां देवीं करालवदनां शिवाम् ॥
मुण्डमालावकीर्णांसां मुक्तकेशीं स्मिताननाम् ।
महाकालहृदम्भोजे स्थितां पीनपयोधराम् ॥
विपरीतरतासक्तां घोरदंष्ट्रां शिवैः सह ।
नागयज्ञोपवीताञ्च चन्द्रार्द्धकृतशेखराम् ॥
सर्वालङ्कारयुक्ताञ्च मुण्डमालाविभूषिताम् ।
मृत हस्तसहस्रैस्तु काञ्चीबद्धां दिगम्बरीम् ॥
शिवाकोटिसहस्रैस्तु योगिनीभिर्विराजिताम् ।
रक्तपूर्णमुखाम्भोजां मद्यपानप्रमत्तकाम् ॥
वह्न्यर्कशशिनेत्रान्तु वह्निबिन्दुयुताननाम् ।
विगतासुकिशोराभ्यां कृतकर्णावतंसिनीम् ॥
कण्ठावसक्तमुण्डालीं गलद्रुधिरचर्चिताम् ।
श्मशानवह्निमध्यस्थां ब्रह्मकेशववन्दिताम् ॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवराभीतिकराम्बुजाम् ।
तत्र वामोर्ध्वहस्तेन कपालं तदधः शिरः ।
दक्षिणे चोर्ध्वहस्ते ह्यभयं तदधो वरम् ॥[1]

"सभी देवताओं से सेवित देवी का ध्यान करता हूँ। देवी अञ्जनाद्रि की तरह हैं। शिवा का कराल वदन है। कन्धे पर मुण्डमाला पड़ी हुई है, केश खुले हैं, मुख पर मन्द मुस्कान है, महाकाल के हृदयकमल पर स्थित हैं, स्तन पुष्ट हैं, भयङ्कर दाँत हैं, शिवों के साथ विपरीत रति में आसक्त हैं, नाग का यज्ञोपवीत है, मस्तक पर अर्द्धचन्द्र है, सब अलङ्कारों से युक्त हैं, मुण्डमाला से विभूषित हैं, मृतकों के सहस्रों हाथों की बनी हुई काञ्ची बँधी हुई है, दिगम्बरी हैं, सहस्रों कोटि शिवा और योगिनी से घिरी हैं। मुखकमल रक्त से भरा हुआ है, मद्यपान से मत्त हैं, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के नेत्रोंवाली, अग्नि और बिन्दुयुत नेत्रवाली, दो मृतक किशोर के कर्णभूषणवाली, गले में पड़ी हुई मुण्डश्रेणी से टपकते हुए रक्त से चर्चित, श्मशान की आग में रहनेवाली, ब्रह्मा और केशव से वन्दित, तुरत कटे हुए शिर, खड्ग, वर और अभययुक्त हाथोंवाली, वहाँ ऊपरवाले बायें हाथ में कपाल और नीचेवाले में शिर, दाहिने ऊपरवाले हाथ में अभय और नीचेवाले में वर है।"

---

१. तत्रैव, पृ० ३७ में स्वतन्त्रतन्त्र से उद्धृत।

महाकालकृत स्तव का ध्यान इस प्रकार है :

ऊर्ध्वं वामे कृपाणं करकमलतले छिन्नमुण्डं तथाधः ।
सव्ये चाभीर्वरञ्च ।

"ऊपरवाले बायें हाथ में कृपाण, नीचेवाले कर-कमलतल में छिन्नमुण्ड और दाहिने में अभय तथा वर।"

महाकाल-स्तव में उपर्युक्त विशेषणों के अतिरिक्त 'वाग्देवी' और 'नाति-युवती' शब्द का भी प्रयोग हुआ।

काली-मूर्त्ति में उन्हीं तत्त्वों का सन्निवेश है, जिनके आधार पर विष्णु-शिवादि के रूप की कल्पना की जाती है। कालीरूप में अशेषतत्त्व का निष्क्रिय और त्रिगुणात्मक सक्रिय रूप है। नीचे पड़ा हुआ उज्ज्वल पुरुष-रूप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है—यही वेदान्त का निरुपाधि निर्विकल्प अशेष तत्त्व, बौद्धों का शून्य और सर्वथा अपरिवर्त्तनशील 'वज्रतत्त्व', और जैनों का 'केवल' तत्त्व है। यही सक्रिय होकर काली-रूप में प्रकट होता है।

निराकार ब्रह्म का प्रथम साकार रूप शव है। यह निश्चल तत्त्व का प्रतीक है, इसलिए इसे शव और वज्र कहा जाता है। यही जब इच्छा और क्रिया अर्थात् त्रिगुणादि के, सृष्टि के रचना-कार्य में सक्रिय हो उठता है, अर्थात् जब इसकी शक्ति स्पन्दित होने लगती है तब इसे शिव कहते हैं। इसे ही अलंकृत भाषा में कहा जाता है कि इकार शक्ति है, और शक्तिहीन ब्रह्म शव है और शक्तियुक्त होने से वह शिव कहलाता है। महाशक्ति की क्रीडा का आधार होने के कारण इसे शवासन कहा जाता है। इसकी पूजा का मन्त्र है :

हसौः सदाशिवमहाप्रेतपद्मासनाय नमः ।[1]

'हसौः' शवबीज वा प्रेतबीज है। परमतत्त्व का ही नाम सदाशिव है। यह महाशव के रूप में आद्य आसन है। यही पद्म के रूप में साकार सृष्टि का रूप ग्रहण करता है, जो महामाया का आसन अथवा क्रीडास्थल बन जाता है। यही महाप्रेतपद्मासन है।

पीठ अर्थात् वाहन के तत्त्व का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

सिंहस्थां परमेशानीं ब्रह्मविष्णुशिवार्चिताम् ।
प्रेतस्थां च महामायां रक्तपद्मासनस्थिताम् ॥
सिंहस्थां च तथा दुर्गां ध्यायेत्परममोक्षदाम् ।
शिवः प्रेतो महादेवो ब्रह्मा लोहितपङ्कजः ॥
विष्णुः सिंह इति ख्यातः वाहनानि महौजसः ।
स्वमूर्त्या वाहनं नैव तेषां देवि प्रयुज्यते ॥
तत्तन्मूर्त्यन्तरं कृत्वा वाहनत्वं गतास्त्रयः ।
शिवप्रेते कदाचित्सा कदाचिद्रक्तपङ्कजे ॥
कदाचित्केशरिपृष्ठे वसते परमेश्वरि ।
कामकाले शिवप्रेते वसते सिंहवाहिनि ॥[2]

---

१. श्यामारहस्य; जीवानन्द, कलकत्ता, १८९६; पृ० ४१। पद्मप्रतीक के विशेष विवरण के लिए, ब्रह्मा, विष्णु और तारा के पद्म की व्याख्या देखिए।

२. कालीविलासतन्त्रम्; लन्दन, १९१७; पटल २१, श्लोक २९—३३

"ब्रह्मा, विष्णु और शिव से पूजित, परम मोक्षदा, परमेशानी, महामाया, सिंहवाहिनी दुर्गा का सिंह, प्रेत (शव) पर अथवा रक्तकमल पर ध्यान करे। महादेव शिव, प्रेत (शव), ब्रह्मा रक्तकमल और विष्णु सिंह—ये तीनों महातेजस्वी वाहन हैं। अपने ही रूप (मूर्त्ति) को वाहन नहीं बनाया जा सकता। इसलिए अपने ही रूप का दूसरा रूप (मूर्त्ति) बनाकर ये तीनों वाहन बन गये हैं। वह परमा ईश्वरी कभी (शिव-प्रेत) शव-रूप महादेव पर, कभी रक्तपद्म पर और कभी सिंह-पीठ पर रहती है। सिंहवाहिनी काम-काल में अर्थात् सृष्टि के इच्छा-काल में कामकला-रूप में शिवप्रेत (निष्क्रिय ब्रह्म अर्थात् अपने ही स्थिर रूप) पर रहती है।"

फलितार्थ यह हुआ कि निश्चल शिव पर उसका अपना ही हिलता-डुलता अर्थात् क्रिया-शील रूप काली (कल-गतौ) है, अर्थात् महाकाल और महाकाली एक ही तत्त्व के दो नाम हैं और काली की प्रतिमा निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म का प्रतीक है।

परमतत्त्व के आदिमध्यान्तहीन रूप की कल्पना प्रकाश और अन्धकार के रूप में की जाती है। प्रकाश-रूप में वह परम ज्योतिर्मय शिवस्वरूप है और अन्धकार-रूप में वह सभी प्रकाश और रूपों को आत्मसात् कर महा अन्धकारमय शून्यरूपा बनकर स्थित रहती हैं। यही वेदान्तियों का निरुपाधि निर्विकल्प तत्त्व, तान्त्रिकों का श्मशान, बौद्धों की शून्यता और जिनों का केवलतत्त्व है :

अनन्तकोटिब्रह्माण्डराजदन्ताग्रके शिवे।
स्थाप्य शून्यालयं कृत्वा कृष्णवर्णं विधाय च॥
महानिर्गुणरूपा च वाचातीता परा कला।
क्रीडायां संस्थिता देवी शून्यरूपा प्रकल्पयेत्॥[1]

"असंख्य कोटि ब्रह्माण्ड को अपने राजदन्त (चौह) के अग्रभाग पर रखकर अपनी स्थिति को शून्य और काला बनाकर, वाक् से भी पूर्ववर्त्ती, परा, कला और महानिर्गुणरूपा अपनी क्रीड़ा में स्थित शून्यरूप देवी की कल्पना करे।"

काली का महानिर्गुणरूप ही महान्धकाररूप है, जिसमें सभी आकार समाकर गुप्त हो जाते हैं।

शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः। शिवा च शिवश्च तयोः।[2]

"आकाशवत् होने के कारण (आकाशस्तल्लिङ्गात्) शिवों का (शिव और शिवा) का आकार काला दिखाई पड़ता है।"

मोक्षे साक्षादपेताम्बुदगगननिभां भावयेद्भक्तिगम्याम्॥[3]

"मोक्ष के लिए भक्तिगम्या (पराशक्ति) की, साक्षात् निर्मेघ आकाश के रूप में, भावना करे।"

---

१. शाक्तप्रमोद : कालीसहस्रनाम, श्लोक १६, १७

२. कर्पूरादिस्तोत्र : आर्थर आवलन; कलकत्ता, १९२२; पृ० ३ में योगवासिष्ठ से उद्धृत।

३. त्रिपुरासारसमुच्चय। वहीं उद्धृत।

काली के कूटस्थ अव्यक्त रूप का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

आद्यन्तहीनं जगदात्मरूपं
विभिन्नसंस्थं प्रकृतेः परस्तात् ।
कूटस्थमव्यक्तवपुस्तवैव
नमामि रूपं पुरुषाभिधानम् ॥[1]

"आपके पुरुष नामक रूप को मैं प्रणाम करता हूँ, जो आदि-अन्तरहित, जगत् का आत्म-स्वरूप, भिन्न-भिन्न रूपों में वर्त्तमान प्रकृति से भी आगे, कूटस्थ और अव्यक्त शरीर-वाला है।"

काली के नील वर्ण का ऊपर विवरण हो चुका है। इनके नीलवर्णवाले रूप को ही नील सरस्वती वा तारा कहते हैं और इनके रक्तवर्णवाले रूप का नाम रक्तकाली वा षोडशी है :

इयं नारायणी काली तारा स्यात् शून्यवाहिनी ।
सुन्दरी रक्तकालीयं भैरवी नादिनी तथा ॥[2]

"यही नारायणी काली, तारा, शून्यवाहिनी, सुन्दरी, रक्तकाली, भैरवी और नाद-रूपिणी (वाक्) हैं।

यही शून्यवाहिनी तारा बौद्धों की तारा अथवा शून्यता हैं।

कालिका द्विविधा प्रोक्ता कृष्णा रक्ता प्रभेदतः ।
कृष्णा तु दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता तु सुन्दरी मता ॥[3]

"कृष्ण और रक्त वर्ण के भेद से काली दो प्रकार की हैं। कृष्णा का नाम दक्षिणा है और रक्तवर्णा का नाम सुन्दरी (त्रिपुरसुन्दरी, षोडशी) है।"

कृष्णा काली का नाम तिरस्करिणी विद्या भी है। इस रूप की कल्पना इस प्रकार की जाती है :

नीलं हयं समधिरुह्य पुरः प्रयान्ती
नीलांशुकाभरणमाल्यविलेपनाढ्या ।
निद्रापुटेन भुवनानि तिरोदधाना
खड्गायुधा भगवती परिपातु भक्तान् ॥

"नीले घोड़े पर चढ़कर आगे चलती हुई, नीले वस्त्र, आभूषण, माला और विलेपन-युक्त, निद्रा के पुट में सृष्टि को छिपाती हुई, खड्ग-आयुधवाली भगवती भक्तों की रक्षा करें।"

यहाँ त्रिभुवन को आत्मसात् करनेवाली निद्रा का महाविस्तार, काली का सर्वग्रासी घोर अन्धकारमय कृष्ण वर्ण है। घोड़ा और खड्ग, महाशक्ति की शक्ति के प्रतीक हैं।

---

१. तत्रैव, पृ० ७ में रामकृतासितास्तोत्र से उद्धृत।
२. तत्रैव, बृहन्नीलतन्त्र से उद्धृत।
३. तत्रैव।

काली का नाम दक्षिणकालिका है। ऋग्वेद में प्रयुक्त दक्ष, दक्षिण और दक्षिणा शब्दों पर श्रीअरविन्द के विचार इस प्रकार हैं :

"इन सभी प्रमाणों पर एक साथ विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी दक्ष का अर्थ, विवेचना, सिद्धान्त और विचार-शक्ति, रहा होगा और इसका अर्थ मानसिक शक्ति या योग्यता, इन मानसिक क्रियाओं के विश्लेषण से निकलता है, शारीरिक शक्ति का मानसिक शक्ति पर आरोप करके नहीं।

इस प्रकार, वेद में दक्ष शब्द के तीन अर्थ सम्भाव्य हैं—साधारण अर्थ में **बल, मानसिक शक्ति** और विशेषतः **विवेकशक्ति**। दक्ष सदा ऋतु के साथ सम्बद्ध है। ऋषिगण मिलकर उनकी—दक्षाय क्रतवे—की लालसा करते हैं, जिसका सीधा अर्थ हो सकता है—**'योग्यता और कार्यक्षम शक्ति'** अथवा 'दृढ़ इच्छा और **विवेचना-शक्ति'**। जहाँ सारे प्रसंग का मानसिक क्रिया से सम्बन्ध है, वहाँ ऋचाओं में लगातार यह शब्द मिलता है। अन्त में, दक्षिणा देवी हैं, जो दक्ष का स्त्रीरूप होना चाहिए। दक्ष स्वयं देव हैं और पीछे के पुराणों में एक प्रजापति, अर्थात् आदि पितर हैं। हमलोग दक्षिणा को ज्ञान के विकास के साथ सम्बद्ध पाते हैं। कभी-कभी दिव्य दिनादि और प्रकाशदात्री उषा के साथ इसका पूर्ण तादात्म्य देखा जाता है। मेरा तो यह प्रस्ताव है कि अधिक प्रसिद्ध इडा, सरस्वती और सरमा की तरह, दक्षिणा चार देवियों में से एक हैं, जो ऋतम अर्थात् तत्त्वबोध की चार शक्तियों के प्रतिरूप हैं। इडा सत्यदर्शन है, सरस्वती सत्यश्रुति अर्थात् वाक्-प्रेरित है, सरमा आत्मज्ञान (intuition) है और **दक्षिणा विकासात्मक आत्मविवेक है।**"[1]

श्रीअरविन्द ने दक्ष, दक्षिण और दक्षिणा के जितने अर्थ किये हैं, उनमें इनकी प्रधानता है—बल, मानसिक शक्ति और विकासात्मक आत्मविवेक। इन सबका परिणत निचोड़ एक शब्द में कहा जा सकता है—क्रियाशक्ति। दुर्गासप्तशती के अनुसार महासरस्वती चिन्मयी ज्ञानशक्ति, महालक्ष्मी आनन्दमयी नित्य इच्छाशक्ति और महाकाली नित्य क्रिया-शक्ति हैं। काली गति वा क्रियाशक्ति हैं और यह सिद्धान्त श्रुतिसम्मत होने के कारण देवी की अत्यन्त समीचीन संज्ञा दक्षिणाकाली है।

सगुण रूप में भक्तों को वर देने में चतुर और उदार होने के कारण भी इन्हें दक्षिणा कहा जाता है।

सहेलं सलीलं वा स्मरणाद्वरदानेषु चतुरा। तेनेयं दक्षिणा।[2]

[बोध होता है कि वेदों की इडा, सरस्वती सरमा और दक्षिणा शक्तियाँ ही आध्यात्मिक साधना-शास्त्र में त्रिशक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) के रूप में प्रकट हुईं, जिन्हें आध्यात्मिक सिद्धि के लिए वैदिक सनातनमतावलम्बी वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन योगी और तान्त्रिक सभी ने समान श्रद्धा और भक्ति से अपनी साधना और सिद्धि का अवलम्ब बनाया।][3]

---

१. श्रीअरविन्द : On the Veda; Pondicherry, 1956; pp. 83-84.

२. अप्रकाशिता उपनिषदः; मद्रास, १९३३; गुह्यषोढान्यासोपनिषत्।

३. यह चित्र-परिचय में स्पष्ट होगा।

विस्तृत नील नभोमण्डल इनके खुले और बिखरे हुए बाल हैं :

खमेव तस्याः सम्पन्नं कवरीमण्डलं बृहत् ।[1]
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥[2]

"(तारा, ग्रह, नक्षत्रादिकों से) सजा हुआ आकाश उनका सजा हुआ महाविशाल (बृहत्) केशमण्डल, पाताल चरण, भूमि उदर और दिशाएँ भुजाएँ थीं।"

इनकी चार भुजाएँ चारों दिशाओं में व्याप्त शक्ति के प्रतीक हैं। इनकी द्विभुज मूर्त्ति के निर्माण का भी विधान है :

ध्यायेच्च सततं देवि तव रूपं प्रयत्नतः ।
द्विभुजां सुन्दरीं श्यामां नानारत्नविभूषिताम् ।
रक्तवस्त्रां स्मितमुखीं मातृवत् परिपालिनीम् ॥[3]

"देवि ! आपके इस रूप का यत्नपूर्वक ध्यान करे—दो भुजाएँ, सुन्दरी, श्यामवर्ण, नाना रत्नों से विभूषित, रक्तवस्त्र, स्मितमुखी और माता की तरह पालन करनेवाली।"

काली और श्यामा नाम और रूप का बौद्धों ने ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है।[४]

काली के 'सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते' होने के कारण किसी भी रूप में ध्यान किया जा सकता है :

अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥[५]

"काल की भी जन्मदात्री, महाप्रकाशस्वरूप, आकारहीन कालिका के गुण और क्रिया के अनुसार रूप की कल्पना की जाती है।" अर्थात् जब संहार-क्रिया में इन्हें संलग्न दिखाया जाता है, तब इनका तमोगुणी रूप माना जाता है, जिसका कल्पित रंग काला है, इसी तरह सृष्टि और स्थिति में क्रमशः रजोगुणी और सत्त्वगुणी रूप की कल्पना की जाती है, जिनका कल्पित रंग रक्त और श्वेत है।

इनके कानों की सजावट के लिए कर्णाभूषण के स्थान में दो शव लटके हुए हैं। ये धर्म और अधर्म हैं :

धर्माद्धर्वावुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ।[६]

धर्म और अधर्म—दोनों से ही सृष्टि चलती है। यदि अधर्म न रहे तो प्रपंच लुप्तप्राय हो जाय। जैसे—चोर अज्ञान से अधर्म, अर्थात् चोरी करता है। उसे पकड़ने के लिए रक्षी चाहिए, उसके अपराध की जाँच और दण्ड के लिए साक्षी, वकील, जज, कचहरी, लोअरकोर्ट, हाईकोर्ट इत्यादि चाहिए। इन्हें शिक्षा देने के लिए स्कूल, कॉलिज, विश्व-

---

१. यह 'बृहत्' वैदिक 'ऋतं बृहत्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है—महाविशाल।
२. योगवासिष्ठ, निर्माणप्रकरण; उत्तरार्द्ध; बम्बई, १९३७; सर्ग ८१
३. बृहन्नीलतन्त्रम् ; श्रीनगर, १९३४; ६, २४८, २४९
४. चित्र-परिचय देखिए।
५. महानिर्वाणतन्त्रम्, बंगाक्षर; कलकत्ता, १३२० साल; ५.१४०
६. योगवासिष्ठ; बम्बई, १९३७; निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्द्ध, ७८,४१

विद्यालय, शिक्षक, प्रोफेसर इत्यादि चाहिए। यदि चोर चोरी करना छोड़ दे तो ये सब बन्द हो जायँ। इस प्रकार और भी समझना चाहिए। इसलिए धर्म और अधर्म दोनों ही इनके अवतंस हैं। अधर्म जब अधिक उपद्रवी हो जाता है, तब उसे शान्त करना पड़ता है, जिसके लिए अवतार, रूपग्रहणादि क्रियाएँ होती हैं।

देवी के गले में मुण्डमाल है। यह शब्द ब्रह्म वाक् का स्थूल प्रतीक वर्णमाला है, जो सृष्टि का प्रतिरूप है। मुण्डमाल के टूटने का अर्थ सृष्टि का लोप होना है। महाकालकृत कालीकर्पूरादिस्तोत्रों में वाक् को मुण्डमाल कहा गया है। वाग्देवी मुण्डस्रक्—वाक् ही मुण्डमाल है।

मुण्डमाल, अर्थात् वर्णमाला के रूप, गुण और क्रियाओं का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

पञ्चाशद्वर्णमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम्[1]—पचास वर्णरूपी मुण्ड से चूते हुए रक्त से रंजित।

मम कण्ठे स्थितं बीजं पञ्चाशद्वर्णमद्भुतम्।[2]

"मेरे गले में पचास वर्णों के रूप में अद्भुत (सृष्टि का) बीज है।"

पञ्चाशन्निजदेहजाक्षरमयैर्नानाविधैर्धातुभिः
बह्वर्थैः पदवाक्यमानजनकैरर्थाविनाभावितैः।
साभिप्रायवदर्थकर्मफलदैः ख्यातैरनन्तैरिदं
विश्वं व्याप्य चिदात्मनामहमहत्युज्जृम्भसे मातृके॥[3]

"मातृके! (वर्णरूपिणी माँ) अनेक प्रकार के सार्थक धातु, अर्थ, पद, वाक्य और छन्द को उत्पन्न करनेवाले और अनन्त रूप में प्रसिद्ध कारण-सहित अर्थ और कर्मफल देनेवाले, अपने शरीर से उत्पन्न पचास अक्षरों से सारे विश्व में व्याप्त होकर आप अहम्-अहम् कहकर (अहङ्कार=मैं—भावना के रूप में) अपनी घोषणा करती हैं।"

मुण्ड से टपकता हुआ रक्त प्रत्येक क्षण में होनेवाली सृष्टि का लक्षण है। यह क्रियाशक्ति के रजोगुण का चिह्न है।

तस्मात् ज्ञानासिना तूर्णमशेषं कर्मबन्धनम्।
कामाकामकृतं छित्वा शुद्धश्चात्मनि तिष्ठति॥[4]

"इससे इच्छा और अनिच्छापूर्वक सारे कर्मबन्धनों को ज्ञानखड्ग से तुरत काटकर निर्मल बनकर आत्मा में स्थिर हो जाता है।"

पापपुण्यं पशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन शाम्भवि।[5]

"हे शम्भुरूपिणि! आप ज्ञानखड्ग से पाप और पुण्यरूप पशु को काट देती हैं।"

---

१. निरुत्तरतन्त्रम्
२ कामधेनुतन्त्रम्
३. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्, श्लोक २९
४. शिवधर्मोत्तर
५. योगिनीतन्त्रम्

पाप और पुण्य दोनों को ही पशु कहा गया है; क्योंकि दोनों ही अशक्ति, अर्थात् बन्धन के कारण हैं। इसलिए ज्ञानियों का अनुनय है कि :

पातकप्रचयवन्मम तावत् पुण्यपुञ्जमपि नाथ लुनीहि ।
काञ्चनी भवतु लौहमयी वा शृङ्खला यदि पदोर्न विशेषः ॥[1]

"नाथ ! पातकपुञ्ज की तरह पुण्यसमूह को भी मिटा दीजिए। सोने की हो अथवा लोहे की, पैरों में यदि बेड़ी है, तो इस (बन्धन) में कोई अन्तर नहीं होता।"

बौद्धों और जैनों ने भी इस भावना को इसी रूप में ग्रहण किया है। मञ्जुश्री बुद्ध के अनेक रूपों में तथा बौद्ध और जैन देवी-देवताओं के हाथों में यही ज्ञानखड्ग है।

काली के एक हाथ में सद्यश्छिन्न मुण्ड है, जिससे रक्तबिन्दु टपकता रहता है। यह महापुरुष का मुण्ड है। यही अज्ञान अथवा मोह विष्णु के हिरण्याक्षादि, शिव के त्रिपुरादि, दुर्गा के महिषादि और बुद्ध के मार हैं। विद्या और अविद्या की क्रियाओं के कारण सृष्टि का संकोच और विकास होता रहता है। अविद्या, जीवन के प्रधान उद्देश्य महानन्द, अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति का बाधक है। इसलिए साधकों के आत्मदर्शन के लिए इसका सर्वदा शिरश्छेद होता रहता है। इससे सर्वदा रक्तबिन्दुओं का टपकना इसकी निरन्तर क्रियाशीलता का प्रतीक है।

देवी के कटिभाग में शवों के हाथों की माला लटकी हुई है। आधुनिक युग के रामकृष्णादि की तरह महाज्ञानी जीवन्मुक्त साधक ही शव हैं, जिनकी वासनाओं के नष्ट हो जाने के कारण वे निश्चलवृत्तिवाले रूप को ग्रहण कर चुके हैं। वासनाशून्य उनका हृदय ही काली का श्मशान है, जिसमें वह नृत्य करती रहती है। इन्हीं शवों के कर्मबन्धन के प्रतीक उनके हाथ हैं, जिन्हें छिन्न कर करुणामयी माँ आत्मसात् कर लेती है, जिसमें उसके भक्तों को तत्त्वप्राप्ति हो।

वासनाशून्य हृदय ही श्मशान है, जहाँ यह निवास करती है। यह वेदान्तियों की निर्विशेष निर्विकल्प समाधि, बौद्धों की शून्यता, शाक्तों और वैष्णवों का सामरस्य (एकरसता, समरसता इत्यादि) और जैनों की केवलावस्था है।

मुक्ति श्मशान की शिवाएँ हैं, जो मोहादि का भक्षण और रक्तपान करती हैं और उसकी कृपा के लिए चिल्लाती रहती हैं।

शिवा मुक्तिः समाख्याता योगिनां मोक्षदायिनी ।
शिवाय यतते देवी ततो लोके शिवा स्मृता ॥[2]

"शिवा, योगियों को मोक्ष देनेवाली मुक्ति है। (मुक्ति) देवी शिवत्व के लिए प्रयत्नशील रहती है, इसलिए इसे शिवा कहते हैं।"

सक्रिय ब्रह्म के त्रिगुणात्मक रूप की कल्पना काली-मूर्त्ति है। काला रंग तमोगुण है,

---

१. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करभाष्य, पृ० १६९। २०७वें श्लोक की टीका में उद्धृत।

२. वही; बम्बई, १९३५; पृ० ३८

लोल जिह्वा से टपकता हुआ रक्तबिन्दु और ओष्ठप्रान्त से बहती हुई रक्तधारा, निरन्तर प्रपंच-क्रिया में प्रवृत्त रजोगुण और उज्ज्वल दन्तपंक्ति सत्त्वगुण है। ज्ञान-इच्छा-क्रियारूप चन्द्र, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं।

देवी की बलि के लिए छह पशुओं का विधान किया गया है :

सलोमास्थि स्वैरं पललमपि मार्जारमसिते परं चोष्ट्रं मैषं नरमहिषयोश्छागमपि वा।
बलिन्ते पूजायामयि विरलवक्त्रे वितरतां सतां सिद्धिः सर्वा प्रतिपदमपूर्वा प्रभवति ॥[1]

"अयि विरलवक्त्रे! असिते! लोम-अस्थि-सहित मार्जार, उष्ट्र, मेष, नर, महिष और छाग के मांस की पूजा में, यथारुचि बलि करने से सज्जन साधकों को पग-पग पर सिद्धियाँ मिलती रहती हैं।"

इसपर व्याख्या इस प्रकार है :

सलोमास्थि पललं सर्वावयवसमन्वितान् षड्रिपुरूपमार्जारादीपशून् इत्यर्थः। अत्र छागः कामः, महिषः क्रोधः, मार्जारः लोभः, नरः मदः, मेषः मोहः, मात्सर्यम् इति गुणसाम्यात् बोध्यम्। बलिं वितरतां कामादीनां विनाशकामनया चिद्रूपायां त्वयि पूजोपहाररूपेण ददताम्।[2]

"रोआँ और हड्डी-सहित मांस—इसका अर्थ है सभी अंगों-सहित षड्रिपु मार्जारादि पशुओं को। यहाँ छाग काम, महिष क्रोध, मार्जार लोभ, नर मद, मेष मोह और उष्ट्र मात्सर्य हैं। यह गुणों की समता से जानना चाहिए। बलि वितरण करनेवाले का, अर्थात् काम इत्यादि के विनाश की इच्छा से चिद्रूपिणी तुममें पूजोपहार के रूप में देनेवाले का।"

इस भाव को योगवासिष्ठ ने स्पष्ट किया है :

अविवेकोपहारेण यथाप्राप्तार्थपूजनैः।
बोधाय पूज्यतां बुद्ध्यास्वभावः परमेश्वरः ॥२८
विवेक पूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः।
रुद्रोपेन्द्रादिपूजात्र जरत्तृणलवायते ॥२९
विचारशम सत्सङ्गबलिपुष्पैकपूजितः।
सद्योमोक्षफलः साधो स्वात्मैव परमेश्वरः ॥३०

—यो० वा०, उत्तरार्द्ध ६.४२, २८—३०

"अज्ञान की बलि (उपहार) देकर जैसा अवसर हो वैसे पूजन द्वारा, ज्ञान के लिए ज्ञान द्वारा पूजन करना चाहिए। जिसका जैसा भाव है उसी रूप में परमात्मा उसे मिलते हैं ॥२८। ज्ञान द्वारा अपने अन्तर्गत आत्मा की पूजा करने से अवलम्ब महान् वरों की प्राप्ति होती है। यहाँ रुद्र, विष्णु आदि की पूजा सड़े तृण के छोटे टुकड़े-जैसी हो जाती

---

१. महाकालकृत कर्पूरादिस्तोत्र, श्लोक १९
२. कर्पूरादिस्तोत्र : आवलन, antrik Texts, Vol. IX; Calcutta 1922; p. 28.

है ॥२९॥ विचार, इन्द्रियनिग्रह और सत्संग-रूप बलि (उपहार) पुष्पों द्वारा पूजित होने पर स्वात्मा परमेश्वर स्वयः मोक्षफल के रूप में (प्रकट) होते हैं ॥३०॥

देवी के ध्यान और स्तोत्र में **'महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम्', महाकालेनोच्चैर्मदनरसलावण्यनिरताम्'** आदि उक्तियों का प्रयोग हुआ है। यहाँ शाक्तदर्शन की कामकला को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। शाक्तदर्शन के कामकलातत्त्व को समझ लेने से बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णवादि सभी सम्प्रदायों की साधनाओं के रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं।

१७. कामकला

नाद-बिन्दु, त्रिकोण, त्रिशूल त्रितत्त्व, त्रिशक्ति, योनि, कामकला—ये सब एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इनमें से किसी एक पर विचार करने से सबका स्पष्टीकरण हो जाता है।

ब्रह्म एक सर्वव्यापिनी शक्ति या तत्त्व है। नित्यज्ञान (चित्) और नित्यइच्छा, नित्यक्रिया (आनन्द) इसका नित्यस्वभाव है। यह शुद्ध चेतना है, इसलिए इच्छा और तदनुसार क्रिया का प्रवर्त्तन होना, अर्थात् आनन्द का स्पन्दन, स्वाभाविक है। ब्रह्म में जब इच्छा (काम) होती है तो उसमें क्रिया (स्पन्दन) आरम्भ होती है और नाद (शब्द, नाम) और बिन्दु (रूप-साकार सृष्टि) रूप ग्रहण करते हैं। शब्द उत्पन्न होने और रूप ग्रहण करने की क्रिया एक साथ होती है। समुद्र में आन्दोलन होने पर शब्द और तरंग दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में कौन पहिले और कौन पीछे हुआ, यह कहना कठिन है। कुछ लोगों का कहना है कि नाद और बिन्दु एक ही वस्तु के दो नाम हैं :

नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येति बिन्दुताम् ।[1]

"नाद ही शायद घना बनकर बिन्दु बन जाता है।"

यथार्थ में ये एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। इनमें भेद स्थापित करना कठिन है। इसलिए वाक् (नाद) को ही साकार सृष्टि कहा गया है, जिसका प्रतीक वर्णमाला है। यही नाद-बिन्दु सृष्टि का आदिरूप है। इसीका विकसित और विस्तृत रूप नाम-रूपात्मक जगत् है।

चेतना के इस महाविस्तार[2], अर्थात् ब्रह्मत्व के जितने अंश में यह स्पन्दन (क्रिया) आरम्भ होता है, वह नाद-बिन्दु के रूप में त्रिकोण का रूप ग्रहण करता है। नाद और बिन्दु का रूप अर्द्धचन्द्राकार कहा जाता है। उसके ऊपर शक्ति का बिन्दु-स्थान माना जाता है। इन तीनों बिन्दुओं में शक्ति-बिन्दु ऊपर और नाद तथा बिन्दु के बिन्दु नीचे रहते हैं। इन तीनों बिन्दुओं को मिला देने से त्रिकोण बनता है। यह त्रिगुण, त्रिदेव, त्रिशक्ति, वेदत्रयी इत्यादि का प्रतिरूप है। इस त्रिकोण के भीतर जो स्पन्दन (क्रिया) होता है, वही आकार ग्रहण कर त्रिगुणात्मक जगत् के रूप में प्रकट होता है। यह निरन्तर स्पन्दन ही सृष्टि का कारण है। स्पन्दन के शान्त होते ही आनन्दोल्लास-रूप ब्रह्म, अर्थात् सृष्टिरूपधारिणी देवी क्रियाशक्ति अपने स्थिर (कूटस्थ) रूप में विलीन होकर स्थिर हो जाती है।

---

१. शारदातिलक

२. वेद का 'ऋतं बृहत्'। श्रीअरविन्द ने 'On The Veda' नामक ग्रन्थ में ऋतं बृहत् के तत्त्व पर विस्तार से विचार किया है।

चिदानन्द के महानन्द से प्रस्तुत यह क्रियाशक्ति स्वयं आनन्दमयी है और सृष्टि का कारण है। यह त्रिकोण की क्रिया वा गति, ब्रह्म का अपने स्पन्दन के साथ खेल, लीला और अलंकृत भाषा में मिथुनकर्म है। ब्रह्म का निष्क्रिय रूप निश्चल (कूटस्थ) पड़ा हुआ है, जिसपर त्रिकोणात्मक स्पन्दन (क्रियाशक्ति, गतिशक्ति) नृत्य करता रहता है। यही महाकाल के साथ महाकाली की विपरीत गति है। इसीका नाम कामकला है। कला का अर्थ सृष्टि है। सकल ब्रह्म साकार ब्रह्म है, और निर्गुण निराकार ब्रह्म को निष्कल ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म की काम(इच्छा, गति)-शक्ति द्वारा कला (विश्व) की सृष्टि का नाम कामकला और कूटस्थ परमशिव (बुद्ध का वज्र और निर्ऋति तथा जैनों का 'केवल') का नाम कामेश्वर है।

त्रिकोण के सामान्य, अर्थात् निरन्तर होनेवाले स्वाभाविक स्पन्दन का नाम प्रणव (ॐ) और देवी प्रणव (ह्रीं) है। शाक्तदर्शन में इसी स्पन्दन का नाम चिञ्चिनी शक्ति है। यही कामकला का स्वरूप और रहस्य है, जिसकी साधना द्वारा योगीजन सिद्धिलाभ करते हैं। यही कामाख्या का योनिमण्डल वा महायोनिपीठ है, जहाँ जगन्माता के रूप में परब्रह्म की उपासना होती है।

ब्रह्मज्ञानियों ने इसपर स्पष्ट रूप से और बड़े विस्तार से विचार किया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा :

त्रिकोणकुण्डली मात्रा नित्या श्रीः प्रकृतिः परा।
मात्रा सरस्वती साक्षात् शरच्चन्द्रशतप्रभा॥
वामरेखा भवेद् ब्रह्मा तरुणाक्षिसमन्विता।
दक्षरेखा विष्णुरूपा शरच्चन्द्रशतप्रभा॥
अधोरेखा रुद्ररूपा दलिताञ्जनसन्निभा।
श्रीईश्वरसदाशिवौ मात्रायां संस्थितावुभौ॥
व्यापकात् श्रीशिवज्योतिः प्रकृत्यन्तर्गतं सदा।
त्रिकोणाभ्यन्तरे शून्यो बिन्दुः परमकुण्डली॥
अरुणादित्यसङ्काशो बिन्दुरूपपरिच्छदः।
बिन्दुमध्यगतं कोटिचन्द्रप्रदायकम्॥
स एव परमं ब्रह्म शिवः परमकारणम्।
नातः परतरं तत्त्वं मदिन्येकाक्षरीषु च॥[1]

"त्रिकोण, कुण्डली, मात्रा, नित्या, श्री, परा प्रकृति और सैकड़ों चन्द्र की प्रभावाली सरस्वती हैं। इसकी (त्रिकोण की) वामरेखा तरुणाक्षि[2] (?) समेत ब्रह्मा हैं, सैकड़ों चन्द्रमा की प्रभावाली दाहिनी रेखा विष्णु हैं, घिसे हुए अंजन के रंगोंवाली नीचे की रेखा रुद्र हैं, ईश्वर और सदाशिव (अर्द्ध) मात्रा (ँ) में हैं। व्यापक होने के कारण श्रीशिव की ज्योति सदा प्रकृति के भीतर है। त्रिकोण के भीतर शून्य बिन्दु परम कुण्डली है। लाल सूर्य की तरह बिन्दु-रूप उसका आवरण है। बिन्दु के भीतर कोटि चन्द्रतुल्य शून्य है। वही

१. Tantrik Texts, कालीविलासतन्त्रम्; लन्दन, १९१७; पटल २२, श्लोक ३३—३८
२. प्रसंग से मालूम होता है कि इसका अर्थ 'रक्तवर्ण' है।

परम ब्रह्म, शिव और परम कारण है। मर्द्दिनी देवी की एकाक्षरी (ह्रीं) में इससे बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है।"

सदाशिवोपरि स्थित्वा ब्रह्माण्डं क्षोभमानयेत्।[1]

"सदाशिव के ऊपर रहकर (मर्द्दिनी वा काली) क्षोभ-रूप ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करती है।"

यदा त्रिधोऽथ गुणयेत्तदा त्रिगुणिता विभुः।
शक्तिः कामाग्निनादात्मा गूढमूर्त्तिः प्रतीयते॥
तदा तां तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुताः।
तामेव शक्तिं ब्रुवते हरेरात्मेति चापरे॥
त्रिगुणा सा त्रिदोषा सा त्रिवर्णा सा त्रयी च सा।
त्रिलोका सा त्रिमूर्त्तिः सा त्रिरेखा सा विशिष्यते॥[2]

"सर्वव्यापिनी (विभु) शक्ति जब तीन प्रकार से गुणित होती है, तब इस गूढ़ मूर्त्तिवाली का बोध, काम, अग्नि, नाद और आत्मा के रूप में होता है। तब निविष्ट विद्वान् लोग इस शक्ति को तार अर्थात् ओम् और आत्मा कहते हैं। वही तीन गुणोंवाली, तीन दोषोंवाली और तीन वर्णोंवाली और तीनों वेद है। वही त्रिलोक और त्रिमूर्त्ति है और उसका विशिष्ट रूप त्रिरेखा है।

बीजत्रितय—शक्तित्रितय लिङ्गत्रितयमयं त्रिकोणं कामकलाक्षररूपम्। वैखरी विश्वविग्रहा।[3]

"कामकला का नित्य (अक्षर) रूप त्रिकोण है, जो तीन बीज, तीन शक्ति और तीन लिङ्गमय है। जगत् ही वैखरी का प्रकट रूप (विग्रह) है।

त्रिकोण की तीनों रेखाओं के नाम हैं वामा, ज्येष्ठा और रौद्री। उनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है:

वामा विश्वस्य वमनात् ज्येष्ठा शिवमयी यतः।
द्रवयित्री रुजं रौद्री द्रोग्धी चाखिलकर्मणाम्॥[4]

"विश्व को वमन करने के कारण वामा है, शिवमयी होने के कारण ज्येष्ठा है, और सभी कर्मों के फल प्रदान करनेवाली और रोगों को गलानेवाली रौद्री है।"

यः शिवः परमं ब्रह्म सर्वं व्याप्य विजृम्भते।
वामा रजोगुणा नित्या अरुणादित्यसन्निभा॥
ज्येष्ठा सत्त्वगुणा चैव शरच्चन्द्रप्रकाशिका।
दलिताञ्जनसङ्काशा रौद्री तमोगुणा स्मृता॥[5]

"जो परम ब्रह्म शिव हैं, वे ही सर्वव्यापी होकर फैले रहते हैं। नित्या (शक्ति)

---

१. कालीविलासतन्त्रम्; लन्दन, १९१७; पटल २४, श्लोक २३
२. प्रपञ्चसारतन्त्रम्; कलकत्ता, १९३५; पटल २, श्लोक ५२—५६
३. कामकलाविलास; कलकत्ता, १९२२; पृष्ठ १८, वामकेश्वरतन्त्र से उद्धृत।
४. तत्रैव, पृ० २०
५. कालीविलासतन्त्रम्, लन्दन, १९१७

वा ा रजोगुण है, जो लालसूर्य की तरह है। ज्येष्ठा सत्त्वगुण है, जिसका प्रकाश शरच्चन्द्र की तरह है। रौद्री तमोगुण है, जो घिसे हुए अंजन की तरह है।"

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥[1]

"वह परमा कला (पराशक्ति) अपना स्पन्दन देखती है, तब कहा जाता है कि परा वाक् ने अम्बिका (मातृका)-रूप धारण कर लिया है।"

महामातृका कुण्डलिनी बहुविधा नादात्मिका।[2]

"महामाता कुण्डलिनी बहुत प्रकार के नादोंवाली है।"

सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेत यदा।
तद्देहावयवानां परिणतिरावरणदेवताः सर्वाः॥
आसीना बिन्दुमध्ये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
कामेश्वराङ्कनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा॥[3]

"वह परा (अशेषकारणरूपा) महेश्वरी जब चक्राकार में परिणत हो जाती है, तब उसके शरीर के अवयव, आवरण देवता के रूप में परिणत हो जाते हैं। चक्र में, बिन्दुमध्य में स्थित देवी चन्द्रकलाओं को कर्णभूषण बनाकर कामेश्वर की गोद में निवास करती है।"

कहना न होगा कि महेश्वरी सक्रिय ब्रह्म हैं, उनके अवयव या आवरण देवता प्रपंचक्रिया का सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाली दिक्काल, धर्माधर्म इत्यादि नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं। चन्द्रकला आनन्द है, जो बौद्धों की करुणा और जैनों की दया है और कामेश्वर, वेदों का ऋतं बृहत्, वेदान्तियों का कूटस्थ ब्रह्म, बौद्धों का वज्र और जैनों का केवल तत्त्व है।

कलाविद्या पराशक्तेः श्रीचक्राकाररूपिणी।
तन्मध्ये बैन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी॥
सदाशिवेन संपृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि॥[4]

"पराशक्ति की कलाविद्या (सृष्टि-रचना) श्रीचक्र के आकार में है। उसके बीच में बिन्दुस्थान है। वहाँ परमेश्वरी रहती हैं। सभी तत्त्वों से परे सदाशिव के साथ घुली हुई हैं। त्रिपुरसुन्दरी का चक्र ब्रह्माण्ड का रूप है।"

इसपर टीका इस प्रकार है :

देवी विश्वसर्जनादिव्यापारविनोदिनी। चन्द्रस्य कलया विश्वजीविन्याख्यया कल्पितोत्तंसा

---

१. कामकलाविलास; कलकत्ता, १९१७; पृ० २० में वामकेश्वरतन्त्र से उद्धृत।
२. तत्रैव
३. तत्रैव
४. तत्रैव। २७वें श्लोक की टीका में भैरवयामल से उद्धृत।

कृतभूषणा । अत्र कल्पितपदेन चन्द्रमण्डलस्य भगवतीलीलोपकरणत्वं लक्ष्यते ।[1]

"देवी का, संसार की सृष्टि इत्यादि कामों से विनोद होता है। विश्वजीविनी नामक चन्द्रकला को कर्णभूषण बनाया है। यहाँ कल्पित शब्द से बोध होता है कि चन्द्रमण्डल देवी की लीला की सामग्री है।"

विश्वजीविनी चन्द्रकला आनन्दतत्त्व है, जो वैदिक ऋषियों का सोमरस, शाक्तों की इच्छाशक्ति वा कामनातत्त्व, बौद्धों की करुणा और जैनों की दया है।

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम् ।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम् ॥[2]

"शून्य में जो गुप्त त्रिकोणमण्डल है, उसे भग कहते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसके तीन कोण हैं। उसके बीच में चिञ्चिनी शक्ति का क्रम (स्पन्दन) है।"

यह शून्य, बौद्धों का शून्यत्व और योगियों की मनोलयावस्था और जैनों का केवलत्व है। यह वेदान्तियों का कूटस्थतत्त्व और शाक्तों का चिदाकाश है।

अस्मिश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ।
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ॥[3]

"इस चौदहवें धाम में (अशेष कारणतत्त्व अथवा शून्य में) जब तीनों शक्तियाँ (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) फूट पड़ती हैं, तब श्रीशासन (बुद्धोपदेश अर्थात् धर्मचक्रप्रवर्त्तन ?) में शास्ता (बुद्ध) ने इसे त्रिशूल कहा है।

इस त्रिशूलतत्त्व को बौद्ध, जैन, शैव और शाक्तों ने अक्षुण्ण रूप में ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है :

लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः ॥[4]

"तीनों शक्तियाँ (ज्ञानेच्छाक्रिया) जब क्रियाशील हो जाती हैं, तब इसे त्रिशूल[5] कहते हैं, जिसमें प्रवेश पाने से योगी अविलम्ब निरञ्जन हो जाता है।"[5]

यह शाक्तों और वैष्णवों का समरस, योगियों की निरुपाधि निर्विकल्प समाधि, बौद्धों की शून्यता और जैनों का केवलत्व है।

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।[6]

---

१. तत्रैव
२. तन्त्रालोक; बम्बई, १९२०; श्लोक ९४ की टीका।
३. तत्रैव, श्लोक १०४
४. तत्रैव, श्लोक १०८
५. मोहेन-जो-दड़ो की खुदाई में जो पशुपति की मूर्त्ति मिली है, उसके माथे पर और सामने नाभि के नीचे त्रिशूल बना है। इस त्रिशक्ति-तत्त्व का कब आविर्भाव हुआ, यह कहना कठिन है।
६. तत्रैव, श्लोक १४३ की टीका।

"महेश्वर शक्तिमान् है और सारा जगत् इसकी शक्तियों का रूपान्तरमात्र है।"

इसलिए महेश्वर, अर्थात् अपने स्वामी की इच्छा से ये शक्तियाँ सृष्टिलीला की क्रियाएँ करती रहती हैं। यही शक्ति का शक्तिमान् के साथ विलास, अर्थात् कामक्रीड़ा है। यह शाक्तों की कामकला, कालरात्रि का नृत्य, शैवों का महाताण्डव और वैष्णवों का महारास है।

इसलिए अभियुक्तजन कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और सभी देवता त्रिकोण के अन्तर्गत हैं :

त्रिकोणे देवताः सर्वाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।[1]

परमानन्द में चित्त का लय हो जाना ही कामकला का सामरस्य है :

कदाचिद्वस्तुविश्रान्तिसाम्येनात्मनि चर्वणम्।
वेद्यवेदकसाम्यं तत् सा रात्रिदिनतुल्यता॥[2]

"जब कभी वस्तु (सत्ता) साम्यावस्था में आत्मा में विश्राम करने लगती है और मनोलय हो जाता है तथा ज्ञाता (वेदक) और ज्ञेय (वेद्य) एकाकार हो जाते हैं। वह साम्यावस्था रात और दिन की तुल्यता-जैसी है।"

यही शाक्तदर्शन की कामकला है। सृष्टि के विस्तार के लिए इस महा अग्नि की चिनगारियाँ सारी सृष्टि में उड़ती रहती हैं। उद्भिद और प्राणिजगत् में एक ही नियम काम करता है। जिस प्रकार फल उत्पन्न करने के लिए मकरन्दवाले फूल को अन्य फूल के पराग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्राणियों की रचना के लिए मातृरज को पुंकीट की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार कुछ फूलों में अपना ही पराग रहता है और कुछ में कीटों द्वारा प्रकृति प्रबन्ध करती है, उसी प्रकार कुछ प्राणियों में मातृकीट और पुंकीट एक ही शरीर में रहते हैं और कुछ में प्रकृति के प्रबन्ध से परस्पर आकर्षण द्वारा सृष्टिविस्तार की क्रिया चलती रहती है। जड़ जगत् का यद्यपि ठीक पता नहीं चलता है, तथापि यहाँ भी कुछ ऐसा ही नियम होना चाहिए।

ये उस निरन्तर असंख्य स्फोटवाले सृष्टि के प्रवर्तक महा अग्निकाण्ड की चिनगारियाँ हैं। शाक्त-दर्शन के ये पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप हैं।

१८. तारा

सभी महाविद्याओं के रूपों का तत्त्व एक ही है, अर्थात् एक ब्रह्म की ही इन अनेक रूपों में उपासना की जाती है। काली के रूप के जो तत्त्व हैं, तारा के रूप के भी वे ही तत्त्व हैं।

तारा शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

दक्षगेहे च योत्पन्ना सती नाम्नेति कीर्त्तिता।
कैवल्यदायिनी यस्मात् तस्मादेकजटा स्मृता॥

---

१. तत्रैव, श्लोक १२२ की टीका।

२. तन्त्रालोकः, काश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः; श्रीनगर, १९२२; चतुर्थोभागः, श्लोक ८४

तारकत्वात् सदा तारा लीलया वाक्प्रदा यतः।
नीलसरस्वती प्रोक्ता उग्रत्वादुग्रतारिणी।
उग्रापत्तारिणी यस्मादुग्रतारा प्रकीर्तिता॥[1]

"दक्षगृह में जो सती नाम से उत्पन्न हुईं, उनके केवलत्व (ब्रह्मत्व, एकत्व) देनेवाली होने के कारण उन्हें एकजटा कहते हैं। तारक (मोक्ष देनेवाली) होने के कारण वे सर्वदा तारा हैं। अनायास ही वे वाक्प्रदान करती हैं, इसलिए वे नील सरस्वती (लील = नील) हैं, उग्र होने के कारण उग्रतारिणी हैं, और भयकर विपत्ति से बचानेवाली होने के कारण उग्रतारा कही जाती हैं।"

तारा के रंग और उनके प्रयोजन :

रक्तां वश्ये स्वर्णवर्णां स्तम्भने मारणेऽसिताम्।
उच्चाटने धूम्रवर्णां शान्तौ श्वेतां स्मरेदिमाम्॥

— मेरुतन्त्र से पुरश्चर्यार्णव; बनारस, '१९०१ ई०; पृ० ७९१ में उद्धृत।

"वशीकरण में लाल, स्तम्भन में स्वर्णवर्ण, मारण में काला, उच्चाटन में धुएँ-जैसा और शान्तिकर्म में इनके श्वेतवर्ण का ध्यान करे॥"

नीलतन्त्रोक्त तारा का ध्यान

प्रत्यालीढपदां घोरां मुण्डमालाविभूषिताम्।
खर्वां लम्बोदरीं भीमां व्याघ्रचर्मावृतां कटौ॥
नवयौवनसम्पन्नां पञ्चमुद्राविभूषिताम्।
चतुर्भुजां ललज्जिह्वां महाभीमां वरप्रदाम्॥
खड्गकर्त्रीधरां सव्ये वामे मुण्डोत्पलान्विताम्।
पिङ्गोग्रैकजटां ध्यायेन्मौलावक्षोभ्यभूषिताम्॥
बालार्कमण्डलाकारलोचनत्रयभूषिताम्।
प्रज्वलत्पितृभूमध्यगतां दंष्ट्राकरालिनीम्॥
सावेशस्मेरवदनामस्थ्यालङ्कारभूषिताम्।
विश्वव्यापकतोयान्तः श्वेतपद्मोपरिस्थिताम्॥

—पुरश्चर्यार्णव; बनारस, १९०१ ई०; पृ० ७८५ में उद्धृत।

"इनका बायाँ पैर आगे है, घोर हैं, मुण्डमाला से विभूषित हैं, नाटी हैं, लम्बोदर हैं, भयंकर हैं और कटि में व्याघ्रचर्म लिपटा हुआ है। नवयौवन-सम्पन्न हैं और पञ्चमुद्रा से विभूषित हैं। चार हाथ हैं, जीभ लपलपा रही है, महा भयंकर और वरप्रद हैं। दाहिने हाथों में खड्ग और काती या कैंची है और बायें में मुण्ड और कमल हैं। पीले रंग की एक जटा है, माथे पर अक्षोभ्य है। उदयकालीन सूर्य के समान तीन नेत्र हैं, श्मशान में जलती चिता के मध्य में हैं और इनके दाँत भयंकर हैं। उत्साह से मुख पर मुस्कुराहट है, अस्थि के अलंकरण हैं, विश्वव्यापी जल (वेद की आपः) में स्थित श्वेतपद्म पर उपविष्ट हैं॥"

---

१. प्राणतोषिणी; कलकत्ता, १३३५ साल; पृ० ३७६ में नारदपञ्चरात्र से उद्धृत।

फेत्करीतन्त्रोक्त ध्यान :

प्रत्यालीढपदार्पितांघ्रिशवहृद्घोराट्टहासा वरा ।
खड्गेन्दीवरकर्तृखर्परभुजा हूँकार बीजोद्भवा ॥
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटोग्रनागैर्वृता ।
जाड्यं न्यस्य कपालके त्रिजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम् ॥

—तत्रैव, पृ० ७८८

"शव (निष्क्रिय ब्रह्म) पर बायाँ पैर आगे है. घोर अट्टहास कर रही हैं, वरद हैं, हाथों में खड्ग, कमल, काती, और खप्पर हैं, हूँकार बीज से प्रकट होती हैं, नाटी हैं, नीलवर्ण हैं, जटा विशाल और पिंगल वर्ण की हैं, जिनपर नाग लिपटे हैं। तीनों लोक की मूर्खता को कपाल (खप्पर) में रखकर उसका स्वयं उग्रतारा नाश कर देती हैं ॥"

तारा के स्वरूप का निर्णय तारोपनिषत् में इस प्रकार किया गया है :

ॐ तत्सद् ब्रह्म । तद्रूपं प्रकृतिपराङ्गनाभम् । तत्परं परमं महत्, सत्यं तदहं ह्रीङ्कारं रक्तवर्णं मन्नाभिः स्त्रींकारं पिङ्गलाभम्, हूँकारं विशदाभं मद्धृदयरूपम्, भूमण्डलं फट्कार-धूम्रवर्णं मत्खड्गम्, ॐकारज्वलद्रूपंमन्मस्तकम्, वेदा मद्धस्ताः चन्द्रार्कानला मन्नेत्रा, दिवानक्तं मत्पादौ, सन्ध्यामत्कर्णौ, संवत्सरो मदुदरो, मद्दंष्ट्रपंक्ती मत्पार्श्वौ, वारतंवो मदंगुल्यो, विद्या मन्नखाः, पावको मन्मुखम्, मही मद्रसना, द्यौर्मन्मुखम् गगनं मद्धृदयम्, भक्तिर्मम चर्म, रसं मद्रुधिरम्, वान्नं वासांसि फलानि, निरहङ्कारा अस्थीनि, सुधा मन्मज्जा, स्थावराणि मद्रोमाणि, पातालादिलोकौ मत्कुचौ, ब्रह्मानन्दं मन्नाड्यम्, ज्ञानं मन्मनः, क्षमा बुद्धिः, शून्य मदासनम्, नक्षत्राणि मद्भूषणानि । एतद्विराटक वपुः, मज्जलंसत्त्वम्, बिन्दुस्वरूपं महाकारस्वरूपं ज्योतिर्मयं विद्धि शिरः, उग्रतारां महोग्रां नीलां घनामेकजटां महामायां प्रकृतिं मां विदित्वा यो जपति, मद्रूपाणि यो वेत्ति, मन्मन्त्रं यो जपति, मद्रूपकल्पितां यो जपति, भगं भजति, निर्विकल्प साधकः सदा मद्रूपो भवति । सर्वाणि कर्माणि साध्यानि, निर्भयो भवति । गरून् नत्वा स्तुत्वा वस्त्रभूषणानि दत्त्वा इमामु-पनिषद्विद्यां प्राप्य मां यो जपति स जीवन्मुक्तो भवति ॥[1]

"वह सत्तामात्र और बृहत् (ब्रह्म) है। उसका रूप, प्रकृति का स्त्रीरूप है। वह कारण (पर) सर्वश्रेष्ठ (परम महत् महा विशाल) और सत्य है। वह मैं लाल रंग का ह्रींकार हूँ। पिङ्गलवर्ण स्त्रींकार मेरी नाभि है, उज्ज्वल वर्ण हूँकार मेरा हृदयरूप है, भूमण्डल धूम्रवर्ण फटकार मेरा खड्ग है, तेजोमय ॐकार मेरा मस्तक है, वेद मेरे हाथ हैं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि मेरे नेत्र हैं, दिन-रात मेरे पैर हैं, सन्ध्या मेरे कान हैं, संवत्सर मेरा पेट, मेरी दन्त-पंक्तियाँ और मेरे पार्श्व हैं, दिन और रात मेरी अंगुलियाँ हैं, विद्याएँ मेरे नख हैं, अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी मेरी जिह्वा है द्यौ मेरा मुख(मण्डल) है, गगन मेरा हृदय है, भक्ति मेरा चर्म है, रस मेरा रुधिर है, अन्न, वस्त्र, फल, निरहंकार मेरी अस्थियाँ हैं, सुधा मेरी मज्जा है, स्थावर मेरे रोम हैं, पातालादि लोक मेरे स्तन हैं, ब्रह्मानन्द मेरी नाड़ियाँ हैं, ज्ञान मेरा मन है, क्षमा बुद्धि है, शून्य[2] मेरा आसन है, तारे मेरे आभूषण हैं, यह विराट्

---

१. शाक्तप्रमोद; बम्बई, संवत् २००८; सन् १९५१ ई०; पृ० १३७ में उद्धृत।

२. यह बौद्धों की भी शून्यता है।

(विराज, विराजमान, दृश्यमान जगत्) शरीर है, जल मेरा सत्त्व है, महाकार ज्योतिर्मय बिन्दुरूप मेरा मस्तक समझो। जो मुझे उग्रतारा, महोग्रा, नीला, घना, एकजटा, महामाया और प्रकृति समझकर जपता है, मेरे रूप को जो जानता है, मेरे मन्त्र को जपता है, मेरे कल्पित रूप को जो जपता है, ऐश्वर्य (महिमा) को भजता है, निर्विकल्प (उधेड़बुन-रहित)[1] साधक सदा मेरा रूप हो जाता है। सभी कर्म उसके लिए साध्य हो जाते हैं और वह निर्भय हो जाता है। गुरु को प्रणाम कर उनकी प्रशंसा कर, वस्त्राभूषण देकर, इस रहस्य विद्या (उपनिषत्) को प्राप्त कर जो मुझे जपता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है।"

महाकालकृत कर्पूरतारिणीस्तोत्र में तारा का ध्यान इस प्रकार है :

शवासीनाकण्ठाकलितनृकरोटीपरिलसत्-
कपालासिश्यामोत्पलरुचिरकर्त्रीं त्रिनयनाम्।
नवाम्भोदश्यामां प्रकटरदभीमां पृथुकुचां
सदैव त्वां ध्यायन् जननि च जडो वाक्पतिसमः ॥

"शव पर स्थित, कण्ठ में लिपटी हुई नरमुण्ड की माला, कपाल, खड्ग, नील कमल, सुन्दर काती, तीन नेत्र, नवीन बादल के समान श्यामवर्ण, निकले हुए दाँतों से भयंकर, बड़े-बड़े स्तन। माँ! इस प्रकार सर्वदा तुम्हारा ध्यान करनेवाला महामूर्ख भी बृहस्पति-जैसा हो जाता है।"

ताराष्टक में तारा के रूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है :

मातर्नीलसरस्वति प्रणमतां सौभाग्यसम्पत्प्रदे
प्रत्यालीढपदस्थिते शवहृदि स्मेराननाम्भोरुहे।
फुल्लेन्दीवरलोचनत्रययुते कर्त्रीं कपालोत्पले
खड्गं चादधती त्वमेव शरणं त्वामीश्वरीमाश्रये ॥
वाचामीश्वरि भक्तकल्पलतिके सर्वार्थसिद्धीश्वरि
गद्यप्राकृतपद्यजातरचना- सार्वज्ञसिद्धिप्रदे।
नीलेन्दीवरलोचनत्रययुते कारुण्यवारांनिधे
सौभाग्यामृतवर्षणेन कृपया सिञ्च त्वमस्मादृशम् ॥
खर्वे गर्वसमूहपूरिततनो सर्पादिवेषोज्ज्वले
व्याघ्रत्वक्परिवीतसुन्दरकटिव्याधूतघण्टाङ्किते।
सद्यःकृत्तगलद्रजःपरिमिलन्मुण्डद्वयीमूर्धज-
ग्रन्थिश्रेणिनृमुण्डदामललिते भीमे भयं नाशय ॥
मायानङ्गविकाररूपललनाबिन्द्वर्धचन्द्रात्मिके
हूँफट्कारमयि त्वमेव शरणं मन्त्रात्मिके मादृशः।
मूर्त्तिस्ते जननि त्रिधामघटिता स्थूलातिसूक्ष्मापरा
वेदानां नहि गोचरा कथमपि प्राप्तानु तामाश्रये ॥
त्वत्पादाम्बुजसेवया सुकृतिनो गच्छन्ति सायुज्यतां

---

१. यह जैनों का भी केवलत्व है।

तस्य श्रीपरमेश्वरत्रिनयनब्रह्मादिसाम्यात्मनः ।
संसाराम्बुधिमज्जने पटुतनून् देवेन्द्रमुख्यान् सुरान्
मातस्त्वत्पदसेवने हि विमुखो यो मन्दधीः सेवते ॥

'मातः ! नीलसरस्वति ! जो तुम्हें प्रणाम करते हैं उन्हें सौभाग्य और सम्पत् प्रदान करती हो। शवरूप शिव के हृदय पर प्रत्यालीढ मुद्रा में (बायें पैर को आगे बढ़ाकर और दाहिने को जरा मोड़कर) मुस्कुराती हुई खड़ी हो। प्रफुल्ल कमल की तरह तुम्हारे तीन नेत्र हैं और चारों हाथों में कर्त्री (कतरनी-कैंची वा काती), कपाल, उत्पल और खड्ग हैं। तुम सबकी रक्षा करनेवाली ईश्वरी हो। मैं तुम्हारा शरणापन्न हूँ ॥१

वागीश्वरि ! तुम भक्तों के लिए कल्पलता हो। तुम सभी अर्थसिद्धि की ईश्वरी हो। गद्य, पद्य और प्राकृत की रचना में सर्वज्ञता प्रदान करनेवाली हो। नील कमल के समान तुम्हारे तीन नेत्र हैं। तुम दयासागर हो। तुम मुझ-जैसे (नीरस) व्यक्ति को सौभाग्यसुधावृष्टि से सींच दो ॥२

तुम खर्व (नाटी) हो और गर्वसमूह से तुम्हारा शरीर भरा हुआ है। सर्पादि सजावट से तुम्हारा रूप जगमगाता रहता है। कटि में व्याघ्रचर्म लिपटा हुआ है, जिसमें घण्टा लगा है। तुरत कटे हुए नरमुण्ड, चूते हुए रक्त (रजः-रजोगुण-सृष्टिशक्ति) से एक-दूसरे से सट गये हैं और वे केशों के साथ ग्रथित होकर, नरमुण्डमाल बनकर आपकी शोभा बढ़ा रहे हैं। आपको देखकर डर लगता है। मेरा डर दूर कीजिए ॥३

ह्रीँ स्त्रीँ हूँ फट् के आप प्राण हैं, यह आपका रूप है। यह मन्त्ररूप माँ ! मुझ जैसे लोगों की आप रक्षा करनेवाली हैं। स्थूल, सूक्ष्म और पर, ये आपके त्रिस्थानीय रूप हैं। इन्हें वेद भी नहीं जानते। किसी प्रकार मिल गये हैं। मैं इन्हें न छोड़ूँगा ॥४

"तुम्हारे चरणकमल की सेवा करने से, सुकृतिजन, ब्रह्मा-विष्णु की तरह सायुज्यता प्राप्त करते हैं। मातः ! आपकी पद-सेवा छोड़कर, जो संसार-सागर में डूबने में चतुर इन्द्रादि की सेवा करते हैं, वे मूढ़ हैं।"

इसमें तारा के स्थूल, सूक्ष्म और पर—इन तीनों रूपों की चर्चा हुई है। हस्तपादादि-युक्त रूप की कल्पना स्थूल रूप है, मन्त्र की ध्वनि, सूक्ष्म रूप है और कारणरूप के साथ सायुज्यता पररूप है।

ऊपर के विवरणों से स्थूलप्रतीक के मूलार्थ स्पष्ट हैं। तारा का शव उसका निष्क्रिय पररूप है, जिस पर उसका सक्रिय त्रिगुणात्मक रूप अपनी लीला का विस्तार करता रहता है। सर्प काल है।[1] प्रकृति दिगम्बरी है, इसलिए व्याघ्रचर्म दिक् है। मुण्डमाल[2], वाक् अर्थात् नादात्मक सृष्टि का प्रतीक है, जो रजोगुण (रजः-रक्त) से चालित होता रहता है। सुधापात्र कपाल, चिदानन्दमयी के आनन्द का प्रतीक है। इस अमृत का पान, अर्थात् स्वाभाविक आनन्द का उल्लास विश्वनृत्य अर्थात् प्रपञ्चक्रिया का प्रवर्त्तक है। हाथ का

१. सर्पकाल के विशेष विवरण के लिए विष्णु-प्रकरण देखिए।
२. मुण्डमाल के सिद्धान्त के लिए वाक् और काली-प्रकरण देखिए।

कमल सृष्टि का प्रतीक है।[1] कर्त्री अविद्या के बन्धनों को काटकर भक्तों को मुक्ति प्रदान करती है। खड्ग ज्ञान[2] है।

घण्टा दुर्भावनाओं का नाश करनेवाली, सर्वसिद्धिप्रदा वाक् अर्थात् शब्दब्रह्म है, जो सभी शक्तियों का बीज है :

शब्दस्य पाततः घण्टा।[3]

"शब्दपात अर्थात् नादोत्पत्ति घण्टा है।"

हिनस्ति दैत्यतेजांसि स्वनेनापूर्य या जगत्।
सा घण्टा पातु नो देवि पापेभ्यो नः सुतानिव॥[4]

"शब्द से जगत् को भरकर जो दैत्यों के तेज को हर लेती है वह घण्टा पापों से, पुत्र की तरह मेरी रक्षा करे।"

दैत्यतेज दुर्भावना और पाप दुष्कर्म हैं :

या घण्टा चञ्चलापाङ्गि सिद्धिसूत्रस्वरूपिणी।
नित्या श्री कमला बीजरूपिणी सिद्धिदायिनी॥[5]

"सुन्दरी! जो घंटा है वह सिद्धिसूत्र है, नित्या है, श्री है, कमला है, सिद्धि देनेवाली है और (सभी मन्त्रों तथा सृष्टि का) बीज (वाक्) है।

तारा के मस्तक पर मुकुट के स्थान में पांच मुण्ड हैं। ये पञ्चब्रह्म. पञ्चप्रेत और पञ्चरुद्र हैं।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एते देवा महेशानि पञ्च ज्योतिर्मयाः सदा॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिस्तु तुरीयं परमेश्वरि।
सदाशिवो यस्तु देवि सुप्तब्रह्म स एव हि॥[6]

"ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—ये सर्वदा ज्योतिर्मय हैं। ये ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और सुप्तब्रह्म सदाशिव हैं।

पञ्च ब्रह्म परं विद्यात् सद्योजातादिपूर्वकम्।
दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम्॥
पञ्चधा वर्त्तमानं तं पञ्चकार्यमिति स्मृतम्।
पञ्चकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते॥[7]

---

१. कमल-प्रतीक के लिए ब्रह्मा और विष्णु-प्रकरण देखिए।
२. ज्ञानखड्ग के लिए काली-प्रकरण देखिए।
३. राधातन्त्रम्; कलकत्ता, १३४१ साल; पटल २१, श्लोक १२
४. दुर्गासप्तशती, १२.२७
५. राधातन्त्रम्; कलकत्ता, १३४१ साल; २१.१८
६. तत्रैव, ३.४३-४४
७. पञ्चब्रह्मोपनिषत्, श्लोक २१-२२

"सद्योजात आदि के रूप में 'पर' ही पञ्चब्रह्म है। जो कुछ देखने वा सुनने में आता है वह स्वयं 'पर' पञ्चब्रह्मस्वरूप है। वे पाँच रूपों में हैं और उनके पाँच कार्य हैं। पञ्चकार्य का ज्ञान हो जाने पर ईशान की प्राप्ति होती है।"

इन पञ्चमुण्डों को वाच्य ब्रह्म के वाचक प्रणव की पाँच मात्राएँ भी कहा गया है, जो तारा का मस्तक है :

अकारं ब्रह्मणो रूपमुकारं विष्णुरूपवत् ।
मकारं रुद्ररूपं स्यादर्द्धमात्रं परात्मकम् ॥
वाच्यं तत्परमं ब्रह्म वाचकः प्रणवः स्मृतः ।
वाच्यवाचकसम्बन्धस्तयोः स्यादौपचारिकः ॥[१]

"अकार ब्रह्मा, उकार विष्णु, मकार रुद्र और अर्द्धमात्रा 'पर' है। परम ब्रह्म वाच्य और प्रणव वाचक है। वाच्य-वाचक का सम्बन्ध उपचार-मात्र है, अर्थात् यथार्थ में ये एक हैं।"

वे पञ्चब्रह्म त्रिपुरा के सिंहासन के नीचे और बुद्ध के मस्तक पर दिखाये जाते हैं।[२]

तारा के सिद्धान्त और स्वरूप को बौद्धों और जैनों ने ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है। बौद्ध, जैन और सनातनी तारा में कोई भेद नहीं है।

१६. त्रिपुरा

ब्रह्म की, शिव-शक्तिविग्रह के रूप में प्रथम कल्पना काली के रूप में है। इसलिए इन्हें आद्या कहते हैं। तारा द्वितीया और त्रिपुरा तृतीया हैं, यह महाविद्या त्रिपुरा, बाला, षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी, श्रीविद्या आदि नामों से प्रसिद्ध है। श्रीविद्या के नाम से सारे भारत में इसकी उपासना होती है।

त्रिपुरा शब्द की नाना प्रकार से व्याख्या की गई है :

त्रिमूर्त्तिसर्गाच्च पराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च परैव देव्या ।
लये त्रिलोक्यामपि पूरणत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम ॥[३]

"पराशक्ति से प्रकट होकर त्रिमूर्त्ति की सृष्टि करने के कारण, परादेवी के त्रयीमय होने के कारण, प्रलय के बाद तीनों लोकों को पूर्ण कर देने के कारण, प्रायः अम्बिका का नाम त्रिपुरा है।"

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्यैस्त्रिदशैरर्चिता पुरा ।
त्रिपुरेति सदा नाम कथितं दैवतैस्तव ॥[४]

"पुराकाल में ब्रह्म-विष्णु-महेशादि देवों ने इनकी अर्चना की, इसलिए देवताओं ने सर्वदा इन्हें त्रिपुरा नाम दिया।"

---

१. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करभाष्य; बम्बई, १९३५; पृ० २६
२. विशेष विवरण के लिए त्रिपुराप्रकरण देखिए।
३. तन्त्रसार : कृष्णानन्द; कलकत्ता, १३३४ साल; पृ० ३३७। प्रपञ्चसारतन्त्रसे उद्धृत।
४. तत्रैव, वाराहीतन्त्र से उद्धृत।

ब्राह्मी रौद्री वैष्णवीति शक्तयस्तिस्र एव हि ।
पुरं शरीरं यस्यां सा त्रिपुरेति प्रकीर्त्तिता ॥[१]

"ब्राह्मी, रौद्री, वैष्णवी—ये तीनों शक्तियाँ ही जिसका पुर अर्थात् शरीर हैं उसे त्रिपुरा कहते हैं।"

त्रिकोणं मण्डलं यस्या भूपुरं च त्रिरेखकम् ।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरः प्रोक्तस्तथा रूपत्रयं पुनः ॥
त्रिविधा कुण्डली शक्तिस्त्रिदेवानां च सृष्टये ।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात्तस्मात् त्रिपुरा मता ॥[२]

"जिसका मण्डल त्रिकोण है, जिसके भूपुर तीन रेखाएँ हैं, जिसका मन्त्र भी तीन अक्षरों का है, जिसके रूप (स्थूल, सूक्ष्म, पर) तीन हैं, जो तीन प्रकार की कुण्डली शक्ति और तीन देवताओं की सृष्टि करती है और जिसके सबकुछ तीन-तीन हैं, इसलिए यह त्रिपुरा है।

मूर्त्तित्रयस्यापि पुरातनत्वात्
तदम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम ॥[3]

"तीनों मूर्त्तियों (ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर) से पुरातन होने के कारण अम्बिका का नाम त्रिपुरा है।"

नाडीत्रयं तु त्रिपुरा सुषुम्णा पिङ्गला इडा ।
मनो बुद्धिस्तथा चित्तं पुरत्रयमुदाहृतम् ॥
तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात् त्रिपुरा मता ।[४]

"सुषुम्णा, इडा और पिङ्गला—ये तीन नाडियाँ त्रिपुर हैं, मन, बुद्धि और चित्त को भी त्रिपुर कहा गया है। इन स्थानों में निवास होने के कारण ये त्रिपुरा हैं।"

त्रयो लोकास्त्रयो देवास्त्रैलोक्यं पावकत्रयम् ।
त्रीणि ज्योतींषि वर्गाश्च त्रयो धर्मादयस्तथा ॥
त्रयो गुणास्त्रयः शब्दास्त्रयो दोषास्तथाश्रमाः ।
त्रयः कालास्तथावस्थाः पितरोऽहर्निशादयः ।
मात्रात्रयं च ते रूपं त्रिस्थे देवि सरस्वति ॥[५]

"तीन स्थानों (भूर्भुवः स्वः) में रहनेवाली देवि सरस्वति ! (क्रियाशक्तिरूपिणि !) तीन लोक, तीन देव, तीनों लोक के तीनों पावक, तीन ज्योति (इन्द्वर्कवह्नि) तीन वर्ग (धर्मार्थकाम), तीन गुण, तीन शब्द (ऋग्यजुःसाम), तीन दोष, तीन आश्रम, तीन काल, तीन अवस्था, पितर-दिन-रात और तीन मात्रा (अ, उ, म) तुम्हारे रूप हैं।"

---

१. पुरश्चर्यार्णव; वाराणसी, संवत् १९५७; पृ० २०
२. ललिता स० नाम, सौभाग्यभास्करभाष्य; बम्बई, १९२५; पृ० २। कालिकापुराण से उद्धृत।
३. तत्रैव, पृ० १२५
४. तत्रैव
५. तत्रैव, पृ० १७५

त्रिपुरस्य परशिवस्य सुन्दरी भार्या। अत्र त्रीणि पुराणि ब्रह्मविष्णुशिवशरीराणि यस्मिन् सः त्रिपुरः परशिवः। तदुक्तं कालिकापुराणे—

प्रधानेच्छावशाच्छम्भोः शरीरमभवत्त्रिधा।
तत्रोर्ध्वभागः सञ्जातः पञ्चवक्त्रश्चतुर्भुजः॥
पद्मकेसरगौराङ्गः कायो ब्राह्मो महेश्वरः।
तन्मध्यभागो नीलोऽङ्ग एकवक्त्रश्चतुर्भुजः॥
शङ्खचक्रगदापद्मपाणिः कायः स वैष्णवः।
अभवत्तदधोभागे पञ्चवक्त्रश्चतुर्भुजः॥
स्फटिकाभ्रमयः शुक्लः स कायश्चन्द्रशेखरः।
एवं त्रिभिः पुरैर्योगात्त्रिपुरः परमः शिवः॥[1]

"त्रिपुर अर्थात् परम शिव की सुन्दरी अर्थात् भार्या। यहाँ तीन पुर ब्रह्मा-विष्णु-शिव जिसमें शरीर बने हुए हैं वह परम शिव है। कालिकापुराण में कहा गया है कि :

"शम्भु की प्रधान इच्छा के कारण उनके तीन शरीर हो गये। इसका ऊर्ध्व भाग पाँच मुख और चार भुजाओंवाला हुआ। महेश्वर का ब्रह्मरूप कमल के केशरवत् गौर वर्ण हुआ। उसका (शम्भु महेश्वर का) मध्य भागवाला अङ्ग नील वर्ण, एक मुखवाला और चतुर्भुज हुआ। इस विष्णुरूप के हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हुए। उसके नीचेवाले भाग में पाँच मुख और चार हाथ हुए। यह रूप स्फटिक की तरह उजला था और इसके माथे पर चन्द्रमा। इस प्रकार तीन पुर (शरीर) के योग से परम शिव त्रिपुर हुए।"

ऋषियों ने नाना प्रकार से त्रिपुरा के स्थूल और सूक्ष्म रूप का विवरण देने की चेष्टा की है। 'पर'-रूप, बोधगम्य अर्थात् स्वानुभूतिरूप होने के कारण इन्द्रियातीत और अप्रकाश्य है। त्रिपुरा के सूक्ष्म रूप का वर्णन इस प्रकार है :

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवी त्रिलोकीमहा-
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम्।
उद्यद्भानुसमस्तनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपुः।
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिकोणनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्॥[2]

"श्रीमातः! त्रिपुरे! परात्परतरे! देवि! आपका उज्ज्वल और रक्तवर्ण, त्रिकोण में निलीन, ज्योतिर्मय और वाङ्मय शरीर, मेरे स्वान्त में स्पन्दित होता रहे। आपका उज्ज्वल वर्ण, तीनों लोकों के महासौन्दर्यसागर के मन्थन से उत्पन्न प्रचुर सुधा है, और आपका रक्तवर्ण, सहस्रों बालसूर्य और सहस्रों जपापुष्प-जैसा है।"

उज्ज्वल वर्ण, त्रिपुरा का निराकार प्रकाशरूप है और रक्तवर्ण साकार विमर्शरूप।

---

१. तत्रैव, पृ० १९५
यहाँ शिवलिङ्ग के भिन्नांशों का स्मरण कीजिए।

२. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्, श्लोक १

यहाँ शिवशक्ति को दो भिन्न रूपों में दिखाकर, श्रीमाता त्रिपुरा को ही प्रकाश और विमर्श-स्वरूप कहा गया है। यह शक्ति का सूक्ष्म रूप है।

त्रिपुरा के स्थूलरूप का प्रसिद्ध ध्यान इस प्रकार है :

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरं चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥

"मैं शिवा की वन्दना करता हूँ। बालसूर्य की तरह उनकी प्रभा है, चार भुजाएँ हैं, तीन नेत्र हैं, पाश, अंकुश, शर और चाप धारण कर रही हैं।"

सौन्दर्यलहरी में पहिले त्रिपुरा के स्थूल और फिर सूक्ष्म रूप का वर्णन किया गया है :

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तनभरा
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका॥[1]

"मेखला से झंकार शब्द हो रहा है। हाथी के बच्चे के मस्तक पर कुम्भ की तरह इनके पुष्ट स्तन हैं। मध्यभाग क्षीण है, पूर्णचन्द्र की तरह मुख है। हाथों में धनुष, बाण, पाश और अंकुश हैं। पुरारि का यह मूर्तिमान् अहम् मेरे सम्मुख रहे।"

यह स्थूल का वर्णन है। सूक्ष्मरूप का वर्णन इस प्रकार है :

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्या कतिचन चिदानन्दलहरीम्॥[2]

"सुधासमुद्र में, कल्पवृक्ष से घिरे हुए कदम्ब के उद्यान में, चिन्तामणि के बने हुए घर में, शिव के आकारवाले मञ्च पर, परमशिव-पलंग पर स्थित चिदानन्द की लहर के रूप में, भाग्यवान् पुरुष आपका ध्यान करते हैं।"

चेतना का विस्तार (चित्-गगन चित्-आकाश, वेद का ऋतं बृहत् और तपस्) परम शिव है। आनन्द की लहर परमशिव की शक्ति का साकार रूप है, जिसे शिवलिङ्ग काली, तारा, ललिता इत्यादि कहा जाता है। चिदानन्द का विमर्श (साकार)-रूप मणिद्वीप, कदम्बवन, चिन्तामणि गृह इत्यादि है।

---

१. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ७

२. तत्रैव, श्लोक ८

(क) चिन्तामणिगृहान्तःस्था पञ्चब्रह्मासनस्थिता।
महापद्माटवीसंस्था कदम्बवनवासिनी। सुधासागरमध्यस्था—
ललितासहस्रनाम, श्लोक ७३-७४

(ख) पञ्चप्रेतसमासीना पञ्चब्रह्मस्वरूपिणी।—तत्रैव, श्लोक ११२

(ग) तत्त्वासना तत्त्वमयी पञ्चकोषान्तरस्थिता।—तत्रैव, श्लोक १४२

ललितासहस्रनाम में 'सुधासागरमध्यस्था' पर भाष्य इस प्रकार है :

तदुक्तं भैरवयामले—

बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः ।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम् ॥

तत्र चिन्तामणिमयमित्यादि ।

सुधासागरः पीयूषवर्णः । स च ऊर्ध्वस्थ एकः । अमृतेनावृतां पुरीमिति श्रुतिप्रसिद्धः । पिण्डाण्डे बिन्दुस्थाने सहस्रकर्णिकाचन्द्रमध्येऽन्यः अपराजिताख्ये सगुणब्रह्मोपासनाप्राप्ये नगरे अरनामक-ण्यनामकौ द्वौ सुधाह्रदौ सागरप्रतिमौ । शारीरकभाष्ये अनावृत्तिः शब्दादितिसूत्रे कथितावन्यौ । अविशेषात्सर्वेऽपीह गृह्यन्ते । तेषां मध्ये तिष्ठतीति तथा ।[1]

"भैरवयामल में कहा है—बिन्दुस्थान सुधासिन्धु है, पाँच योनि (त्रिकोण) कल्पवृक्ष हैं, वहीं कदम्ब-श्रेणी भी है, उसमें मणिमण्डप है, वहाँ चिन्तामणि का बना हुआ इत्यादि ।

"सुधासागर अमृतवर्ण का है, वह एक है और ऊपर है । 'अमृत' से आवृत पुरी[2] इत्यादि वेद में प्रसिद्ध है । पिण्ड-शरीर में बिन्दुस्थान में सहस्रकर्णिका के चन्द्रमा के बीच दूसरा है । अपराजिता नामक सगुणब्रह्मोपासना द्वारा प्राप्य नगर में, समुद्र की तरह अर और ण्य नामक दो सुधा के ह्रद हैं । शारीरक भाष्य में 'अनावृत्तिः शब्दात्' इस सूत्र में दूसरे का वर्णन है । यहाँ किसी विशेष अमृतसागर का वर्णन नहीं होने के कारण सबका सुधासागर समझना चाहिए ।"

श्रीपुरं[3] यत्र यत्रास्ति तत्र तत्रैकः सुधाह्रदोऽस्ति । सगुणब्रह्मोपासकप्राप्यामपराजिताख्य-नगर्यामरण्याख्यौ द्वौ सुधाह्रदौ स्तः । ब्रह्मरन्ध्रेऽप्येकोऽस्ति । तेषां मध्ये विद्यमानत्वेन यथाधिकारं ध्यात्वा ध्यायन्मनसा समभ्यर्च्येति शेषः ।

"जहाँ-जहाँ श्रीचक्र है, वहाँ एक सुधासागर है । सगुण ब्रह्मोपासना द्वारा प्राप्य अपराजिता नामक नगरी में अर और ण्य नामक दो सुधाह्रद हैं । एक ब्रह्मरन्ध्र में भी है । उनके बीच में रहने के कारण, अपनी योग्यतानुसार ध्यान कर मन द्वारा अर्चना करो ।"

सगुण-निर्गुणादि उपासना-भेद से सुधासागर के रूप में भेद दिखाई पड़ता है । मनोलयावस्था में ब्रह्मानन्द के रूप में इसका बोध होता है ।

पञ्चभूतात्म चित्र-विचित्र यह जगत् ही मणिद्वीप है :

अनेककोटिब्रह्माण्डकोटीनां बहिरूर्ध्वतः ।
सहस्रकोटिविस्तीर्णे सुधासिन्धोस्तु मध्यमे ॥
रत्नद्वीपे जगद्द्वीपे शतकोटिप्रविस्तरे ।
पञ्चविंशतितत्त्वात्मपञ्चविंशतिवप्रकैः ।
त्रिलक्षयोजनोत्तुङ्गैः श्रीविद्यायाः पुरं शुभम् ॥[4]

---

१. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करव्याख्या; बम्बई, १९३५; पृ० ४१
२. पुर का अर्थ है—चक्रं पुरं च सदनमगारं नगरं गुहा—विश्वकोष
३. चक्रं पुरं च सदनमगारं नगरं गुहा । इति विश्वः ।
४. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करव्याख्या, ७३वें श्लोक की टीका में रुद्रयामल से उद्धृत ।

"अनेकों करोड़ ब्रह्माण्ड के बाहर और ऊपर सहस्रों करोड़ विस्तीर्ण सुधासिन्धु के बीच शतकोटि विस्तारवाले जगद्द्वीपरूपी रत्नद्वीप में पचीस तत्त्वों के पचीस तीन लाख योजन ऊँचे प्राचीरोंवाला श्रीविद्या का शुभ पुर (चक्र) है।"

सौन्दर्यलहरी के षष्ठ श्लोक पर टीका इस प्रकार है :

तत्र नव योनिष्वधःस्थितशिवात्मकयोनिचतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्तित्रयात्मकयोनिपञ्चकाधःप्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति ।[1]

"वहाँ (श्रीचक्र में) नौ त्रिकोणों के नीचे, शिवात्मक चार त्रिकोणों के ऊपर, और शक्त्यात्मक पाँच त्रिकोणों के नीचे के मध्यभाग के बिन्दुस्थान का नाम सुधासिन्धु है।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पचीस तत्त्वों का बना हुआ यह जगत् ही रत्नद्वीप है।

श्रीविद्या के साथ कदम्बवन और कदम्बपुष्प का सर्वदा उल्लेख किया जाता है।

कदम्बमञ्जरीक्लृप्तकर्णपूरमनोहरा ।[2]

"कदम्बमञ्जरी से त्रिपुरा के दो मनोहर कर्णपूर बनाये गये हैं।" (कालीरूप में दो शवों के कर्णपूर हैं।)

कदम्बकुसुमप्रिया ।[3]

"त्रिपुरा को कदम्बपुष्प बहुत प्रिय है।"

पद्मैर्वा तुलसीपुष्पैः कह्लारैर्वा कदम्बकैः ।[4]

"पद्म, तुलसी-पुष्प, कह्लार अथवा कदम्ब से (त्रिपुरा की पूजा हो)"।

कदम्बमालां बिभ्राणामापादतलम्बिनीम् ।[5]

"त्रिपुरा, पैरों तक लटकती हुई कदम्ब की माला धारण करती हैं।"

यहाँ कदम्ब माल, विष्णु की वैजयन्ती और काली की मुण्डमाला की तरह विश्व का प्रतीक है।

श्रीशङ्कराचार्य ने त्रिपुरसुन्दरीस्तोत्र में त्रिपुरा को कदम्बवनचारिणी, कदम्बवनवासिनी, कदम्बवनशालया और कदम्बवनमध्यगा कहा है।

कदम्बवृक्ष संसारवृक्ष है, जिसमें असंख्य ब्रह्माण्ड गोल फूल के रूप में अनुस्यूत हैं और ये उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं।

यह निम्नलिखित उद्धरणों से भी स्पष्ट है :

गणेश का गोलाकार विशाल उदर ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। गणेशसहस्रनाम में

---

१ सौन्दर्यलहरी : लक्ष्मीधर; मैसूर, १९५३; पृ० १६
२. ललितासहस्रनाम, श्लोक ५९
३. तत्रैव, श्लोक १२४
४. तत्रैव, श्लोक १८५
५. घटस्तवः, श्लोक १२

इनका एक नाम 'कदम्बगोलकाकार'[1] भी है। और, उपनिषत् में भी ब्रह्मलोक को कदम्ब-गोलकाकार कहा गया है :

कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ।[2]

"वे ब्रह्मलोक जाते हैं, जो कदम्बगोलक-जैसा है।"

कदम्बवृक्ष 'संसारमहीरुह'[3] है, जिसके अनन्त गोल पुष्प-रूप ब्रह्माण्डों में कृष्ण त्रिपुरा आदि रूपधारी विश्वात्मा विहार करता है। अपनी कृति और लीला-स्थल के कारण कदम्ब (विश्व) उसे अति प्रिय है।

अर का अर्थ पत्र है। सहस्रार सहस्रदल-पद्म है। कदम्ब के फूल में असंख्य पत्र होने के कारण इसे सहस्रार-पद्म भी कहा जाता है, जिसमें त्रिपुरा विहार करती हैं। कदम्बपुष्प के केसर असंख्य जीवों के भी प्रतीक माने जाते हैं।

चिन्तामणि से बने हुए गृह में त्रिपुरा निवास करती हैं। चिन्तामणि-गृह का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

मेरौ तु स्वल्पपरिमाणं
शृङ्गारवर्णवर्यस्योत्तरतः सकलविबुधसंसेव्यम् ।
चिन्तामणिगणरचितं चिन्तां दूरीकरोतु मे सदनम् ॥
इति ललितास्तवरत्नात् ।

गौडपादीयसूत्रभाष्ये तुः

सर्वेषां चिन्तितार्थप्रदमन्त्राणां निर्माणस्थानं तदेवेति तस्य चिन्तामणिगृहत्वमित्युक्त्वा-तन्निर्माणप्रकारो विस्तरेण वर्णितः। पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्निर्मितमासनं मञ्चकरूपं तत्र स्थिता। तदुक्तं बहुरूपाष्टकतन्त्रे भैरवयामलतन्त्रे च :

तत्र चिन्तामणिमयं देव्या मन्दिरमुत्तमम् ।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपवर्हणे ॥
अतिरम्यतले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः ।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी ॥ इति

भृतकाः भृत्याः द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरा इत्यर्थः। आग्नेयादीशानान्तविदिक्षु ब्रह्मादय उपर्यधः स्तम्भरूपाः मध्ये पुरुषरूपा अपि श्रीध्यानाच्छवितभावं प्राप्ता मीलिताक्षा निश्चला इत्यादिकं पुराणादवगन्तव्यम् ।

"मेरु पर स्थित, संक्षिप्त रूप में (बना हुआ) अति उत्तम सजावटवाला, बुद्धिमानों के काम के योग्य, चिन्तामणि से रचित गृह मेरी चिन्ता दूर करे—यह ललितास्तवरत्न से है।

---

१. गणेशसहस्रनाम, श्लोक ८४

२. योगराजोपनिषत्, श्लोक २०, अप्रकाशिता उपनिषदः ; मद्रास, १९३३; पृ० ३

३. (क) न्यायकारिका, प्रारम्भश्लोक—कृष्णाय तुभ्यं नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ।
   (ख) ऋग्वेद, १.२२.१६४.२०

गौडपादीयसूत्रभाष्य में भी :

सभी चिन्तार्थ प्रदान करनेवाले मन्त्रों का निर्माण-स्थान वही है, इसका 'चिन्तामणि गृहत्व'—इतना कहकर उसके निर्माण का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पञ्चब्रह्म से निर्मित आसन मञ्च के रूप में वहाँ है।

बहुरूपाष्टक तन्त्र और भैरवयामल में कहा है :

वहाँ चिन्तामणिमय देवी का उत्तम मन्दिर है। शिवात्मक महामञ्च (पलंग) और महेशान तकिया पर, अत्यन्त सुन्दर तलवाला शयनीय सदाशिव है। भृत्य चारों पाया हैं और महेन्द्र ष्ठीवनादि ग्रहण करनेवाले हैं। वहाँ परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी हैं।"

यद्वा चिन्तामणिगृहस्य चत्वारि द्वाराणि चतुर्वेदरूपाणि। द्वारप्रवेशमन्तरेण देवतादर्शनाभावाद् वेदैकवेद्यत्वम्। तथा च श्रुतिः :

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषामपाराम्।
आथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची साम्नामुदीची महती दिगुच्यते ॥ इति

शुद्धविद्यादिभिःसौभाग्यादिभिर्लोपामुद्रादिभिस्तुरीयाम्बादिभिश्चार्ग्यजुषाथर्वसामदेवताभिर्वेद्य इत्यप्यर्थः।[1]

"अथवा चिन्तामणिगृह के चार द्वार, चार वेद हैं। द्वार में विना प्रवेश किये देवता का दर्शन नहीं होता है; क्योंकि यह वेद से ही जाना जाता है।" वेदोक्ति है :

"ऋक् पूर्व और बहुत बड़ी दिशा है, अपार यजुः दक्षिण है, अथर्वाङ्गिरस् पश्चिम है और साम उत्तर बहुत बड़ी दिशा है।"

"यह भी इसका अर्थ है कि शुद्ध विद्यादि, सौभाग्यादि, लोपामुद्रादि, तुरीयाम्बादि, ऋग्, यजु, साम, अथर्व के देवताओं द्वारा जानने योग्य।"

इससे यह सिद्ध होता है कि चारों वेद और उसमें वर्णित प्रतीकात्मक देवताओं के रूपों द्वारा जिस ब्रह्म और ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया गया है। शाक्तदर्शन और उपासना का वही ज्ञेय और उपास्य है।

त्रिपुरा के सिंहासन के स्तम्भ के स्थान में पाँच मूर्त्तियाँ हैं। पञ्चब्रह्म, पञ्चप्रेत इत्यादि इनके नाम कहे जाते हैं :

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एते देवा महेशानि पञ्चज्योतिर्मयाः सदा ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिस्तु तुरीयं परमेश्वरि।
सदाशिवो यस्तु देवी सुप्त ब्रह्म स एव हि ॥[2]

"हे महेशानि! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—ये सर्वदा ज्योतिर्मय पाँच देवता हैं। ये ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और सुप्त (कूटस्थ) ब्रह्म हैं। जो सदाशिव है, वह कूटस्थ ब्रह्म है।"

---

१. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करव्याख्या; बम्बई, १९३५; पृ० ४०

२. राधातन्त्रम्; कलकत्ता, बंगाक्षर, १३४१ साल; पटल ३, श्लोक ४३-४४

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः परशिवो देवः षट्शिवाः परिकीर्त्तिताः ॥[1]

"ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और परशिव—ये छह शिव कहे जाते हैं ।"

ललितासहस्रनाम में 'पञ्चप्रेतासीना, पञ्चब्रह्मस्वरूपिणी' पर सौभाग्यभास्करव्याख्या इस प्रकार है :

ब्रह्माद्या पञ्चापि वामादिस्वस्वशक्तिविरहे सति कार्याक्षमत्वाद्वामांशेन प्रेताः तैः कल्पिते आसने मञ्चके आसीना । तदुक्तं ज्ञानार्णवे :

पञ्चप्रेतान् महेशान ब्रूहि तेषां तु कारणम् ।
निर्जीवा अविनाशा ते नित्यरूपाः कथं वद ॥

इत्यादिना देव्या पृष्टे ईश्वर उवाच :

साधु पृष्टं त्वया भद्रे पञ्चप्रेतासनं कथम् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥
पञ्चप्रेता वरारोहे निश्चला एव ते सदा ।
ब्रह्मणः परमेशानि कर्त्तृत्वं सृष्टिरूपकम् ॥
वामा शक्ति तु सा ज्ञेया ब्रह्मा प्रेतो न संशयः ।
शिवस्य करणे नास्ति शक्तेस्तु करणं यतः ।

इत्यारभ्य

सदाशिवो महाप्रेतः केवलो निश्चलः प्रिये ।
शक्त्या विनाकृतो देवी कथंचिदपि न क्षमः ॥ इत्यन्तम्

ब्रह्मादिसदाशिवान्तानां पञ्चानामपि ब्रह्मकोटावन्तर्भावात्पञ्चब्रह्मणां स्वरूपमस्याः । तदुक्तं त्रिपुरासिद्धान्ते :

निर्विशेषमपि ब्रह्म स्वास्मिन्मायविलासतः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः
इत्याख्यावशतः पञ्च ब्रह्मरूपेण संस्थितम् ॥ इति

यद्वा :

ईशानतत्पुरुषाघोरवामदेवसद्योजातादयानि पञ्च ब्रह्माणि ।

तथाच लैङ्गे :

क्षेत्रज्ञप्रकृतिबुद्ध्यहंकारमनांसि श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वोपस्थानि शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि च पञ्चब्रह्मस्वरूपाणीत्युक्त्वा तेषामाकाशादिपञ्चमहाभूतजनकत्वमुक्तम् । तादृशस्वरूपवतीत्यर्थः ।

यज्ञवैभवखण्डेऽप्युक्तम् :

---

१. कालीविलासतन्त्रम्; लन्दन, १९४७; पटल २८, श्लोक २५

एक एव शिवः साक्षात्सत्यज्ञानादिलक्षणः ।
विकाररहितः शुद्धः स्वशक्त्या पञ्चधास्थितः ॥ इति

सृष्टिस्थित्यादिपञ्चकृत्यशक्तिभिः सद्योजातादिपञ्चरूपो जात इत्यर्थः ।

गरुडपुराणेऽपि :

लोकानुग्रहकृद्विष्णुः सर्वदुष्टविनाशनः ।
वासुदेवस्य रूपेण तथा संकर्षणेन च ॥
प्रद्युम्नाख्यस्वरूपेणाऽनिरुद्धाख्येन च स्थितः ।
नारायणस्वरूपेण पञ्चधा ह्यद्वयः स्थितः ॥ इति

आचार्यैरप्युक्तम् :

पुंभावलीलापुरुषास्तु पञ्च यादृच्छिकं संलपितं त्रयीते ।
अम्ब त्वदक्ष्णोरणुरंशुमाली तवैव मन्दस्मितबिन्दुरिन्दुः ॥ इति[1]

"ब्रह्मादि पाँचों, वामादि अपनी-अपनी शक्तियों से रहित होने पर, काम करने में अक्षम हो जाने के कारण, वामांश से प्रेत (शव, स्थिर, अशक्त, शक्ति-रहित) हो जाते हैं। उनसे बने हुए आसन वा मञ्च पर आसीन। इसे ही ज्ञानार्णव में कहा है—'महेशान ! पञ्चप्रेत और उनके कारणों को कहिए। बताइए निर्जीव होने पर भी वे अविनाशी और नित्यरूप कैसे हैं।' इत्यादि देवी से पूछे जाने पर ईश्वर ने कहा—'देवि ! आपने अच्छा किया जो पूछ लिया कि प्रेतासन कैसे बना। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव, ये पञ्चप्रेत हैं और सदा निश्चल रहते हैं। 'परमेशानि ! ब्रह्मा का कर्त्तृत्व सृष्टिरूप है, उस शक्ति का नाम वामा है और ब्रह्मा प्रेत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं; क्योंकि क्रिया शिव का काम नहीं है। करना शक्ति का काम है' इस प्रकार आरम्भ करके 'प्रिये ! सदाशिव महाप्रेत (शव) अकेला और निश्चल है।' यहाँ तक।

"ब्रह्मा से लेकर सदाशिव तक पाँचों के ब्रह्मकोटि में आ जाने से इसके (त्रिपुरा के) स्वरूप ही पाँचों ब्रह्म हैं। त्रिपुरासिद्धान्त में कहा है—'ब्रह्म, निर्विशेष होने पर भी, अपने में माया के विलास (स्पन्द अर्थात् स्फुरण) के कारण, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—इन नामों से पञ्चब्रह्म के रूप में हैं।' अथवा ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात नामक पञ्चब्रह्म। लिङ्गपुराण में भी है कि—'क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और उपस्थ, शब्दादि पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चब्रह्म-स्वरूप हैं, यह कहकर उन्हें आकाशादि पञ्चमहाभूत का उत्पादक कहा गया है। वे देवी के अपने रूप हैं। यज्ञवैभवखण्ड में भी कहा गया है—'सत्यज्ञानादिलक्षणवाले, विकार-रहित शुद्ध एक शिव ही अपनी शक्ति द्वारा पाँच रूप हो गये हैं।' इसका अर्थ हुआ कि सृष्टि, स्थिति आदि पाँच रूपों में शक्तियों से सद्योजातादि पाँच रूप उत्पन्न हुए। गरुडपुराण में भी कहा है कि 'सर्वदुष्टविनाशन, लोकानुग्रहकारक एक विष्णु ही वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और नारायण—इन पाँच रूपों में हैं। आचार्यों ने भी कहा है कि 'तुम्हारी लीला पुंभाव से, पाँच पुरुषों के रूप में है, तुम जो यों ही बोल देती हो वही तीनों

---

१. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करव्याख्या; बम्बई, १९३५; पृ० ७४

वेद हैं, तुम्हारी आँखों का अणुमात्र सूर्य है और तुम्हारे मन्द मुस्कान का बिन्दुमात्र चन्द्र है।"

यह ब्रह्मविद्या के त्रिपुरारूप का संक्षिप्त विवरण है।

आयुध

सभी देवताओं के अपने-अपने शस्त्रास्त्र हैं। ये सूक्ष्म शक्तियों के स्थूल प्रतीक हैं। देवता की शक्तियाँ मुख्य रूप से जितने प्रकार से काम करती हैं, उनकी कल्पना अस्त्रों के रूप में की जाती है। इसलिए इन अस्त्रों के रूप के ध्यान श्लोक हैं और लोकसिद्धि के लिए इनकी आराधना भी होती है। देवताओं के अस्त्र उनकी चेतन-शक्तियों के प्रतीक हैं।

आयुधानि च देवानां यानि यानि सुरेश्वर।
मच्छक्तयस्तदाकारा आयुधानि तदाऽभवन्॥[1]

'सुरेश्वर! देवताओं के जो आयुध हैं, मेरी शक्तियों ने ही उस समय उन आकारों को धारण कर लिया था।"

शक्तिरूपं महास्त्रं च दर्शनात् पापनाशनम्॥[2]

"महास्त्र शक्ति के रूप हैं। उनके दर्शन से पाप का नाश होता है।"

त्रिपुरा की चार भुजाओं में पाश, अंकुश, धनुष और बाण—ये चार अस्त्र हैं। ये देवी के अपने ही रूप हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है:

उद्यद्भानुसहस्राभा चतुर्बाहुसमन्विता।
रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला॥
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायका।
निजारुणप्रभापूरमज्जद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥[3]

"अनन्त बालसूर्य की तरह उनकी आभा है। चार भुजाएँ हैं, राग-रूप पाशवाली हैं, क्रोध का प्रतीक उज्ज्वल अंकुश है, ईख का धनुष मनोरूप है, पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चबाण हैं। अपनी अरुण प्रभा से ब्रह्माण्डमण्डल को सराबोर करती रहती हैं।"

इन श्लोकों पर टीका इस प्रकार है:

उद्यतां भानूनां रक्तसूर्याणां यत्सहस्रमानन्त्यं तेन तुल्येति वा। अतिलोहितेति फलितोऽर्थः। उक्तं हि स्वतन्त्रतन्त्रे—

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता वश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्याद्पास्तिरिति भावना॥ इति।

---

१. ल० स० नाम, सौ० भा० व्याख्या; बम्बई १९३५; पृ० ६७ में मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत।

२. राधातन्त्रम्; कलकत्ता, १३४१ साल; बंगाक्षर; पटल २१, श्लोक ७

३. ल० स० नाम, श्लोक ५३,५४

वामकेश्वरतन्त्रेऽपि :

ईदृशप्रकाशविमर्शसामरस्यापन्नाया देव्यास्त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परञ्चेति। करचरणादिविशिष्टं स्थूलं, मन्त्रमयं सूक्ष्मं वासनामयं परम्।

तदुक्तं योगवासिष्ठे भगवता :

सामान्यं परमं चेति द्वे रूपे विद्धि मेऽनघ।
पाण्यादियुक्तं सामान्यं यत्तु मूढा उपासते॥
परं रूपमनाद्यन्तं यन्ममैकमनामयम्।
ब्रह्मात्मपरमात्मादिशब्देनैतदुदीर्यते॥ इत्यादि॥
सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः॥ इत्यन्यत्रापि।

यत्तु गङ्गादीनां जलादिमयं रूपं तत्स्थूलतरं चतुर्थम्। सूक्ष्मस्यापि पुनस्त्रैविध्यं वक्ष्यते। तेषु स्थूलं निर्दिशति।

चतुरिति। ध्यानोक्तावयवमन्त्रोपलक्षणमेतत्। बाहुमात्रपरमेव वा। बाहुप्रसङ्गादायुधानां त्रिविधं रूपमाह।

रागेति चतुर्भिः। रागोऽनुरक्तिश्चित्तवृत्तिविशेषः इच्छैव वा। राग एव स्वं वासनामयं रूपं यस्य स्थूलस्य पाशस्य तेनाढ्या वामाधः करेत्युक्ता। क्रोधो द्वेषाख्या चित्तवृत्तिः। आकारशब्दादर्शाद्यचि आकारं सविषयकं ज्ञानमित्यर्थः। घटोऽयमित्याकारकं ज्ञानमित्यादौ विषयपरत्वेनाकारपदप्रयोगात्। क्रोधपदमेव ज्ञानपरमिति तु कश्चित्। तत् 'क्रोधोऽङ्कुशः', इति श्रुतिविरोधात् वक्ष्यमाणस्मृतावेव ज्ञानपदस्य क्रोधपरत्वसम्भवादयुक्तम्। तस्मात् द्वेषज्ञानोभयात्मकेनाङ्कुशेनोज्ज्वला शोभमानदक्षाधःकरा।

तथा चोक्तं पूर्वचतुःशतीशास्त्रे :

पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ। इति।

तन्त्रराजेऽपि वासनापटले :

मनो भवेदिक्षुधनुः पाशो राग उदीरितः।
द्वेषः स्यादङ्कुशः पञ्चतन्मात्राः पुष्पसायकाः॥ इति।

उत्तरचतुःशतीशास्त्रे तु :

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषीदधदुज्ज्वलम्॥ इत्युक्तम्॥ ५३॥

संकल्पविकल्पात्मकक्रियारूपं मन एव रूपं यस्य तादृशमिक्षुरूपं पुण्ड्रेक्षुमयं कोदण्डं धनुर्यस्या वामोर्ध्वकरे सा तथोक्ता। पञ्चसंख्यानि तन्मात्राणि शब्दादीनि विषयाः तदेव तन्मात्रम्। पञ्चभूतानामेतदेव रूपमित्यर्थः तदुक्तं महास्वच्छन्दसंग्रहे :

भूतमात्रस्वरूपोऽर्थविशेषाणां निरूपकः।
शब्दस्तु शब्दतन्मात्रं मृदूष्णकविनिश्चयः॥
विशिष्टस्पर्शरूपञ्च स्पर्शतन्मात्रसंज्ञकः।
नीलपीतत्वशुक्लत्वविशिष्टं रूपमेव च॥

रूपतन्मात्रमित्युक्तं मधुरत्वाम्लतायुतम् ।
रसतन्मात्रसंज्ञं तु सौरभ्यादि विशेषतः ॥
गन्धः स्यात् गन्धतन्मात्रं तेभ्यो वै भूतपञ्चकम् ॥ इति ।

एतानि तन्मात्राण्येव सायका बाणा यस्या दक्षोर्ध्वकरे सा तथोक्ता। तदुक्तं वामकेश्वरतन्त्रे

शब्दस्पर्शादयो बाणा मनस्तस्याभवद्धनुः ॥ इति ॥

कादिमतेऽपि :

बाणास्तु त्रिविधाः प्रोक्ताः स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।
स्थूलाः सूक्ष्ममयाः सूक्ष्मा मन्त्रात्मानः समीरिताः ॥
पराश्च वासनायां तु प्रोक्ताः स्थूलान् शृणु प्रिये ।
कमलं कैरवं रक्तं कह्लारेन्दीवरे तथा ॥
सहकारकमित्युक्तं पुष्पपञ्चकमीश्वरि ॥ इति ।

तेषां नामानि तु कालिकापुराणे :

हर्षणं रोचनाख्यं च मोहनं शोषणं तथा ।[1]
मारणं चेत्यमी बाणाः मुनीनामपि मोहदाः ॥ इति ।

ज्ञानार्णवे तु :

क्षोभणं द्रावणं देवि तथाकर्षणसंज्ञकम् ।
वश्योन्मादौ क्रमेणैव नामानि परमेश्वरि ॥ इति ।

तन्त्रराजेतु :

मदनोन्मादनौ पश्चात् तथा मोहनदीपनौ ।
शोषणश्चेति कथिता बाणाः पञ्च पुरोदिताः । इति ।

"उगते हुए सूर्यों की अर्थात् रक्तवर्ण सूर्यों की सहस्र संख्या अर्थात् अनन्तता उसके तुल्य। फलितार्थ हुआ कि अत्यन्त लोहित। स्वतन्त्रतन्त्र में कहा है अपनी आत्मा ही विश्वरूप ललिता है। लोहितवर्ण उनका विमर्श (साकार) रूप है और भावना उनकी उपासना है। वामकेश्वरतन्त्र में भी—'स्वयं, त्रिपुरा देवी हैं और लोहितवर्ण उनका विमर्शन है।' इस प्रकार प्रकाश-विमर्श सामरस्यरूप देवी के तीन रूप हैं—स्थूल, सूक्ष्म, पर। करचरणादिविशिष्ट स्थूल, मन्त्रमय सूक्ष्म, वासनामय पर। भगवान् ने भी योगवासिष्ठ में कहा है—'पापरहित ! मेरा दो रूप समझो। सामान्य और परम। हाथ-चरण इत्यादिवाला सामान्य है, जिसकी मूढ़ लोग उपासना करते हैं। मेरा पररूप, जो निर्मल, आदि और अन्त-रहित और एक है वह ब्रह्मात्मा, परमात्मा आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है। इत्यादि। अन्यत्र भी कहा है—सामान्य के दो रूप कहे गये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। गङ्गादि के जो जलमय रूप हैं, वे स्थूलतर चतुर्थ हैं। सूक्ष्म के भी फिर तीन रूप कहे जायँगे। उनमें स्थूल का निर्देश किया जा रहा है।

---

१. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करभाष्य; बम्बई, १९३५; पृ० ३०, ३१

चतुः इत्यादि। यह ध्यानोक्त अवयव मन्त्र का उपलक्षण है। अथवा बाहुमात्र बाहुप्रसंग से आयुधों के तीन प्रकार के रूप कहे गये हैं। रोग इत्यादि चारों द्वार राग, अनुरक्ति-चित्तवृत्ति है अथवा इच्छा ही है। राग ही जिस स्थूल पाश का अपना वासनामय (स्वानुभूतिस्वरूप) रूप है, उससे युक्त उसका बायाँ नीचेवाला हाथ है। क्रोध, द्वेष नामक चित्तवृत्ति है। आकार शब्द में 'अर्शादि अच्' है। इसका अर्थ है—विषय-सहित ज्ञान। 'यह घड़ा है' इसमें 'आकार का ज्ञान' इत्यादि में, विषय के लिए 'आकार' शब्द का प्रयोग हुआ है। कोई कहते हैं कि क्रोध शब्द ही ज्ञान-बोधक है। इसलिए 'क्रोधोङ्कुशङ्कः' इसके श्रुतिविरुद्ध होने के कारण, आगे कही जानेवाली स्मृति में भी, ज्ञान शब्द के क्रोधबोधक होने की सम्भावना के कारण यह अनुचित है। इसलिए दोष और ज्ञान, दोनों का रूप होने कारण, अंकुश से उज्ज्वल, अर्थात् जिनका नीचेवाला दाहिना हाथ शोभायमान है। इसे पूर्वचतुःशतीशास्त्र में कहा गया है कि—उसके पाश-अंकुश, राग-द्वेषात्मक कहे गये हैं। तन्त्रराज में भी वासनापटल में कहा गया है कि—"मन, इक्षुधनु है" और पाश राग है, द्वेष अंकुश है और पञ्चतन्मात्राएँ फूल के बाण हैं। उत्तरचतुःशतीशास्त्र में कहा है कि—इच्छाशक्तिमय पाश, ज्ञानरूप अंकुश और क्रियाशक्तिमय चमकते हुए बाण और धनुष धारण करती हैं ॥५३॥ संकल्पविकल्पात्मक (उधेड़बुनवाला) मन ही जिसका रूप है, ऐसे इक्षु का धनुष, जिसके ऊपरवाले बायें हाथ में है। पाँच तन्मात्राएँ शब्दादि विषय—ये ही तन्मात्राएँ हैं। इसका अर्थ है कि पंचभूतों का यही रूप है। इसे महास्वच्छन्दसंग्रह में कहा गया है कि भूतमात्र के स्वरूप और विशेष अर्थों के निरूपक शब्द, शब्दतन्मात्र हैं, विशिष्ट स्पर्शरूप का नाम स्पर्शतन्मात्र है। नीलपीतशुक्लतायुक्त रूपतन्मात्र है, अम्लता, मधुरता रसतन्मात्र है, विशेषतः सौरभगन्ध, गन्धतन्मात्र है। उनसे भूतपञ्चक हैं। "ये तन्मात्राएँ, सायक वा बाण, जिसके दाहिने ऊपरवाले हाथ में हैं वह। यह वामकेश्वरतन्त्र में कहा गया है कि शब्दस्पर्शादि उनके बाण हैं और मन उसका धनुष है।" कादिमत से भी बाण तीन प्रकार के कहे गये हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर। स्थूल फूलों के हैं, सूक्ष्म मन्त्रात्मक हैं और वासनामय 'पर' हैं। प्रिये! अब स्थूल (का विवरण) सुनो—"कमल, कैरव, रक्तकह्लार, इन्दीवर (नीलकमल) और आम्रमञ्जरी—ये पुष्पपञ्चक हैं।" कालिकापुराण में उनके नाम हैं—"हर्षण, रोचन, मोहन, शोषण तथा मारण। ये मुनियों के मन में भी मोह उत्पन्न करते हैं।" ज्ञानार्णव में भी है कि ये 'क्षोभण, द्रावण, आकर्षण, वश्य और उन्माद हैं।' तन्त्रराज में पाँच बाण—मदन, उन्मादन, मोहन, दीपन और शोषण कहे गये हैं।'

भावनोपनिषत् और कामकलाविलास में भी ये ही भाव व्यक्त किये गये हैं :

शब्दादितन्मात्राः पञ्चपुष्पबाणाः।
मन इक्षुधनुः। रागः पाशः। द्वेषोऽङ्कुशः॥[1]

"शब्दादि तन्मात्राएँ पाँच पुष्पबाण हैं, मन इक्षुधनु है, राग पाश है और द्वेष अंकुश है॥"

पाशः स्वात्मभेदबन्धनः इच्छाशक्तिस्वरूपः। अङ्कुशः स्वरूपभेददलनोपायात्मको ज्ञानशक्ति-

---

१. भावनोपनिषत्, भास्करराजभाष्य; मैसूर १९५३; पृ० २०४, सूत्र २१–२४

मयः । इक्षुचापेषुपुञ्चके स्वभिन्नाकारावर्ज्जनसाधनभूतक्रियाशक्तिस्वरूपे । तैरञ्चिता । अयमर्थः—इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव तदाशया पाशादिस्वरूपमापन्नास्तदुपासनमाचरन्तीत्यर्थः ।[1]

"पाश, अपने और आत्मा को भिन्न मानना रूपी बन्धन है। यह इच्छाशक्ति का आकार है। अंकुश, अपने और आत्मा में भेदबुद्धि का नाश करनेवाली ज्ञानशक्ति है। इक्षुचाप और पाँच बाण, आत्मा को छोड़कर और कोई आकार नहीं है, इस भावना को स्थिर करनेवाली क्रियाशक्ति है। उससे युक्त। भाव यह है—इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियाँ ही उनकी रुचि के अनुसार पाशादिरूप धारण कर उनकी उपासना करती हैं—यही अर्थ हुआ।"

तन्त्रराज और उसके टीकाकार ने इसे और भी पल्लवित किया है :

बाणाक्षराणि देवेशि शृणु सौभाग्यदानि वै।
व्याप्तं दाहो रसा स्वम्बु हृन्मरुत् स्वयुतं पृथक् ॥
मुद्राक्षराणि बाणादौ बाणाः स्युः सर्वजृम्भणाः।
शाक्ताः शैवाश्च विज्ञेया पञ्च पञ्च समीरिताः ॥
शिखि तोये स्वसंयुक्ते धनुषी सर्वमोहने।
हंसगैर्दाहवह्निस्वैः सस्वेन मरुता तथा ॥
पाशौ तयोः समुद्दिष्टौ तथा सर्ववशंकरौ।
सर्वस्तम्भकरस्त्वेको मुद्राषष्ठोऽङ्कुशस्तयोः ॥[2]

बाणेत्यादिना समीरिता इत्यन्तेन श्लोकद्वयेन द्विविधानि बाह्याक्षराणि दश, तद्द्वैविध्यं चोपदिशति। तत्र व्याप्तं दाहो रसात्वम्बु हृन्मरुत्स्वयुतं पृथक् यकारः रेफ-लकार-वकार-सकाराक्षराणि पञ्च प्रत्येकम् आकारबिन्दुभिर्युतानि शक्तेः नवबाणाक्षराणि यां रां लां वां सां इति पञ्चाक्षराणि। पञ्चादौ प्रोक्तेषु मुद्राक्षरेषु ह्रादितः ह्रां ह्रीं क्लीं ब्लूं सः इति पञ्चाक्षराणि। कामात्मनः शिवस्य सर्वजृम्भणाः सर्वकामिनोवशंकरा। बाणानां स्थूल-सूक्ष्म-परत्वेन तत् त्रैविध्यं पञ्चमे पटले वक्ष्यति। शिखीत्यादिना श्लोकपूर्वार्धेन चापाक्षरद्वयमुपदिशति। 'तत्र शिखितोये स्वसंयुक्ते थकार-धकाराक्षरे बिन्दुसंयुक्ते थं धं इति क्रमेण शिवयोश्चापाक्षरद्वयम्। चापयोस्त्रैविध्यं पञ्चमे पटले वक्ष्यति।[3] हंसेत्यादिभ्याञ्च वशंकरावित्यन्ताभ्यां श्लोकोत्तरार्द्धपूर्वार्द्धाभ्यां पाशयोरक्षरद्वयमुपदिशति। तत्र हंसगैर्दाहवह्निस्वैः—ह्रीं इति। सस्वेन मरुता आं इति पाशौ तयोः समुद्दिष्टौ प्राग्वदुभयोः पाशाक्षर एते। सर्वस्तम्भेप्यादिनोत्तरार्द्धेनोभयसाधारणमङ्कुशाक्षरमेकमुच्यते। तत्र मुद्राषष्ठः क्रौंकारः ॥

"देवेशि! सुनिए। बाणाक्षर (बाण के बीज) सौभाग्य देनेवाले हैं। व्याप्त (वायु-य), दाह (अग्नि-र), रसा (पृथ्वी-ल), अम्बु (जल-व), हृन्मरुत्-स्वयुत (सं)—बाण के प्रारम्भ के ये मुद्राक्षर हैं। बाण सबके विकास करनेवाले हैं। इनमें से पाँच-पाँच

---

1. कामकलाविलास।
2. तन्त्रराज, पटल ४, श्लोक २६—२९
3. यह पञ्चम पटल की बात उपर्युक्त सौभाग्यभास्करभाष्य के उद्धरण में आ गई है।

शाक्त और शैव बाण हैं। शिखि (थ), तोय (ध) स्व-युक्त (अनुस्वार) धनुष हैं, जो सबको मोह में डाले रहते हैं। हंसग (ह), दाह (र), वह्नि (ई), स्व (अनुस्वार), अर्थात् ह्रीं, और मरुत् (आ), स्व (अनुस्वार) अर्थात् आं—ये दोनों उन दोनों (धनुष-बाण) (अर्थात् जृम्भण, मोहन) के पाश हैं और सबके वश करनेवाले हैं। मुद्राषष्ठ (क्रौं), धनुष-बाण और पाश पर उभयनिष्ठ, अंकुश है। यह सबका स्तम्भन करनेवाला है।

"बाण इत्यादि से लेकर समीरित तक इन दो श्लोकों से दो प्रकार के बाह्य अक्षर (बीज) वश हैं। इनके दो इकार को स्पष्ट करते हैं। उसमें व्याप्त, दाह, रस, अम्बु, हृन्मरुत्, ये सभी स्व-युक्त पृथक्-पृथक्, अर्थात् यकार, रेफ, लकार, वकार, सकार—इनमें से प्रत्येक आकार और बिन्दुयुक्त शक्ति के नव बाणाक्षर हैं, अर्थात् ये मुद्राक्षर हुए—यां, रां, लां, वां, सां। पहिले जो मुद्रा के पाँच अक्षर कहे गये हैं वे आदि से—ह्रां, ह्रीं, क्लीं, ब्लूं, सः ये पाँच अक्षर हैं। ये इच्छावान् (कामात्मानः) शिव के, सबके विकास करनेवाले, और सभी कामिनियों[1] को वश करनेवाले पञ्चबीजाकार हैं। बाणों के स्थूल, सूक्ष्म और पर होने के कारण इन तीनों रूपों का विवरण पञ्चम पटल में होगा। शिखी इत्यादि श्लोक के पूर्वार्द्ध से दोनों धनुष-बोधक अक्षरों का निर्देश है। वहाँ शिखि, तोय, स्वसंयुक्त में बिन्दुयुक्त थकार और धकार (थं धं) में क्रम से शिव और शिवा के दोनों चापाक्षर हैं। चाप के भी तीनों रूपों का पञ्चम पटल में विवरण दिया जायगा। हंस से लेकर वशंकरी तक श्लोक के उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध से पाश के दोनों अक्षरों का उपदेश मिलता है। वहाँ 'हंसगैर्दाहिवह्निस्वैः' 'ह्रीं' है। 'सस्वेन मरुता' आं है। इन दोनों से उद्दिष्ट, पूर्ववत्, ये पाश के अक्षर हैं। सर्वस्तम्भ इत्यादि उत्तरार्द्ध से उभयगत (चाप-पाश) एक अंकुशाक्षर कहा गया है। वहाँ मुद्राषष्ठ क्रौंकार है।"

फलितार्थ यह हुआ कि पराशक्ति की इच्छा, ज्ञान और क्रिया (त्रिशक्ति) पाशांकुशादि अस्त्रों के रूप में उसके हाथों में रहती हैं और प्रपंच की लीला सम्पन्न करती रहती हैं। यह सिद्धान्त बौद्ध, वैष्णव, शाक्त, जैनादि सभी देवविग्रहों का आधार है और इसी पर सभी देवविग्रहों का निर्माण होता है। पाश, अंकुश, शिव, बुद्ध और जैन देवविग्रहों के साथ त्रिशक्ति के रूप में ही सम्बद्ध हैं।

त्रिपुरा वा श्रीविद्या के तत्त्वों का विस्तारपूर्वक रहस्योद्घाटन, ललितासहस्रनाम के सौभाग्यभास्करभाष्य में, त्रिपुरोपनिषत्, त्रिपुरातापिन्युपनिषत्, भावनोपनिषत्, देव्युपनिषत्, श्रीशङ्कराचार्यकृत सौन्दर्यलहरी और उस पर टीकाओं में तथा दुर्वासाकृत त्रिपुरामहिमस्तोत्र

---

१. शाक्त और वैष्णव मत से पराशक्ति शिव या पुरुष, और सारी सृष्टि उसकी शक्ति का विलासमात्र होने के कारण शक्ति वा स्त्री है। इसलिए केवल परमात्मा शिव पुरुष है और सारी सृष्टि शक्तिरूपिणी अर्थात् शक्ति का रूपान्तरमात्र (स्त्री) है।

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः। अर्थात् महेश्वर शक्तिमान् है और सारी सृष्टि उसकी शक्तियाँ (कामिनियाँ) हैं। इसलिए कामिनीवशित्व जगद्वशित्व है। भाव है जगत् में श्रेष्ठता प्राप्त करना।

और नित्यानन्दकृत उसकी टीका में विस्तार से किया गया है। इस विषय के अधिक ज्ञान के लिए अन्यान्य तन्त्र-ग्रन्थों के साथ इन ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए।

यन्त्र-प्रतीक

शिवलिङ्ग, यन्त्र, मूर्त्ति[1], मन्दिर[2], स्तूप, स्तम्भ आदि एक ही सिद्धान्त पर बनते हैं। इसलिए इनके रूपों में भेद होने पर भी सिद्धान्त में कोई भेद नहीं हैं।

यन्त्र की उपादेयता के विषय में मेरुतन्त्र के वचन हैं :

> कामक्रोधादिदोषोत्थसर्वदोषनियन्त्रणात् ।
> यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन्देवस्तुष्यति पूजितः ॥[3]

"कामक्रोधादि दोषों से उत्पन्न सभी दोषों को नियन्त्रित रखने के कारण इसे यन्त्र कहते हैं। इस पर पूजा करने से परमात्मा प्रसन्न होते हैं॥"

यन्त्र के निर्माण में बिन्दु, त्रिकोण, वृत्त और चतुष्कोण का प्रयोग होता है। कभी-कभी त्रिकोणों के स्थान में पद्मदल का व्यवहार होता है।

यन्त्र का रूप साधारणतः इस प्रकार होता है :
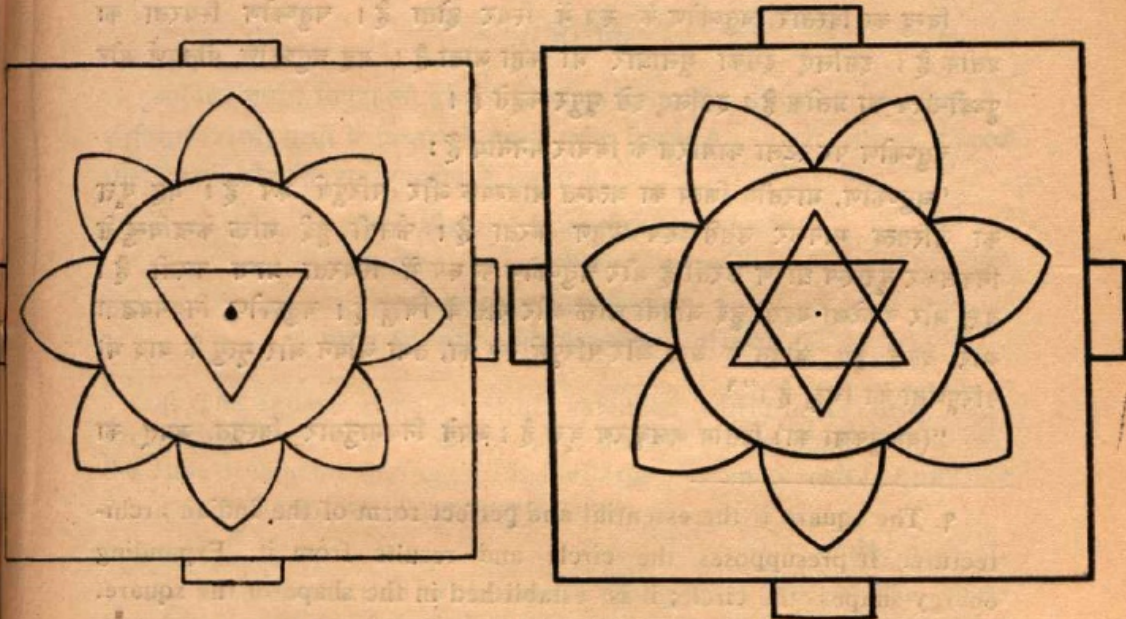
चित्र नं० १ चित्र नं० २

१. यह चित्रपरिचय-प्रकरण में और स्पष्ट होगा।
२. विशेष विवरण के लिए प्रासाद-पुरुष-प्रतीक-प्रकरण देखिए।
३. पुरश्चर्यार्णव; बनारस, सन् १९०१ ई०; पृ० ५२४

यन्त्र का आरम्भ बिन्दु से होता है। यह बीज-नाद-बिन्दु का प्रतीक है। यहाँ से ही सृष्टि का आरम्भ होता है। यह साकार ब्रह्म का आदिरूप है। यह शिवलिङ्ग का लिङ्गस्थान, विष्णु की नाभि, जहाँ से सृष्टि-पद्म, निकलता है, शिव की नाभि, जिसके पद्म पर शक्ति का विलास होता है और बुद्ध के मस्तक का बिन्दु है। नटराज की मूर्त्ति में मायाचक्र के भीतर यही चंचल (नटराज) ब्रह्म है। यही गगनलिङ्ग का सूर्यमण्डल और जैन तीर्थङ्करों के हृदय पर भृगुलता वा धर्मचक्र है। यही मन्दिर का कलश है। मन्दिर सृष्टि का प्रतीक है, जिसका आरम्भ बिन्दु-स्थान कलश से और अन्त, चतुष्कोण भूपुर में होता है।

त्रिकोण, त्रिशक्ति के रूप में चेतना का आत्मप्रसार है। यह त्रिगुण, त्रिदेव, त्रयी इत्यादि का प्रतीक है। (चित्र १)। बिन्दु के विस्तार में जब शक्तिमान्-शक्ति, अर्थात् शिव-शक्ति की कल्पना की जाती है तब बिन्दु के बाहर दो त्रिकोण रहते हैं। ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण शिव और अधःशीर्ष शक्ति है। (चित्र २) यह शिव-शक्त्यात्मक बिन्दु फैलकर वृत्त का रूप ग्रहण करता है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति है। आत्मविस्तार इसका स्वभाव है और इसका निरन्तर प्रसार होता रहता है। सब कुछ इस कुण्डल के भीतर है, इसलिए इसका नाम कुण्डली और हिरण्यगर्भ भी है। वेद में 'हिरण्य' का प्रयोग 'तेज' के अर्थ में होता है। तेजोमण्डल के रूप में सब कुछ अपने भीतर रखने के कारण यह हिरण्यगर्भ है।

बिन्दु का विस्तार, चतुष्कोण के रूप में स्थिर होता है। चतुष्कोण स्थिरता का प्रतीक है। इसलिए इसको मूलाधार भी कहा जाता है। यह चतुष्कोण, पीतवर्ण और पृथ्वी-तत्त्व का प्रतीक है। इसलिए इसे भूपुर कहते हैं।

चतुष्कोण पर स्टेला क्रामरिश के विचार मननीय हैं :

"चतुष्कोण, भारतीय शिल्प का अत्यन्त आवश्यक और परिपूर्ण रूप है। यह वृत्त का अस्तित्व मानकर उससे रूप ग्रहण करता है। फैलती हुई शक्ति केन्द्रबिन्दु से निकलकर वृत्तरूप धारण करती है और चतुष्कोण के रूप में स्थिरता प्राप्त करती है। वृत्त और वक्ररेखा बढ़ती हुई जीवनी शक्ति और गति के चिह्न हैं। चतुष्कोण, नियमबद्धता और बढ़ते हुए जीवन के अन्त और परिपूर्ण रूप का, तथा जीवन और मृत्यु के बाद भी परिपूर्णता का चिह्न है।"[१]

"(वास्तुकला का) द्वितीय अलङ्करण वृत्त है। अपने नियमानुसार विस्तृत जगत् का

---

१. The square is the essential and perfect form of the Indian architecture. It presupposes the circle and results from it. Expanding energy shapes the circle; it is established in the shape of the square. The circle and curve belong to life in its growth and movement. The square is the mark of order, of finality to the expanding life, its form; and of perfection beyond life and death.

—*The Hindu Temple :* Stella Kramrisch; Calcutta 1946, Vol. II, page 22.

लिङ्ग चतुष्कोण, कालवृत्त के पहिले रहता है। दो अलङ्करणों में से पहिला चतुष्कोण, बड़ा और अधिक विस्तृत होता है; क्योंकि सीमाबद्ध काल इसके भीतर रहता है।"[1]

"वृत्त का अस्तित्व मानकर चतुष्कोण बनता है। वृत्त, एक गतिशील रूप है। यह सर्वदा गति और तनाव से भरा रहता है; क्योंकि इसे केन्द्रबिन्दु चलाता है, और केन्द्र-बिन्दु से यह रूप ग्रहण करता है। इसके अपने रूप बिन्दु से इसका जन्म है। तत्त्वार्थ के अनुसार यह चालक पर आश्रित है।"[2]

प्रकृति अर्थात् सक्रिय ब्रह्म के नामरूपात्मक जगत् में आत्मविस्तार की पूर्णता चतुरस्र, चतुष्कोण वा भूपुर में है। यह देवमन्दिर और देवविग्रह का रेखाङ्कण है। इसके चौकोर में चार द्वार रहते हैं, जिनके द्वारा प्रवेश कर साधक देवमन्दिर वा यन्त्र में प्रवेश करता है। चतुष्कोण के भीतर आवरण देवताओं अर्थात् प्रधान देवता की सेवा में आस-पास रहनेवाले देव-देवियों का स्थान रहता है और मध्य बिन्दु-स्थान, अर्थात् केन्द्र-बिन्दु पर प्रधान देवता का स्थान रहता है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर शिवलिङ्ग का निर्माण होता है। शिवलिङ्ग का ऊर्ध्व वर्तुल भाग बिन्दु-स्थान है और रुद्रांश है, मध्यभाग में वेदी के रूप में वृत्त विष्णवंश है और मूलभाग चतुष्कोण ब्रह्मांश है। यह गति और स्थित्यात्मक सक्रिय और निष्क्रिय ब्रह्म के साकार और निराकार का प्रतीक है।

२२. श्रीचक्र

श्रीविद्या अर्थात् त्रिपुरा की मूर्त्ति से भी अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित प्रतीक श्रीचक्र है। श्रीविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थों में विस्तार से इसका वर्णन मिलता है। इसका संक्षिप्त विवरण सौन्दर्यलहरी और त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र में मिलता है :

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपिमूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाब्जत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्द्धं तव भवनकोणाः परिणताः ॥[3]

---

१. The square symbol of the extended world in its order, has precedence over the circle of time, the second ornament of the two the first ornament, the square, is the larger, comprehensive form, for it contains the cycles of measurable time.

—तत्रैव; page 41.

२. The construction of the square presupposes circles. The circle is a dynamic form. It is full of tension and perpetual movement for it is set into motion and acquires form from the point in the centre. In its form is its origin, the point. Ontologically it is dependent on the mover.

—तत्रैव; page 42.

३. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ११

"चार श्रीकण्ठ (शिव-ऊर्ध्वशीर्ष त्रिकोण), पाँच शिवयुवति (शक्ति-अधःशीर्ष त्रिकोण), सभी शम्भु (मध्य बिन्दु) से पृथक्, मूल प्रकृतिरूप नौ त्रिकोण, सब मिलाकर तैंतालीस, अष्टदल कमल, षोडशदल कमल, तीन वलय (वृत्त), तीन रेखा, अर्थात् तीन रेखाओंवाला चतुष्कोण अथवा भूपुर इनसे ही श्रीचक्र बनता है।"

श्रीविद्या के मत से श्रीचक्र, विश्वरचना का प्रतीक है, जिसमें शिव अथवा शक्ति के रूप में विश्वप्रपंच का उद्भव और विकास दिखाया जाता है। इस प्रकार श्रीचक्र, सृष्टि-क्रिया में काम करती हुई सभी शक्तियों का प्रतीक है।

जब आकाशवत् सर्वव्यापी शिव से आरम्भ कर घनीभूत बिन्दुरूप शक्ति तक सारी, विश्वप्रपंच की क्रियाओं की कल्पना की जाती है तब इसको हादिमत कहते हैं और जब बिन्दुरूप शक्ति से सारे विश्व की रचना और विकास का क्रम माना जाता है, तब इसे कादिमत कहा जाता है।

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचक्रात्मकम्
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः।
एतन्मन्त्रमयात्मकाभिरुणं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे॥[1]

"हे शिवे! आपका श्रीचक्र वेदों का मूलकोश है, यह प्रसिद्ध है, यह अरुण वर्ण का है और सब ओर से मन्त्रमयी सुन्दरियों द्वारा घिरा हुआ है। मध्य में तुम ब्रह्मविद्या बिन्दु के सिंहासन पर हो।"

इस श्लोक पर टीका इस प्रकार है:

अतः परं सिद्धं श्रीचक्रं सदैव तं प्रस्तौति:

हे शिवे! ते श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ख्यातम्। कथंभूतम्। संसार-चक्रात्मकम् पुनः कथंभूतम्। तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयम्। पुनः कथंभूतम् सर्वतः श्रीसुन्दरीभिर्वृतम्। कथंभूताभिः। एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिः। पुनः कीदृशम्। अरुणम्। मध्ये त्वं ब्रह्मविद्या। कथंभूते मध्ये। बैन्दवसिंहपीठललिते। इत्यन्वयः।

श्रीचक्रं महात्रिपुरसुन्दर्याः पूजाचक्रम्। श्रुतिमूलकोशः श्रुतीनां वेदानां मूलं प्रणवः। 'ओंकारप्रभवा वेदाः' इति वचनात्। तस्य कोशभूतं श्रीचक्रगतमध्यत्रिकोणं तस्य कामकलाक्षरगतबिन्दुत्रयमयत्वात्। बिन्दुत्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपत्वात्।

'ब्रह्मबिन्दुर्महेशानि वामाशक्तिरुदीरिता।'

इति ज्ञानार्णववचनात्। विश्वं वमति इति वामा, वामाशक्तेः शब्दार्थसृष्टिकारणत्वेन श्रीचक्रस्य श्रुतिमूलकोषमित्यादिः। इतिकारणात्। ते श्री महात्रिपुरसुन्दर्याः। संसारचक्रात्मकं संसारचक्रं कालचक्रं देशचक्रं च। श्रीचक्रस्य कालचक्रेण देशचक्रेण च साम्यं तन्त्रराजेऽष्टा-विंशतितमे पटले श्री शिवेन प्रतिपादितम्। मयात्र ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते। यैरेव मूलविद्याक्षरैः श्रीचक्रं प्रसूतमिति ज्ञानार्णवोक्तिः। यथा—

---

१. त्रिपुरामहिमस्तोत्र, श्लोक २८

लकारात् पृथिवी जाता सशैलवनकानना ।
पञ्चाशत्पीठसम्पन्ना सर्वतीर्थमयी परा ॥
सर्वगङ्गामयी सर्वक्षेत्रस्थानमयी शिवे ।
सकाराच्चन्द्रताराग्रिग्रहराशिस्वरूपिणी ॥
हकाराच्छिवसंबाधव्योममण्डलसंस्थिता ।
ईकाराद्विश्वकर्त्रीयं माया तुर्यात्मिका प्रिये ॥
एकाराद्वैष्णवी शक्तिर्विश्वपालनतत्परा ।
रकारात्तेजसा युक्ता परज्योतिःस्वरूपिणी ॥
ककारात्कामदा कामरूपिणी स्फुरदव्यया ।
अर्द्धचन्द्रेण देवेशि विश्वयोनिरितीरिता ।
बिन्दुना शिवरूपेण शून्यरूपेण साक्षिणी ॥ इति ॥

एवं संसारचक्रात्मकता मूलविद्यायास्तदात्मकता श्रीचक्रस्येति वा साम्यम् । विख्यातं प्रसिद्धम् । तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं । तदधिष्ठितानि श्रीचक्राधिष्ठितानि यान्यक्षराणि तान्येव बीजभूतास्तत्तदावरणदेवतादिभूतवर्णास्त एव शिवाः । अणिमादिसिद्ध्यादयः कामाकर्षिण्यादयः । अनङ्गकुसुमादयः सर्वसंक्षोभिण्यादयः सर्वसिद्धिप्रदादयः सर्वज्ञादयः । वशिन्यादयः कामेश्वर्यादिय एव ज्योतींषि तन्मयं तत्प्रचुरं सर्वतः श्रीचक्रमभिव्याप्य एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिः एतद्विद्याक्षरप्रसूताभिः । लकाराच्चतुरस्रं सदैवतं प्रसृतम्, सकारात् षोडशदलं सदैवतम्, रकारादन्तर्दशारं सदैवतम्, ककारादष्टकोणं सदैवतम्, अर्द्धेन्दोस्त्रिकोणं सदैवतम्, बिन्दोर्बैन्दवमिति मूलविद्यानवाक्षरैः सम्पूर्णं श्रीचक्रं सावरणं प्रसृतमिति मुनेरभिप्रायः । उक्तं च ज्ञानार्णवे :

लकारः पृथिवीबीजं तेन भूबिम्बमुच्यते ।
सकारश्चन्द्रमा भद्रे कलाषोडशकात्मकः ॥
तस्मात् षोडशपत्रं च हकारः शिव उच्यते ।
अष्टमूर्त्तिः सदा भद्रे तस्माद्वसुदलं भवेत् ॥
ईकारस्तु सदा माया भुवनानि चतुर्दश ।
पालयन्ती परा तस्माच्छक्रकोणं भवेत्प्रिये ॥
शक्तिरेकादशस्थाने स्थित्वा सूते जगत्त्रयम् ।
विष्णोर्योनिरिति ख्याता सा विष्णोर्दशरूपकम् ॥
एकारात्परमेशानी चक्रं व्याप्य विजृम्भिता ।
दशकोणकरं तस्माद्रकारो ज्योतिरव्ययः ॥
कलादशान्वितो वह्निर्दशकोणप्रवर्त्तकः ।
ककारान्मदनो देवि शिवं चाष्टस्वरूपकम् ॥
योनिवर्ग्यं तदा चक्रं वसुयोन्यङ्कितं भवेत् ।
अर्द्धमात्रा गुणान्सूते नादरूपा यतस्ततः ॥
त्रिकोणरूपा योनिस्तु बिन्दुना बैन्दवं भवेत् ।
कामेश्वरस्वरूपं तद्विश्वाधारस्वरूपकम् ।
श्रीचक्रं तु वरारोहे श्रीविद्यावीर्यसम्भवम् ॥ इति ॥

अरुणं बालार्कप्रभं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं श्रिया सौन्दर्येण सुन्दर्यः श्रीसुन्दरीप्रायाः। श्रीसुन्दर्याः पञ्चमहाशवसन्नद्धसिंहासनं कामेश्वराङ्कोपवेशनमिति विशेषः। वृतं परिवेष्टितम्। मध्ये मध्य त्रिकोणमध्ये। बैन्दवसिंहपीठललिते बैन्दवं बिन्दुचक्रं तत्र सिंहासनं पूर्वोक्तरूपं तेन ललिते निरुपमशोभान्विते। त्वं श्रीत्रिपुरमहासुन्दरी। ब्रह्मविद्या परब्रह्मात्मिका। शिवे कल्याणरूपे।'[1]

"हे शिवे ! आपका श्रीचक्र वेदों का मूलकोश है, यह प्रसिद्ध है। कैसा। संसारचक्रात्मक। पुनः कैसा। सब ओर से श्रीसुन्दरियों द्वारा घिरा हुआ। कैसी सुन्दरियाँ। ये मन्त्रस्वरूपा उनके द्वारा (घिरा हुआ)। पुनः कैसा। अरुण। मध्य में तुम ब्रह्मविद्या। कैसे मध्य में। बिन्दु के सिंहासन पर। यह अन्वय हुआ। श्रीचक्र महात्रिपुरसुन्दरी का पूजाचक्र। श्रुति अर्थात् वेदों का मूल प्रणव है। कहा गया है कि वेद ओङ्कार से निकले हैं। उसका कोश श्रीचक्र के बीचवाला त्रिकोण। वे कामकला के अक्षरों (ऐं ह्रीं क्लीं) के अन्तर्गत तीन बिन्दु हैं। ये तीनों बिन्दु ब्रह्म-विष्णु-रुद्ररूप हैं। ज्ञानार्णव का वचन है कि हे महेशानि ! ब्रह्मबिन्दु का नाम वामाशक्ति है। विश्व को वमन करती है, इसलिए यह वामा है। वामाशक्ति शब्द (ध्वनि, नाम) और अर्थ (विषय, रूप) का कारण है, इसलिए श्रीचक्र, श्रुतिमूल (ॐ) का कोष है। वे अर्थात् महात्रिपुर-सुन्दरी के। संसार चक्रात्मक, अर्थात् संसारचक्र, कालचक्र और देशचक्र। श्रीशिव ने तन्त्रराज के २८वें पटल में, श्रीचक्र की, देशचक्र और कालचक्र से समता प्रतिपादित की है। ग्रन्थविस्तार के भय से मैं यहाँ नहीं लिखता। ज्ञानार्णव का कहना है कि जिन मूलविद्याक्षरों से श्रीचक्र का प्रसार हुआ उन्हीं अक्षरों से संसारचक्र का विस्तार हुआ। जैसे हे शिवे ! लकार से परारूप पृथिवी उत्पन्न हुई, जिस पर शैल, वन, कानन, पचास पीठ, सभी तीर्थ, सब गंगा और सभी क्षेत्र स्थान हैं। सकार से चन्द्र, तारा, ग्रह, राशि आदि का रूप उसने ग्रहण किया। हकार से शिव के संकीर्णरूप व्योममण्डल के रूप में वह वर्त्तमान है। हे प्रिये ! ईकार से यह विश्वकर्त्री तुर्या माया है। एकार से विश्वपालन में तत्पर वह वैष्णवी शक्ति है। रकार से (वह) तेजोयुक्त परंज्योतिःस्वरूपिणी है। ककार से कामदा, कामरूपिणी अव्यया का स्फुरण होता है। हे देवेशि ! अर्द्धचन्द्र द्वारा इसे विश्वयोनि कहा गया है। बिन्दुरूप शिव के शून्यरूप से[2] यह साक्षिणी है। इस प्रकार संसारचक्र से मूलविद्या की तदात्मकता अथवा श्रीचक्र की समता है। विख्यात अर्थात् प्रसिद्ध। उसमें अधिष्ठित अक्षर शिवज्योतिर्मय है। उसमें अधिष्ठित अर्थात् श्रीचक्र में अधिष्ठित जो अक्षर हैं वे ही बीज हैं और उनके आवरण देवतादि, जो तत्त्व के संकेतवर्ण हैं, वे ही शिव हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, कामाकर्षिण्यादि, अनंगकुसुमादि, सर्वसंक्षोभिणी आदि, सर्वसिद्धिप्रदादि, सर्वज्ञादि, वशिन्यादि, कामेश्वर्यादि ही ज्योतियाँ

---

१. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्, नित्यानन्दकृता टीका, काव्यमाला, एकादशगुच्छकः। बम्बई, शाकः १८५५, सन् १९३३ ई०।

२. यही बिन्दुरूप शून्यता बुद्ध की शून्यता है, जिसका प्रतीक बुद्ध के ललाट का बिन्दु है। शक्ति शून्यसाक्षिणी है और इसी भाव से बुद्ध-सम्प्रदाय में शून्यानां शून्य-साक्षिणी तारा, श्री, और वज्रवैरोचनी (छिन्नमस्ता) को शाक्तों की तरह ही ग्रहण किया गया है।

(ग्रह-नक्षत्रादि) उसके रूप हैं, उसीसे भरे हुए सब ओर से श्रीचक्र को अभिव्याप्त कर इन मन्त्रों के रूप में अर्थात् इन विद्याक्षर के रूप में फैले हुए हैं। लकार से चतुष्कोण (भूपुर) का देवता-सहित विकास हुआ, सकार से देवता-सहित षोडश दल का, हकार से देवता-सहित अष्टदल का, ईकार से देवता-सहित चतुर्दश कोण (दल, योनि) का, एकार से देवता-सहित बाहरवाले दशदल का, रकार से देवता-सहित भीतरवाले दशार का, ककार से देवता-सहित अष्टकोण का, अर्द्धचन्द्र से देवता-सहित त्रिकोण का और बिन्दु से बैन्दव स्थान का, अर्थात् मूलविद्या के नौ अक्षरों से आवरण-सहित सम्पूर्ण श्रीचक्र बना, यही मुनि (दुर्वासा) का अभिप्राय है।

"ज्ञानार्णव में भी कहा है कि—लकार पृथिवी-बीज है, इसलिए इसको भूबिम्ब (भूपुर, चतुष्कोण) कहते हैं। भद्रे! सकार षोडश कलात्मक चन्द्रमा है, इसलिए षोडश पत्र को हकारशिव कहते हैं। भद्रे! इसलिए अष्टमूर्त्ति (शिव) सर्वदा अष्टदल होते हैं। ईकार, यह चौदह भुवनरूप माया है, इसलिए पालन करनेवाली 'परा' इन्द्रकोण होती है। शक्ति एकादश स्थान में रहकर, तीनों लोकों को उत्पन्न करती है, इसलिए उसका नाम विष्णुयोनि है, यह विष्णु का दशरूप (दशावतार) है। एकार से (निकलकर) परमेश्वरी, चक्र में व्याप्त होकर प्रस्फुटित हुई है; इसलिए दश कोण के रूप में किरणोंवाला रकार अव्यय ज्योति है। दशकलाओंवाला अग्नि दशकोण का प्रवर्त्तक है। ककार मदन है। देवि! शिव अष्ट-स्वरूप हैं। योनि (त्रिकोण) के रूप में चक्र, आठ कोणों से चिह्नित रहता है। अर्द्धमात्रा नादरूप में गुणों को उत्पन्न करती है। त्रिकोणरूप योनि, बिन्दु के साथ मिलकर, बैन्दव बन जाता है। यही कामेश्वर है, जो विश्वाधार का प्रतीक है। हे वरारोहे! श्रीचक्र, श्रीविद्या की शक्ति से उत्पन्न हुआ है।"

"अरुण अर्थात् बाल सूर्य का वर्णवाला। श्रीसुन्दरी से घिरा हुआ, श्री के सौन्दर्य से सम्पन्न सुन्दरियाँ, श्रीसुन्दरी-जैसी सुन्दरियाँ। इसका विशेषार्थ हुआ—पञ्च महाशव से सम्बद्ध सिंहासन पर अर्थात् कामेश्वर के अङ्क में बैठना। वृत अर्थात् घिरा हुआ। मध्य में अर्थात् मध्य त्रिकोण में। बैन्दवसिंह पीठललिते अर्थात बैन्दव-बिन्दुचक्र, वहाँ पूर्वोक्तरूप सिंहासन, उससे ललित अर्थात् निरुपम शोभान्वित, तुम अर्थात् महात्रिपुरसुन्दरी। ब्रह्म-विद्या अर्थात् परब्रह्ममयी। शिवा अर्थात् कल्याणरूपिणी।"

शाक्तदर्शन के अनुसार सृष्टि में काम करनेवाले सभी तत्त्वों का, आवरणदेवता के रूप में, विवरण देकर और मध्य में प्रधान शक्ति की स्थापना कर, श्रीचक्र के रूप में संसारचक्र के प्रतीक का निर्माण किया गया है। प्रपंचलीला का सबसे सरल प्रतीक शिवलिङ्ग है और सबसे जटिल और गहन श्रीचक्र है।

२३. छिन्नमस्ता

विभु की इच्छामात्र ही क्रिया का रूप ग्रहण करती है। उसकी इच्छामात्र से क्रिया होने लगती है। इसलिए सृष्टि-क्रिया में जन्तुओं की तरह, उसे हस्तपादादि की आवश्यकता नहीं होती। हस्तपादादि स्थूल जगत् के स्थूल उपादान हैं, जो शक्ति के परिवर्त्तित रूप हैं

और सूक्ष्म शक्ति से संचालित होते हैं। इसलिए अलंकृत भाषा में कहा जाता है कि इसके हजारों हाथ, हजारों शिर, आँख इत्यादि हैं, और यह विना आँख के ही देखता है, विना पैर के ही चलता है, विना हाथ के ही सारी सृष्टि का काम करता है, इत्यादि। सनातन, बौद्ध और जैन देव-देवियों के प्रतीकों में छिन्नमस्ता के अन्तर्गत सिद्धान्त और रूप के प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं।

छिन्नमस्ता के रूप में यही दिखाया गया है कि प्राणिमात्र के शरीर में मस्तक उत्तमाङ्ग समझा जाता है, किन्तु मानवरूप में कल्पना करने पर भी, विभु की कल्पित इन्द्रियों और मस्तक का भी कोई महत्त्व नहीं है। शक्ति की सृष्टि-क्रिया में हवा, बिजली या आकाश के मस्तक की कल्पना जिस प्रकार निरर्थक है, उसी प्रकार सर्वव्यापी शक्ति के मस्तक और अन्यान्य इन्द्रियों की कल्पना भी निरर्थक है, ये केवल कार्यशील शक्तितत्त्व के प्रतीकमात्र हैं।

छिन्नमस्ता का ध्यानस्तव इस प्रकार है :

नाभौ शुभ्रसरोजवक्त्रविलसद्बन्धूकपुष्पारुणं
भास्वद्भास्करमण्डलं तदुदरे तद्योनिचक्रं महत्।
तन्मध्ये विपरीतमैथुनरतप्रद्युम्नसत्कामिनी-
पृष्ठस्थां तरुणार्ककोटिविलसत्तेजःस्वरूपां शिवाम्॥
वामे छिन्नशिरोधरां तदितरे पाणौ महत्कर्तृकां
प्रत्यालीढपदां दिगन्तवसनामुन्मुक्तकेशव्रजाम्।
छिन्नात्मीयशिरः समुच्छलदसृग्धारां पिबन्तीं परां
बालादित्यसमप्रकाशविलसन्नेत्रत्रयोद्भासिनीम्॥
वामादन्यत्रनालं बहुगहनगलद्रक्तधाराभिरुच्चैः-
पायन्तीमस्थिभूषां करकमललसत्कर्त्रिकामुग्ररूपाम्।
रक्ताभां रक्तकेशीमपगतवसनां वर्णिनीमात्मशक्ति
प्रत्यालीढोरुपादामरुणितनयनां योगिनीं योनिमुद्राम्॥
दिग्वस्त्रां मुक्तकेशीं प्रलयघनघटाटोपरूपां प्रचण्डां
दंष्ट्रादुष्प्रेक्ष्यवक्त्रोदरविवरलसल्लोलजिह्वाग्रभासाम्।
विद्युल्लोलाक्षियुग्मां हृदयतटलसद्भोगिनीमात्ममूर्त्तिं।
सद्यश्छिन्नात्मकण्ठप्रगलितरुधिरैर्डाकिनीं वर्द्धयन्तीम्॥
ब्रह्मेशानाच्युताद्यैः शिरसि विनिहतां मन्दपादारविन्दै-
रात्मज्ञैर्योगिमुख्यैः प्रतिपदमनिशं चिन्तितांचिन्त्यरूपाम्।
संसारे सारभूतां त्रिभुवनजननीं छिन्नमस्तां प्रशस्ताम्
इष्टां तामिष्टदात्रीं कलिकलुषहरां चेतसा चिन्तयामि॥

१. नाभि[1] (चेतना के विस्तार के बिन्दुस्थान) में श्वेतकमल के भीतर, बन्धूक पुष्प की तरह लाल, जगमगाता हुआ सूर्यमण्डल है। उसके भीतर महायोनिचक्र है। उसके

---

१. यही है वेद का 'अमृतस्य नाभिः'।

बीच में विपरीत मिथुनकर्म में रत काम और रति की पीठ पर करोड़ों मध्याह्न-सूर्य की तरह जगमगाती हुई तेजोरूप शिवा हैं।।"

सृष्टि के प्रारम्भ में चित् के महाविस्तार में प्रथम स्पन्द, बिन्दु है। यही नाभि है। श्वेतकमल सृष्टि है। लाल सूर्यमण्डल, साकार विश्व का आरम्भ विमर्श है। उसके भीतर योनिचक्र वा त्रिकोण है, जो त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रयी इत्यादि का प्रतीक है। काम और रति क्लीं बीजात्मक इच्छाशक्ति हैं। उनके ऊपर सृष्टि का महारम्भस्वरूप महाशक्ति शिवा हैं।

२. "बायें हाथ में कटा हुआ शिर और दाहिने में बहुत बड़ा खड्ग है। बायाँ पैर आगे बढ़ा है। दिगम्बरी हैं। केश-समूह खुले हुए हैं। पराशक्ति, अपने ही कटे हुए शिरःस्थान से निकलती हुई रक्तधारा पी रही हैं। बालसूर्य की तरह प्रभा है। तीन नेत्र शोभा पा रहे हैं।"

साकार विग्रह के हस्तपादादि को देखकर लोगों के मन में जो भ्रम और मोह उत्पन्न होता है, शिर के रूप में उसका ज्ञानखड्ग द्वारा उच्छेद हुआ है। स्थिति-शक्ति दिक् ही वस्त्र है। प्रकृति स्वतः अपना शृङ्गार है, इसलिए केश खुले हैं। सृष्टि-क्रिया में, साकार रूप में महाशक्ति अपना अवलम्ब आप ही हैं। इसलिए स्वयं अपना रक्तपान कर रही हैं। बालसूर्य की तरह प्रभा विमर्शरूप है। चन्द्र, सूर्य और अग्निरूप तीन नेत्र इच्छा, ज्ञान, क्रियास्वरूप हैं।

३. "इनके दाहिनी ओर एक योगिनी है, जो योनिमुद्रा है। यह देवी की अपनी ही शक्ति है। बड़े वेग से उठती हुई अपने रक्त की धारा इसे ये पिला रही हैं। हड्डियाँ इस योगिनी के आभूषण हैं। इसके हाथ में चमकता हुआ भयङ्कर खड्ग है। इसके वर्ण, केश और नेत्र लाल हैं। यह विवस्त्र है। इसका नाम वर्णिनी है।"

निष्क्रिय और सक्रिय चित्-शक्ति के दोनों पुटों के बीच बिन्दुस्थान योनिमुद्रा है। इसका स्थान भ्रूमध्य है। योगी, तान्त्रिक और बौद्ध तीनों ही इसे समान रूप से मानते हैं। जिनकी ध्यानावस्था से भी इसका बोध होता है। इसका दो स्थूल रूप हो सकता है— १. (·)। २ (◉)। दो पुटों के मिलने से वृत्त बन जाता है। यह बिन्दु-वृत्त इसका दूसरा रूप है। इसका कल्पित रूप वर्णिनी शक्ति है। यह मोक्षदा अन्तर्मुखवृत्ति है।

महाशक्ति अपनी ही शक्ति से अपने रूपान्तर को अनुप्राणित रखती है, यही अपना रक्त पिलाना है। इसके आभूषण अस्थि के हैं। अस्थि प्राणियों के शरीर का अवलम्ब है। सभी रूपों को शक्ति, प्राण रूप से वर्त्तमान रहकर स्थिर रखती है, यही इसकी अस्थिभूषा है। उग्र काता अर्थात् भयङ्कर खड्ग, ज्ञान है। रक्तवर्ण, रक्तकेश और रक्त नेत्र, रजोगुण के बोधक हैं। यह त्रिगुणात्मक ब्रह्म का रजोगुण रूप है।

४. "(इनकी दाहिनी ओर) अपनी ही मूर्त्ति एक डाकिनी है, जिसका नाम भोगिनी है। यह देवी के हृदय के अत्यन्त निकट है। अपने ही सद्यः छिन्न कण्ठ से निकलती हुई रक्तधारा से उसे पुष्ट कर रही हैं। भोगिनी दिगम्बरी है। इसके केश खुले हैं। यह

प्रचण्ड है और प्रलयकालीन घोर घटाटोप की तरह इसका (काला) रूप है। (विकराल) दाँतों के कारण इसके मुख और उदरविवर कण्ठ की ओर देखा नहीं जाता। जिह्वा का अग्रभाग लपलपा रहा है और इसकी दोनों आँखें बिजली की तरह चमकवाली और चंचल हैं।"

तृतीय श्लोक में मोक्षद्वार, (योनिमुद्रा) योगस्वरूपा (योगिनी) अन्तर्मुखवृत्ति, और वर्णिनी शक्ति का विवरण हो चुका है। वर्णिनी का अर्थ, वर्णवाली, अर्थात् निराकार का साकार रूप भी है। चतुर्थ श्लोक में भोगस्वरूप बहिर्मुखवृत्ति है, जो अज्ञान अर्थात् तमोगुण का परिणाम है, किन्तु वह भी महामाया का ही एक स्वरूप है और प्रपञ्चक्रिया में सहायक होने के कारण देवी के हृदय के अत्यन्त निकट है।

डाकिनी का अर्थ है मायाविनी। मोह के कारण जीव भोग में डूबता है। इसलिए इस शक्ति का नाम भोगिनी है। इसका भी अस्तित्व देवी के रक्त (कृपा और स्नेह) पर आश्रित है। योगिनी का प्रचण्ड रूप, विषय-वासना की दुर्निवारता है। इसका विकराल काला रूप घोर तमोगुण है, जिसके विकराल दाँतों (कर्मों) के कारण उसके यथार्थ रूप पर विचार करना भी कठिन है। चमकती आँखें और लोल जिह्वा भोगतृष्णा का लपलपाता रूप है। यह भोग-स्वरूप बहिर्मुखवृत्ति का प्रेरक देवी का तमोगुणात्मक रूप है।

५. "ब्रह्मा ईशान, अच्युत आदि देवी के चरणकमलों को शिर पर रखते हैं। आत्मज्ञ योगीन्द्रगण अचिन्त्यरूपा की, पग-पग पर अहर्निश चिन्ता करते हैं। संसारसार, त्रिभुवन-जननी, इष्टदेवी, इष्ट देनेवाली, कलिकलुष हरनेवाली, तेजोमयी (चिद्रूपिणी) छिन्नमस्ता का मैं ध्यान करता हूँ।"

इस स्तव का अन्तिम श्लोक है :

उत्पत्तिस्थितिसंहृतीर्घटयितुं धत्ते त्रिरूपां तनुं.
त्रैगुण्याज्जगतो यदीयविकृतिर्ब्रह्माच्युतः शूलभृत्।
तामाद्यां प्रकृतिं स्मरामि मनसा सर्वार्थसंसिद्धये
यस्याः स्मेरपदारविन्दयुगले लाभं भजन्तेऽमराः॥

"उत्पत्ति, स्थिति और संहार की क्रिया के लिए आप तीन प्रकार का शरीर धारण करती .हैं। जगत् (सर्वदा गतिशील सृष्टि) के त्रिगुण के कारण, जिसके परिवर्त्तित रूप (विकृति) ब्रह्मा, विष्णु और शूलपाणि हैं, सब विषयों की पूर्ण सिद्धि के लिए, उस आद्या प्रकृति (मूल प्रकृति-अशेष कारण) का मैं स्मरण करता हूँ, जिसके मुस्कुराते हुए चरण-कमल से देवताओं की अर्थसिद्धि होती है।"

इससे ब्रह्ममयी का ब्रह्मस्वरूप स्पष्ट है।

इस प्रतीक में सूर्य-बिम्ब बिन्दु है, कमल विश्वप्रपञ्च है और काम-रति कामकला है, जो चिदानन्द की आनन्दवृत्ति के स्थूल रूप हैं और सृष्टि-क्रिया के प्रवर्तक हैं। इस पर अर्थात् कामेश्वर शव-शिव पर शिवा सृष्टिलीला करती रहती हैं। जिस प्रकार तरंग जलराशि से निकलकर और नाना प्रकार की गति दिखाकर, जल में पुनः विलीन होकर

स्थिर हो जाता है, उसी प्रकार निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय होकर नाना प्रकार की कलाएँ, सृष्टि के रूप में दिखलाकर, अपने में ही स्थिर अर्थात् निष्कल हो जाता है।

देवी की एक सहचरी योगिनी या वर्णिनी, रक्त वर्ण की है, यह रजोगुण है। दूसरी डाकिनी या भोगिनी कृष्णवर्ण है, यह तमोगुण है। बीच में कोटि मध्याह्नसूर्य (तरुणार्क) की तरह तेजःस्वरूप स्वयं आप हैं। यह चेतना है, जो साकार रूप में त्रिगुणात्मिका और गुणाश्रया होने के कारण स्थितिरूप सत्त्वगुणात्मक रूप में, रज और तम को अपने रक्त (शक्ति) से पुष्ट और स्थिर रखती है। शक्ति, स्वयं ही अपना आश्रय है, यही इसका स्वरक्त पान करना और पिलाना है। शक्ति के मस्तक, हाथ, पैर इत्यादि कल्पना-मात्र हैं। जिस तरह बिजली वा वायु जैसे व्यापक तत्त्व का मस्तक नहीं है, किन्तु इसकी सभी क्रियाएँ होती रहती हैं, उसी तरह शक्ति के भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग नहीं हैं, इसकी इच्छामात्र ही क्रिया बन जाती है।

योगिनी, मोक्षप्रद योग है और भोगिनी तमोगुण, मोह और अज्ञान है। भोगासक्ति का परिणाम भयंकर होता है, यही भोगिनी के विकट दाँत और विद्युन्नेत्र हैं। किन्तु जो शक्ति के शरणापन्न हैं उनके लिए मोक्ष और भोग, दोनों ही अनुकूल, सहायक और सुलभ हैं।

छिन्ना का सूर्यमण्डल काली और तारा के महाकाल और अक्षोभ्य का हृदय, श्रीचक्र और त्रिपुरा का बिन्दु, विष्णु की नाभि, बुद्ध का ललाट-बिन्दु और जिन के हृदय पर धर्मचक्र या भृगुलता है, जहाँ से सृष्टि-कल्पना का उद्भव और विकास होता है। यहाँ से ही काली और तारा त्रिगुणात्मक साकार रूप ग्रहण करती है और यहाँ से ही त्रिपुरा, विष्णु, बुद्ध आदि का सृष्टि-कमल प्रकट होता है।

छिन्ना के सिद्धान्त पर ही वैष्णव, शैव, बौद्ध और जैन-प्रतीकों का निर्माण होता है। छिन्ना की सखियों की तरह, विष्णु के साथ लक्ष्मी-सरस्वती, शिव के साथ गङ्गा-गौरी, बुद्ध के साथ ब्रह्मा-इन्द्र, दो बोधिसत्त्व या दो अवलोकितेश्वर, दो शिष्य अथवा एक बोधिसत्त्व और एक शक्ति की मूर्त्तियाँ रहती हैं। तीर्थङ्कर जिनों के साथ भी दो यक्ष या गन्धर्व की मूर्त्तियाँ दोनों पार्श्व में रहती हैं।

छिन्ना का वज्रवैरोचनी नाम शाक्तों, बौद्धों और जैनों में समान रूप से प्रचलित है।

शिवलिङ्ग के रूप में छिन्ना की दोनों पार्श्ववर्त्तिनी सखियाँ वेदी का रूप ग्रहण कर लेती हैं और ब्रह्ममयी, मध्य में ब्रह्मलिङ्ग का रूप ग्रहण करती है।

२४. धूमावती

धूमावती के रूप में महाशक्ति की रूप-कल्पना शाक्तसम्प्रदाय के दर्शन और साधना के सिद्धान्तों के अनुसार है। यह भोग और मोक्षदात्री विधवा वृद्धा माता के रूप में महाशक्ति की उपासना की रीति है।

महाशक्ति के धूमावती रूप धारण करने के विषय में एक कथा कही जाती है। एक बार

कैलास पर्वत पर महादेव के साथ पार्वती बैठी हुई थीं। उन्होंने वृषभध्वज से कहा—बड़ी भूख लगी है। कुछ खाने को दीजिए। कई बार माँगने पर भी जब कुछ नहीं मिला, तब पार्वती महादेव को उठाकर निगल गईं। जब उनके शरीर से धूमराशि निकली तब शम्भु ने अपनी माया द्वारा उनसे कहा :

एषा मूर्त्तिस्तव परा विख्याता बगलामुखी।
धूमव्याप्तशरीरात्तु ततो धूमावती स्मृता॥
एते मूर्त्ती तव परे सिद्धविद्ये प्रकीर्त्तिते।
तथोग्रतारिणी मूर्त्तिर्यथा काली पुरा सती॥
यथा च भुवनेशानी यथा त्रिपुरभैरवी।
छिन्नमस्ता यथा मूर्त्तिस्तथा त्वं परमेश्वरी॥

"आपकी यह 'परा' (आदि कारणरूपा) मूर्त्ति, जो बगलामुखी (सुन्दर मुखवाली) के नाम से प्रसिद्ध है, वह धुएँ से ढँक जाने के कारण धूमावती कही जायगी। हे परे! आपकी ये दोनों मूर्त्तियाँ सिद्धविद्या हैं। जो उग्रतारा, काली, पुराकाल में सती की मूर्त्ति, भुवनेश्वरी, त्रिपुर-भैरवी और छिन्नमस्ता की मूर्त्ति है, हे परमेश्वरि! वही आप हैं।"

पराशक्ति एक है और उसके ही अनेक रूप सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं, इस भाव को स्पष्ट करने के लिए कहा जाता है कि महाशक्ति कुमारी, विधवा, एका, परा इत्यादि है। दुर्गासप्तशती के पाँचवें अध्याय में देवी ने कहा :

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति॥

"जो मुझे युद्ध में जीत लेगा, जो मेरा गर्व दूर कर देगा, जो मेरे जैसा बलवान् होगा, वही मेरा भर्त्ता होगा।" ऐसा तो कोई हो ही नहीं सकता। इसलिए देवी कुमारी हैं। उनके इस विधवापन की कथा का भी यही अर्थ है कि जितने भी नाम-रूप की कल्पना की जाय, सभी उसके उदरस्थ है, वह एक-की-एक है।

इस रूप का ध्यान इस प्रकार है :

विवर्णा चञ्चला कृष्णा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
विमुक्तकुन्तला रुक्षा विधवा च विरलद्विजा॥
काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा।
शूर्पहस्तातिरुक्षाक्षी धूतहस्ता वरान्विता॥
प्रवृद्धघोणा तु भृशं जटिला कुटिलेक्षणा।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा॥

"देवी विवर्ण चंचल, काला रंगवाली, लम्बी, मैले कपड़ेवाली, खुले केश, रूखी, विधवा, थोड़े-बहुत दाँतोंवाली, काकध्वज रथ पर आरूढ़, लटकते हुए स्तनोंवाली, हाथ में सूप, रूखे नेत्र, हिलते हुए और वरद हस्त, लम्बी नाक, जटिल केश, क्रूर आँखें, सर्वदा भूख-प्यास से व्याकुल, भयंकर और झगड़े का घर हैं।"

देवी का काकध्वज और काकवाहन, श्मशान अर्थात् विषय-वासना से शून्यता का प्रतीक है। यह काली और महाकाल का श्मशान और गीता की स्थितप्रज्ञावस्था है, जो मोक्षप्रद है।

धूमावती के रूप में करुणामयी वृद्धा माता के कृपा-कटाक्ष से भोग-मोक्षादि सभी सुलभ हो जाते हैं।

२५. बगलामुखी

ब्रह्ममयी महाविद्या का एक नाम और रूप बगला है। यह बगलामुखी का संक्षिप्त रूप है। बगला के रूप का विवरण इस प्रकार है :

मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डपरत्नवेदी—
सिंहासनोपरिगतां परिपीतवस्त्राम्।
पीताम्बराभरणमाल्यविलेपनाढ्यां
देवीं स्मरामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम्॥
जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं
वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम्।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन
पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि॥

"सुधासागर में मणिमण्डप में रत्न की वेदी पर सिंहासन पर बैठी हुई, पीत वस्त्र, आभरण, माला और विलेपनवाली और मुद्गर तथा वैरी की जीभ को धारण करनेवाली देवी का मैं स्मरण करता हूँ।"

"बायें हाथ से जिह्वाग्र को पकड़कर और दाहिने से गदा की मार से शत्रु को पीड़ित करनेवाली, पीताम्बर से जगमगाती हुई, दो भुजाओंवाली देवी को मैं प्रणाम करता हूँ।"

सुधाब्धि चिदानन्द का आनन्द-सागर है, मणिमण्डप और रत्नवेदी सृष्टि है और सिंहासन बिन्दु है।[१] देवी के भूषणवस्त्रादि सभी पीतवर्ण के हैं। पीतवर्ण पृथ्वी-तत्त्व का है, जो स्थित्यात्मक दिक्-शक्ति है। सभी प्रकार की गति को रोकने के लिए, दिक्-शक्तिरूपिणी महाशक्ति बगला की साधना की जाती है। प्रपंचसिद्धि में, विरोधियों को रोकने के लिए और परमार्थसिद्धि में मन की चंचलता को रोककर पराशक्ति में मनोलय के लिए इनकी उपासना की जाती है।

बगलास्तव से इनका ब्रह्मरूप प्रकट होता है। इसका एक श्लोक इस प्रकार है :

मातर्भैरवि भद्रकालि विजये वाराहि विश्वाश्रये।
श्रीविद्ये समये महेशि बगले कामेशि रामे रमे॥
मातङ्गि त्रिपुरे परात्परतरे स्वर्गापवर्गप्रदे।
दासोऽहं शरणागतः करुणया विश्वेश्वरि त्राहि माम्॥

"मातः, भैरवि, भद्रकालि, विजये, वाराहि, विश्वाश्रये, श्रीविद्ये, समये, महेशि,

१. इन प्रतीकों के विस्तृत विवरण के लिए त्रिपुरा-प्रकरण देखना चाहिए।

बगले, कामेश्वरि, रामे, रामे, मातङ्गि, त्रिपुरे, परात्परतरे, स्वर्ग और अपवर्ग देनेवाली, मैं दास शरणागत हूँ। विश्वेश्वरि! मेरी रक्षा करो।"

इसमें सभी महाविद्याओं को एक कहकर बगला को उनसे अभिन्न कहा गया है। बगलाशतनाम के कुछ श्लोकों से इनका ब्रह्मरूप और भी स्पष्ट हो जाता है :

> बगला विष्णुवनिता विष्णुशङ्करभामिनी।
> बहुला वेदमाता च महाविष्णुप्रसूरपि॥
> महामत्स्या महाकूर्मा महावाराहरूपिणी।
> नरसिंहप्रिया रम्या वामना वटुरूपिणी॥
> जामदग्न्यस्वरूपा च रामा रामप्रपूजिता।
> कृष्णा कपर्दिनी कृत्या कलहा कलकारिणी॥
> बुद्धिरूपा बुद्धभार्या बौद्धपाखण्डखण्डिनी।
> कल्किरूपा कलिहरा कलिदुर्गतिनाशिनी॥
> कोटिसूर्यप्रतीकाशा कोटिकन्दर्पमोहिनी।
> केवला कठिना काली कला कैवल्यदायिनी॥ इत्यादि।

"बगला, विष्णुवनिता (लक्ष्मी), विष्णुभामिनी (सरस्वती), शङ्करभामिनी (पार्वती), बहुला, वेदमाता (सावित्री), महाविष्णु को जन्म देनेवाली (परामहाशक्ति) महामत्स्यस्वरूपा महाकूर्मरूपिणी, महावाराहरूपधारिणी, नरसिंह की शक्ति, रम्या, वामनरूपा, वटुरूपा, परशुरामस्वरूपा, रामरूपा, राम से पूजिता, कृष्णा, कपर्दिनी, कृत्या, कलहा, कल्याणमयी, बुद्धिरूपा, बुद्धशक्ति, बौद्धों के पाखण्ड का नाश करनेवाली, कल्किरूपा, कलिहरा, कलि की दुर्गति का नाश करनेवाली, कोटि सूर्य-जैसी, कोटि कन्दर्प को मोह लेनेवाली, केवला, कठिना, काली, कला (सृष्टिरूपा), कैवल्य देनेवाली इत्यादि।

इससे महाशक्ति का विश्वव्यापक रूप स्पष्ट है।

२६. भुवनेश्वरी

ब्रह्ममयी महामाया का एक स्वरूप भुवनेश्वरी है। इनके रूप का वर्णन इस प्रकार है :

> उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
> स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्॥

"प्रातःकालीन दिन की तरह (रक्त) प्रभावाली, चन्द्रमुकुट, पुष्ट स्तन, तीन नयन और मन्द मुस्कानवाला मुख (हाथों में) पाश, अङ्कुश, वरद और अभययुक्त भुवनेश्वरी का मैं ध्यान करता हूँ।"

यह त्रिपुरा का सरल रूप है। रक्त प्रभा विमर्श है। माथे पर चन्द्रमा (सोम), ब्रह्मानन्द के अमृत का प्रतीक है। यह ब्रह्मानन्द ही वेदों का सोमरस है। तुङ्ग कुच जगन्माता के भरण-पोषण की योग्यता का प्रतीक है। ये ज्ञान और कर्म के सोमरस से भरे दो अमृतघट हैं, जो जगत् को जीवन प्रदान करते हैं। यह इनका जगन्मातृत्व है। तीन नेत्र,

ज्ञान, इच्छा, क्रिया और इन्द्वर्कवह्नि हैं। मन्दस्मित इसका आनन्दमय स्वरूप है। अङ्कुश और पाश का विस्तृत विवरण गणेश और त्रिपुरा-प्रकरणों में हो चुका है।

भुवनेश्वरी-स्तोत्र के आरम्भिक श्लोकों से इनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है :

अथानन्दमयीं साक्षाच्छब्दब्रह्मस्वरूपिणीम्।
ईडे सकलसम्पत्त्यै जगत्कारणमम्बिकाम्॥
विद्यामशेषजननीमरविन्दयोने-
र्विष्णोः शिवस्य च वपुः प्रतिपादयित्रीम्।
सृष्टिस्थितिक्षयकरीं जगतां त्रयाणां
स्तुत्वा गिरं विमलयाम्यहमम्बिके त्वाम्॥

"सकल सम्पत्ति (की प्राप्ति) के लिए, आनन्दमयी, जगत्कारण, परमब्रह्म के प्रत्यक्ष रूप अम्बिका की मैं उपासना करता हूँ।"

पद्मयोनि ब्रह्मा, विष्णु और शिव की आदि जननी और उनके शरीरों का निर्माण करनेवाली, तीनों जगत् की सृष्टि, स्थिति और क्षय करनेवाली विद्या (ब्रह्मस्वरूपिणी) अम्बिके! तुम्हारी स्तुति करके मैं वाणी पवित्र करता हूँ।"

'अशेष जननी विद्या' से अशेष कारण ब्रह्म का निर्देश किया गया है। इसी भाव को फिर 'जगत्कारण' में दुहराया गया है।

२७. भैरवी

घोर कर्म के लिए महाविद्या को घोर रूप और क्रिया की आवश्यकता होती है और शान्त कर्म के लिए शान्तस्वरूप और शान्तिप्रद क्रिया की। महाशक्ति का भैरवी रूप, जप-तप-ज्ञान-ध्यानादि शान्त कर्मों में सिद्धिप्रद है।

इनके ध्यान से यह स्पष्ट हो जाता है :

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वराम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्॥

"सहस्रों बालसूर्य के समान अरुण कान्तिवाली, अरुण वस्त्रवाली, मुण्डमालायुक्त, रक्त से लिप्त स्तनोंवाली, जपमाला, पुस्तक (विद्या), अभय और वरद युक्त हाथोंवाली, त्रिनेत्र से सुशोभित मुखकमलवाली, 'रत्न' की तरह मुकुट में लगे हुए चन्द्रवाली, मुस्कुराती हुई देवी की मैं वन्दना करता हूँ।"

देवी का अरुणवर्ण उसका साकार रूप विमर्श है। मुण्डमाला वाक् अर्थात् वर्णमाला है। रक्तलिप्त पयोधर सृष्टि और स्थिति है। रक्त, रजोगुण अर्थात् सृष्टि-क्रिया है और स्तन, पालन-पोषण करनेवाला सत्त्वगुणात्मक स्थिति है। जपवटिका वाक् का मोक्षदायक दूसरा रूप है। ब्रह्मज्ञान का प्रतीक पुस्तक (विद्या) है। त्रिशक्ति (ज्ञानेच्छाक्रिया) और त्रिज्योति (इन्द्वर्कवह्नि) त्रिनेत्र हैं। मुकुट का चन्द्र, वेदों का सोम, आनन्द और

अमृतत्व है। मन्दस्मित, शाक्तों और शैवों की इच्छा-क्रिया, वेदान्त का आनन्द और और बौद्धों की करुणा है।

भैरवी के स्तुतिवाक्यों से भी इनका अभीष्ट रूप स्पष्ट होता है :

ब्रह्मादयः स्तुतिशतैरपि सूक्ष्मरूपां
जानन्ति नैव जगदादिमनादिमूर्त्तिम् ।
तस्माद्वयं कुचनतां नवकुङ्कुमाभां
स्थूलां स्तुमः सकलवाङ्मयमातृभूताम् ॥
स्थूलां वदन्ति मुनयः श्रुतयो गृणन्ति
सूक्ष्मां वदन्ति वचसामधिवासमन्ये ।
त्वां मूलमाहुरपरे जगतां भवानि
मन्यामहे वयमपारकृपाम्बुराशिम् ॥

"जगत् के आदि और जिनकी मूर्त्ति के आदि का कोई पता नहीं है, उस सूक्ष्म रूपवाली देवी को ब्रह्मादि असंख्य स्तुतिवाक्यों से भी नहीं जान सकते। इसलिए सकल वाङ्मय की जननी के, स्तनों से झुके हुए और नवकुंकुम-जैसे वर्णवाले स्थूल रूप की हम स्तुति करते हैं।"

"वेद और मुनि देवी के स्थूल रूप का वर्णन करते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि इनका सूक्ष्म रूप वाक् का आधार है और भवानि ! कुछ लोग तुम्हें जगत् का मूल मानते हैं, किन्तु हमलोग तुम्हें करुणासागर[1] के रूप में देखते हैं।"

इससे ब्रह्म के भैरवी रूप का यथार्थ रूप स्पष्ट हो जाता है।

२८. मातङ्गी

मातङ्गी महाविद्या का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

अथ मातङ्गिनीं वक्ष्ये क्रूरभूतभयङ्करीम् ।
पुरा कदम्बविपिने नानावृक्षसमाकुले ॥
वश्यार्थं सर्वभूतानां मतङ्गो नामतो मुनिः ।
शतवर्षसहस्राणि तपोऽतप्यत सन्ततम् ॥
तत्र तेजः समुत्पन्नं सुन्दरीनेत्रतः शुभे ।
तेजोराशिरभूत्तत्र स्वयं श्रीकालिकाम्बिका ।
श्यामलं रूपमास्थाय राजमातङ्गिनी भवेत् ॥[2]

"अब मातङ्गिनी का वर्णन करूँगा। ये क्रूर भूत के लिए भयङ्करी हैं। पुराकाल में मतङ्ग नामक मुनि ने नाना वृक्ष से परिपूर्ण कदम्बवन में, सब जीवों को वश में करने के लिए, सैकड़ों-सहस्रों वर्षों तक निरन्तर तप किया। तब (त्रिपुर) सुन्दरी के नेत्रों से

---

१. यही बौद्धों का भी करुणातत्त्व है। 'शून्यतैव करुणो'
२. प्राणतोषणी; कलकत्ता, वंगाक्षर; पृ० ३८२

तेज उत्पन्न हुआ और वह तेजोराशि, स्वयं अम्बिका कालिका बन गई और श्यामल वर्ण धारण कर वे राजमातङ्गिनी बन गईं ।"

'क्रूरभूतभयङ्करी' से महाविद्या के इस रूप का उद्देश्य प्रकट होता है। इससे यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो त्रिपुरा और कालिका हैं, वही मातङ्गी हैं। ये एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम और रूप हैं। इस रूप की उपासना का उद्देश्य और फल इस प्रकार कहा गया है :

अथ वक्ष्ये महादेवीं मातङ्गीं सर्वसिद्धिदाम् ।
अस्याः सेवनमात्रेण वाक्सिद्धिं लभते ध्रुवम् ॥[1]

"अब सब सिद्धि देनेवाली महादेवी मातङ्गी का वर्णन करता हूँ। इनके सेवामात्र से, वाक्सिद्धि, निश्चय मिलती है ।"

इससे स्पष्ट है कि वाक्सिद्धि के लिए इनकी उपासना की जाती है।

मातङ्ग चाण्डाल का नाम है। बोध होता है कि चाण्डालकन्या के रूप में जगन्माता की उपासना होती है। मातङ्गी के साथ ही, उच्छिष्ट चाण्डालिनी-कल्प का विधान होने के कारण इस विचार की पुष्टि होती है। तन्त्रमत में, मनुष्यों में कोई भेद नहीं होने के कारण, इस रूप में भी आद्या की उपासना स्वाभाविक है।

मातङ्गी के स्थूल रूप का विवरण इस प्रकार है :

श्यामाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रत्नसिंहासनस्थिताम् ।
वेदैर्बाहुदण्डैरसिखेटकपाशाङ्कुशधराम् ॥

श्यामवर्ण, माथे पर चन्द्रमा, त्रिनयन, रत्नसिंहासनस्थ, चार हाथों में दण्ड, कृपाण, पाश और अंकुश।

इन सभी प्रतीकों का स्पष्टीकरण इससे पूर्व हो चुका है।

२६. कमला

इस महाविद्या का नाम कमला, कमलात्मिका और लक्ष्मीविद्या भी है। इनका प्रसिद्ध ध्यान इस प्रकार है :

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम् ।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बललितां वन्देऽरविन्दस्थिताम् ॥

"कान्ति में सोने-जैसी, हिमालय अथवा दिग्गज-जैसे चार हाथी सूँड़ में चार सोने का अमृतघट लेकर सिञ्चन करते हुए, दो हाथों में कमल और दो में अभय-वरद मुद्रायुक्त, किरीट से जगमग करती हुई, कमर में कसा हुआ क्षौमवस्त्रयुक्त और कमल पर स्थित श्री की मैं वन्दना करता हूँ।"

---

१. पुरश्चर्यार्णव; बनारस, १९०४ ई०; पृ० ८२७

स्वर्ण वर्ण, दिग्गज-जैसे विशालकाय हाथी, अमृत से पूर्ण स्वर्णघट से सिञ्चन, जग-मगाता हुआ किरीट, उत्तम वस्त्र इत्यादि मत्त वैभव की कल्पना है। कमलासन और हाथों में कमल से सारी सृष्टि में सर्वव्यापित्व का संकेत है।

× × × × × ×

आद्या (काली), द्वितीया (तारा) और तृतीया (त्रिपुरा, ललिताम्बा वा श्रीविद्या) के रूप में, महाशक्ति की उपासना-पद्धति में मोक्ष प्रधान, और भोग गौण उद्देश्य है। इसमें भोग, मोक्ष-सम्पादन का उपादान-मात्र बनकर रह जाता है और धीरे-धीरे (कभी-कभी हठात् भी) भोग-लालसा दुर्बल बनकर लुप्तप्राय हो जाती है और केवल शरीरधर्म के रूप में बनी रहती है। अन्यान्य रूपों की साधना, साधक चाहे तो मोक्ष के लिए भी कर सकता है; क्योंकि यह सर्वथा सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक भी है। किन्तु इनकी उपासना, प्रायः मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, धन-प्राप्ति, भविष्य-कथन इत्यादि क्षुद्र सिद्धियों के लिए की जाती है। इन लालसाओं की सिद्धि, उपदेष्टा और साधक की योग्यता और भावना पर आश्रित है।

क्षुद्र सिद्धियों के लिए, देव-देवी, यक्ष-रक्ष, भूत-प्रेत आदि शक्ति के असंख्य क्षुद्र-रूप हैं। भोग-लिप्सा की तृप्ति के लिए लोग इनका प्रयोग करते हैं। इनकी संख्या और रूप का निश्चय करना कठिन है। भारतीय साधना-ग्रन्थ और विशेषकर तन्त्र और पुराण इनसे भरे-पड़े हैं। साधक, एक ही रूप का, मोक्ष-प्राप्ति और घोर-कर्म, दोनों के लिए प्रयोग कर सकता है। तदनुसार, इनके अनेक रूप, अनेक ध्यान, अनेक मन्त्र और अनेक प्रकार की साधनाएँ होती हैं और रूप-निर्णय की जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं। मालूम होता है कि इसी जटिलता पर विचार कर मनीषियों ने कहा है कि हिन्दू देव-देवियों की संख्या तैंतीस करोड़ है। यदि इनकी संख्या तैंतीस करोड़ है तो बौद्ध देव-देवियों की संख्या ६६ करोड़ और जैन देवताओं की इनसे भी अधिक, अर्थात् ६८-७० करोड़ अवश्य होगी। अन्तर्गत सिद्धान्त एक रहने के कारण उपासना के विचार से, इनके रूपों में विभिन्नता रहने पर भी, साधना-प्रणाली में कोई अन्तर नहीं आता।

जैसे, काली के नौ भेद कहे गये हैं :

काली नवविद्या प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
आद्या दक्षिणकाली च भद्रकाली तथा परा॥
अन्या श्मशानकाली च कालकाली चतुर्थिका।
पञ्चमी गुह्यकाली च पूर्वं या कथिता मया॥
षष्ठी कामकलाकाली सप्तमी धनकालिका।
अष्टमी सिद्धिकाली च नवमी चण्डकालिका॥[1]

अर्थात् काली के इतने भेद हैं—दक्षिणकाली, भद्रकाली, श्मशानकाली, कालकाली, गुह्य-काली, कामकलाकाली, धनकालिका, सिद्धिकाली और चण्डकाली।

इतना ही नहीं :

१. पुरश्चर्यार्णव, बनारस, १९०१ ई०; पृ० १७

एवमन्यासां भेदा ग्रन्थान्तरेभ्योऽवगन्तव्याः ।[1]

"इस प्रकार औरों के भेद दूसरे ग्रन्थों से जानना चाहिए।"

इस प्रकार गणेश के हेरम्ब, चौरगणेश, हरिद्रागणेश, उच्छिष्ट गणपति आदि अनेक भेद कहे गये हैं। तारा के आठ, बटुक के आठ, त्रिपुरा के बालात्रिपुरा, त्रिपुरासुन्दरी, त्रिपुराभैरवी आदि नाना भेद हैं।

किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिए इन रूपों की कल्पना की जाती है। इसलिए ये रूप-भेद निमित्त पर आश्रित हैं, किन्तु सबके अन्तर्गत विभु एक है।

३०. नटेश्वरी

शिव और शिवा में कोई भेद नहीं है। ये एक के, सक्रिय और निष्क्रिय रूप में, दो नाम हैं। इसलिए एक की लीला दोनों की लीला है।

नृत्य के दो भेद हैं—उद्धत और मृदु। उद्धत नृत्य का नाम ताण्डव है और इसके आदि-प्रवर्त्तक शिव हैं। यह भाव, गेय और ताल के साथ पुरुषों द्वारा किया जाता है। इसके अनेक भेदों की चर्चा, नटराज के नृत्य के सम्बन्ध में हो चुकी है, मदु नृत्य का नाम लास्य है। इसकी आदिप्रवर्त्तिका पार्वती हैं। यह भाव गान और ताल के साथ स्त्रियों द्वारा किया जाता है। इसके दो भेद हैं—क्षुरित और यौवत, और इसके दस अङ्ग हैं—गेयपद, स्थितपाठ, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धवाख्य, त्रिगूढ, उत्तमोत्तम और उक्त-प्रयुक्त।

ताल, नृत्य का प्रधान आधार है। कहा जाता है कि इसका 'ता' ताण्डव से और 'ल' लास्य से लिया गया है। तात्पर्य यह है कि ताण्डव और लास्य, अर्थात् सब प्रकार के नृत्यों का प्राण ताल है।

शिव की तरह देवी के नृत्य प्रसिद्ध और स्वाभाविक हैं।

मातङ्गीशतनाम में मातङ्गी को 'महोल्लासिनी लास्यलीलानताङ्गी', अर्थात् महा-आनन्दस्वरूपा और लास्य-नर्त्तन में झुके हुए अङ्गोंवाली कहा है।

धूमावती हैं :

> नटनायकसंसेव्या नर्त्तकी नर्त्तकप्रिया।
> नाट्यविद्या नाट्यकर्त्री नादिनी नादकारिणी॥

छिन्नमस्ता हैं :

> नृत्यप्रिया नृत्यवती नृत्यगीतपरायणा।
> नृत्येश्वरी नर्त्तकी च नृत्यरूपा निराश्रया॥

---

१. तत्रैव

त्रिपुरा का एक नाम नटेश्वरी है। इसपर भाष्य इस प्रकार है :

नटेश्वरस्य चिदम्बरनटस्येयं तदनुकारिणी। यदाहुरभियुक्ताः—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्त्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवोद्दण्डपादो भवान्याः॥

"नटेश्वर चिदम्बर के अनुकरण में (ये नटेश्वरी) हैं। आदरणीय पुरुषों ने कहा है— अपने स्वामी के नृत्य के अनुकरण में उठे हुए, कमल की तरह सुन्दर भवानी के चरण की जय हो। यह कमल अपने शरीर के स्वच्छ लावण्य की वापी में उत्पन्न हुआ है। जंघा इस कमल का काण्ड है और उरु नाल है। नख से छिटकती हुई किरणें केसर हैं। तुरत लगे हुए अलक्तक की प्रभा नूतन पत्र हैं और बजते हुए नूपुर भौंरे हैं।"

चिदम्बर में नटराज का मन्दिर और मूर्त्ति, विश्वव्यापी महानृत्य का स्थूल अनुकरण-मात्र है। चित्-अम्बर का अर्थ है चेतना का अवकाश और पिण्डरूप में यह मानव-हृदय की चेतना है, जहाँ विभु का नृत्य होता रहता है। जहाँ शिव हैं, वहाँ शिवा हैं और जहाँ शिव का नृत्य है, वहीं शिवा का भी नृत्य है, अर्थात् शिव-शिवा का नृत्य एक वस्तु है।

त्रिपुरा का एक नाम 'महाताण्डवसाक्षिणी' है[1]। इसपर सौभाग्यभास्करभाष्य इस प्रकार है :

महाकल्पे महाप्रलये यन्महेश्वरस्य महाताण्डवं विश्वोपसंहारादात्मैकशेषसमुद्भूतानन्दकृतं तत्कालेऽन्यस्य कस्याप्यभावादियमेव साक्षिणी। तदुक्तं पञ्चदशीस्तवे—

कल्पोपसंहरणकल्पितताण्डवस्य
देवस्य खण्डपरशोः परभैरवस्य।
पाशाङ्कुशैक्षवशरासनपुष्पबाणा
सा साक्षिणी विजयते तव मूर्तिरेका॥ इति।
एषा संहृत्य सकलं विश्वं क्रीडति संक्षये।
लिङ्गानि सर्वजीवानां स्वशरीरे निवेश्य च॥ इति देवीभागवते।[2]

महावासिष्ठेऽपि निर्वाणप्रकरणोत्तरार्द्धे एकाशीतितमे सर्गे शताधिकैः श्लोकैरद्भुतमतिभयङ्करं नृत्यमुभयोर्निर्वर्ण्योपसंहृतम—

डिम्बं डिम्बं सुडिम्बं पच-पच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्त्याः शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरः शेखरं तार्क्ष्यपक्षैः।
पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाशृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या॥ इति।[3]

---

१. ललितासहस्रनाम, श्लोक १०८

२. लिङ्ग—गति, अस्तित्व। लिङ्ग और आत्मा का एक ही अर्थ है। लिगि गतौ—लिङ्गति गच्छति। अत् गतौ—अतति गच्छति।

३. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करव्याख्या; बम्बई, शाके १८५७; पृ० ७२

"महाकल्प, अर्थात् महाप्रलयकाल में, महेश्वर का महाताण्डव, जो विश्व को समेटकर अकेला रहने के आनन्द से किया जाता है, उस समय दूसरे किसी के नहीं रहने के कारण, यही देवी साक्षिणी रहती है।" यही पञ्चदशी स्तव में कहा है :

"देव, खण्डपरशु, परभैरव, सृष्टि को समेटने के लिए ताण्डव नृत्य करते हैं, उस समय पाश, अङ्कुश, इक्षुधनुष और बाणवाली तुम्हारी वह एक मूर्ति साक्षिणीरूप से बनी रहती है।"

प्रलयकाल में यह सारे विश्व और सभी जीवों की गति (लिङ्ग) को समेटकर और अपने शरीर में रखकर खेलती रहती है। ऐसा देवीभागवत में है।

"महावासिष्ठ में भी निर्वाण-प्रकरण के उत्तरार्द्ध में एकाशीतितम (८१) सर्ग में, सौ से भी अधिक श्लोकों में, दोनों (भैरव-भैरवी) के अति भयंकर नृत्य का वर्णन करके, इसका उपसंहार इस प्रकार किया है :

"गरुड़पक्ष का मुकुट और हृदय पर मुण्डमाला धारण कर, नाचती हुई देवी के बाजों के शब्द से, सहसा डिम् डिम् डिम्, पच पच, झम् झम् झम् शब्द होता है। रक्त और आसव से पूर्ण यमराज के महामहिष के शृङ्ग को हाथ में लेकर, प्रलय के कारण प्रसन्न, कालरात्रि के साथ नृत्य करते हुए वन्द्यमान भैरव रक्षा करें।"

इसका सारांश यह हुआ कि सृष्टिकाल में शिव-शिवा परस्पर साक्षी बनकर नृत्य करते हैं, अर्थात् जब शिव नृत्य करते हैं, तब शिवा साक्षिणी रहती हैं और जब शिवा नृत्य करती हैं, तब शिव साक्षी रहते हैं, किन्तु प्रलयकाल में, परभैरव सृष्टि को समेटकर आत्मसात् करते जाते हैं, और नाचते जाते हैं। अन्त में सब कुछ लेकर महाशक्ति में विलीन हो जाते हैं, और त्रिशक्ति (पाशांकुशादि) को आत्मसात् करके, केवल वह 'एका' अपना साक्षी आप बनकर, बनी रहती है।

इस नित्य नृत्य का एक और रूप है। निष्क्रिय ब्रह्म साक्षी रूप से जब आसन के नीचे (जैसे बगला और त्रिपुरा-विग्रह में) अथवा पैरों के नीचे (जैसे काली और तारा-विग्रह में) पड़ा रहता है तो शक्ति, त्रिगुणात्मिका सृष्टि के रूप में नृत्य करती रहती है, और प्रलयकाल में सब कुछ समेटकर, साकार सृष्टि को निराकार में लीन कर, शिव के रूप में स्थिर हो जाती है। यही शिव-शिवा वा शक्ति-शिव अथवा केवल शक्तिमान् या शक्ति का नृत्य है। यह तन्त्र का कादिमत है। यह ब्रह्म का स्वभाव है। इसलिए नृत्य हो, रास हो, अथवा ताण्डव हो, यह विभु की नित्य लीला की कल्पना और उसका अनुकरण है। नटवर के आनन्द के स्फोट महारास में, पार्वती के कोमल लास्य में, नटराज के प्रचण्ड ताण्डव में और कालरात्रि के भयङ्कर नृत्य में, एक ही वस्तु के नाना रूप हैं। इसलिए महाशक्ति, स्वयं नर्त्तकी है, नर्त्तकप्रिया है, स्वयं नाट्यविद्या है, नृत्य इसको बड़ा प्यारा लगता है, यह नृत्य-वती है, नृत्यगीत में निवास करती है (परायणा), नृत्येश्वरी है और सर्वोपरि नृत्यरूपा है, चाहे वह धूमावती के विकराल रूप में हो अथवा प्रचण्ड चण्डिका (छिन्ना) के भीषण-रम्य रूप में हो। यही कारण है कि नाट्याचार्य (नटनायक) कला में सिद्धि प्राप्त करने के लिए अभ्यास के आदि और अन्त में नटेश-नटेशी की आराधना करते हैं। भक्तों के लिए यह मोक्षदायक आराधना का साधन है, ब्रह्मज्ञानियों के लिए यह निराकार का साकार रूप है, और विलासियों के विलास का प्रधान साधन है।

भारतीय संस्कार में नृत्य, तत्वज्ञान और ईशभक्तिका एक मनोहर और कलापूर्ण रूप और साधन है। उसे बारम्बार स्मरण करने के लिए फूल, चन्दन, प्रतिमा, चित्र, शतनाम-सहस्र-नामादि का पाठ, कीर्त्तन आदि की तरह नृत्य भी उसकी आराधना का एक मुख्य उपादान है। इसलिए देव-देवियाँ, और उनके भक्त, सभी नाचते हैं, और श्रीचक्र की तरह विश्व-नृत्य-रूप महानृत्य की लीला का संक्षिप्त रूप, अपने अन्तर में देव-मन्दिरों में और समाज में प्रस्तुत करते हैं।

नृत्य के विषय में कालिदास ने भारतीय भावनाओं का जो रूप अङ्कित किया है, वह यथार्थ है। वे कहते हैं—

> देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
> रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
> त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
> नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् ॥

"मुनि कहते हैं कि (नृत्य) देवताओं का प्रत्यक्ष और शान्त यज्ञ है। रुद्र ने उमा से मिलकर इसे अपने अङ्ग में ही (ताण्डव और लास्य के रूप में) दो भागों में विभक्त कर दिया। इसमें त्रिगुण से उत्पन्न नाना रसवाले लोकचरित दिखाई पड़ते हैं। भिन्न रुचि-वाले लोगों को, नाना प्रकार से प्रसन्न करनेवाला केवल एक नाट्य है।"[1]

३१. कुण्डलिनी

शाक्तप्रतीकों के सम्बन्ध में कुण्डलिनी का प्रसंग बारम्बार आया है। इसलिए इसका संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है।

कुण्डल का अर्थ है घेरा, लपेट[2]। जिसकी लपेट के भीतर सारी सृष्टि है उसे कुण्डली वा लपेटवाला कहते हैं। परब्रह्म कुण्डली है, जिसकी लपेट में अथवा जिसके अन्तर्गत सारी सृष्टि है। पराशक्ति के लिए जब इस शब्द का व्यवहार होता है, तब इसे कुण्डलिनी[3] कहते हैं।

---

१. नटेश्वरी के नृत्य के विवरण के लिए परिशिष्ट ९ और १० में नियति-नृत्य और कालरात्रि-नृत्य का विवरण देखिए।

२. क. कुण्डलं कर्णभूषायां पाशेऽपि वलयेऽपि च। मेदिनी।

ख. कुण्डलिनी के विस्तृत विवरण के लिए षट्चक्रनिरूपण और सर जॉन उडरफ का Serpent Power पढ़ना चाहिए।

३ सूक्ष्मरूपमपि सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमभेदात्त्रिविधं पञ्चदशीविद्या कामकलाक्षरं कुण्डलिनी च इति भेदात्। कामकलायां तूर्ध्वबिन्दुरेकस्तदधस्तिर्यग्बिन्दुद्वयं तदधः सार्द्धकलेति तयोऽन्यथा गुरुमुखैकवेद्याः। त एव विद्याकूटतया स्थूलरूपमुखाद्यवय-वात्मना च परिणता इति सूक्ष्मतरं कुण्डलिन्याख्यं सूक्ष्मतमं वररूपपरं नामद्वयं समष्टिभेदेनेति नाथचरणागमे विस्तरः। एवं ब्रह्माण्डान्तर्गतरूपमुक्त्वा पिण्डान्तर्गतं कुण्डलिनाख्यरूपं वक्तुमुपक्रमते। इत्यादि।

—ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करभाष्य; बम्बई, १९३५; पृ० ५२

कुण्डली वा कुण्डलिनी के दो रूप हैं : ब्रह्माण्डान्तर्गत और पिण्डान्तर्गत। ब्रह्माण्ड में काम करनेवाले आकाश और ईश्वर की तरह अणु-अणु में परिव्याप्त विश्वशक्ति ब्रह्म है। पिण्ड अथवा छोटे-छोटे शरीरों के भीतर काम करते समय इसी का नाम कुण्डली वा कुण्डलिनी शक्ति हो जाता है। जैसे आकाश में फैला हुआ वायु विश्ववायु है। वही जब साँस के रूप में शरीर में काम करता है तो वह पिण्डवायु वा साँस कहलाता है। पराशक्ति भी इसी तरह शरीरों में काम करते समय पिण्ड कुण्डलिनी बन जाती है।

विश्व के रूप में जिस प्रकार ब्रह्म का निष्क्रिय और सक्रिय रूप काम करता है, उसी प्रकार उसका सक्रिय और निष्क्रिय रूप पिण्ड में भी काम करता है। इसका चंचल अथवा सक्रिय रूप कुलकुण्डलिनी अथवा कुण्डलिनी शक्ति है, जिसकी क्रियाओं का आधार अथवा निवास मूलाधार-चक्र है। इसी का दूसरा नाम कुल है। निश्चल शिव की स्थिति सहस्रार में है। इसका दूसरा नाम अकुल है। शक्ति कुल से अकुल की ओर और अकुल से कुल की ओर अर्थात् मूलाधार से सहस्रार की ओर और सहस्रार से मूलाधार की ओर आती-जाती रहती है और सारे शरीर में प्राणशक्ति भरकर इसे क्रियाशील बनाती रहती है। इस क्रिया का विवरण इस प्रकार दिया गया है :

अकुलकुलमयन्ती चक्रमध्ये स्फुरन्ती
मधुरमधु पिबन्ती साधकान् तोषयन्ती।
दुरितमपहरन्ती कण्टकान् चर्वयन्ती
जयति जय ब्रुवन्ती सुन्दरी क्रीडयन्ती॥[1]

"अकुल और कुल के बीच आती-जाती हुई, चक्रों के बीच स्पन्दन उत्पन्न करती हुई, मधुर मधु को पीती हुई, साधकों को संतुष्ट करती हुई, पाप का अपहरण करती हुई, काँटों (विघ्नों) को चबाती हुई और जयति-जय बोलती हुई कुण्डलिनी (सुन्दरी) खेलती रहती है।"

पिण्ड में काम करने के लिए शरीर में शक्ति के छह केन्द्र हैं। इन्हें चक्र कहते हैं। इनकी स्थिति मेरुदण्ड के भीतर है। जहाँ-जहाँ चक्र हैं, वहाँ मेरुदण्ड के बाहर, उन चक्रों के सामने नसों (nerves) के गुच्छे हैं, जिन्हें आजकल के यूरोपीय पद्धति के चिकित्सक प्लेक्सस (plexus) कहते हैं। शक्ति, केन्द्र (चक्र) से निकलकर इन गुच्छों में प्रवेश

"(कुण्डलिनी के) सूक्ष्म रूप के भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम—ये तीन भेद होने के कारण, पञ्चदशी विद्या, कामकलाक्षर और कुण्डलिनी—ये तीन भेद होते हैं। कामकला में एक बिन्दु ऊपर, उसके नीचे दो बिन्दु आमने-सामने और उसके नीचे ऊर्ध्वकला—ये तीन अवयव हैं। इन्हें गुरुमुख से जानना चाहिए। वे विद्याकूट हैं। इसलिए उनके स्थूल रूप मुखादि अवयव बन जाते हैं और समष्टि-भेद से इसके दो नाम होते हैं। सूक्ष्मतर रूप का नाम कुण्डलिनी और सूक्ष्मतम का नाम वररूपपर होता है। नाथचरणागम में विस्तार से इसका वर्णन किया गया है। इस प्रकार ब्रह्माण्डान्तर्गत रूप को कहकर पिण्डान्तर्गत कुण्डलिनी नामक रूप को कहने का उपक्रम किया जाता है। इत्यादि।

१. आनन्दस्तोत्रम्, श्लोक २५

कर शारीरिक क्रियाओं का संचालन करती है। इनकी स्थिति बिजली की बैटरी और धातु के तारों की तरह है। ये केन्द्रस्थान वा चक्र बैटरी की तरह और ये नसों के गुच्छे तारों के जाल की तरह हैं। अन्तर इतना ही है कि ये चक्र शुद्ध चेतनामय हैं और बैटरियाँ निर्जीव हैं।

सृष्टि का प्रतीक पद्म है और इन चक्रों की आकृति भी कमल के फूलों-जैसी कही जाती है। इनमें शक्ति भरी रहती है। इनके पत्तों की संख्या पचास है और प्रत्येक पत्र से, स्पन्दन के कारण, भिन्न प्रकार की ध्वनि निकलती है, जिसे बीज वा मातृकावर्ण कहते हैं। इनकी संख्या भी पचास है। कण्ठकूप के सामने रीढ़ के भीतर विशुद्ध चक्र है, जिसमें सोलह दल हैं। इसके प्रत्येक दल से एक-एक स्वर की ध्वनि निकलती रहती है। मूलाधार में त्रिकोण के भीतर स्वयम्भूलिङ्ग है[1]। यह जलावर्त्त की तरह है, जिसका खोखला मुँह नीचे की ओर और रन्ध्र ऊपर की ओर चला गया है। इसपर अपनी साढ़े तीन लपेटों से इसके मुँह को ढाँपकर कुण्डलिनी शक्ति पड़ी हुई है। यह आठ शूलों से घिरी हुई चतुष्कोण धरातत्त्व पर पड़ी हुई है। यह विश्व में शक्ति के त्रिगुण की लपेट का संक्षिप्त रूप है। आधी लपेट तुरीय का रूप अर्द्धमात्रा है। साधक, यौगिक और तान्त्रिक क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति को जगाते हैं।[2]

यह रीढ़ के भीतर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सभी चक्रों से होती हुई अकुल अर्थात् सहस्रार में पहुँचती है और आनन्द की धारा बहा देती है।[3] प्रत्यक्ष जगत् से सागर और तरंग का उदाहरण लिया जा सकता है। अनन्त सागर अपनी स्थिरता में पड़ा हुआ है। लहर उठती है और अपना काम कर जब सागर में मिल जाती है तो सागर के आनन्दमय होने के कारण आनन्द में विभोर हो जाती है। यह आनन्द-प्रवाह सुधा की धारा है।

तन्त्र में सिद्धि की प्रधान क्रिया कुण्डलिनी का उत्थान है। यह पराशक्ति की प्रत्यक्ष साधना है। इसलिए योगी और तान्त्रिक सभी इसका समान रूप से उपयोग करते हैं। पराशक्ति को काली, तारा, त्रिपुरा, वाक् आदि के रूप में कुण्डलिनी कहा गया है।

---

१. यन्त्र का स्मरण कीजिए। स्वयम्भूलिङ्ग बिन्दु है, त्रिकोण त्रिशक्ति है (त्रि) वृत्त (त्रि) गुणात्मिका प्रकृति है। अष्टशूल अष्टभिन्नाप्रकृति है और चतुष्कोण स्थितितत्त्व (भूतत्त्व) है।

२. इसी को तान्त्रिक मन्त्रचैतन्य और वेदान्ती आत्मबोध कहते हैं।

३. महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसि॥
सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपचं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी॥
—सौन्दर्यलहरी, श्लोक ९—१०

कुण्डलिनी-रूप में पराशक्ति के ही जीवशक्ति, प्राणशक्ति आदि नाम हैं :

या सा देवी पराशक्तिः प्राणवाहा व्यवस्थिता ॥
विश्वान्तः कुण्डलाकारा सा साक्षादत्रवर्त्तिता ।
तत्त्वानि तत्त्वदेव्यश्च विश्वमस्मिन्प्रतिष्ठितम् ॥[1]

"वही देवी पराशक्ति प्राणप्रवाह के रूप में व्यवस्थित है। विश्व के भीतर कुण्डलाकार में वह प्रत्यक्षरूप में वर्त्तमान है। सभी तत्त्व और तत्त्व की देवियाँ इसी विश्व में स्थित हैं।"

तन्त्रराज में इसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है।

मूलाधारस्थवह्न्यात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता ।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी ॥
प्रसुप्तभुजगाकारा त्रिरावृत्ता महाद्युतिः ।
मायाशीर्षा नदन्तीं तामुच्चरत्यनिशं खगे ॥
सुषुम्णामध्यदेशे सा यदा कर्णद्वयस्य तु ।
पिधाय न शृणोत्येनं ध्वनिं तस्य तदा मृतिः ॥[2]

"मूलाधार में आत्मतेज की आग है। उसी का नाम है जीवशक्ति, कुण्डल, प्राणरूप और तैजसी। सोये हुए साँप की तरह वह तीन बार लिपटी है और महाप्रकाशवाली है। माया उसका शिर है। दिन-रात सुषुम्णा के भीतर शून्य में शब्द करती रहती है। दोनों कान बन्द कर लेने पर यदि उसकी ध्वनि न सुनाई पड़े तो उस मनुष्य की उसी क्षण मृत्यु हो जायगी।"

यह कुण्डलिनी नामक प्राणशक्ति शरीर के प्रत्येक अणु में परिव्याप्त है :

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम् ।
यथा तथैव गात्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम् ॥[3]

"फूल में जिस प्रकार गन्ध, तिल में तेल, देह में जीव और जल में अमृत है, उसी प्रकार शरीरों में कुल है।"

यह अकुल, अर्थात् निष्क्रिय तथा प्रकाशस्वरूप शिव की कुल, अर्थात् सक्रिय तथा विमर्शस्वरूप शक्ति है। इसलिए त्रिपुरा, छिन्नमस्ता आदि की तरह इसे विद्युत्कोटि प्रभावाली और कभी रक्तवर्णवाली कहा गया है। कुण्डलिनी का ध्यान इस प्रकार है :

रक्ताम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरूढा कराब्जैः
पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवगुणमथ चाप्यंकुशं पञ्चबाणान् ।
बिभ्राणासृक्कपालं त्रिनयनलसिता पीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः ॥

"लाल सागर पर उतराते हुए लाल कमल पर बैठी हुई, करकमलों में पाश, इक्षु की

---

१. तन्त्रालोक ; श्रीनगर, Vol. XII, 1939; आह्निक ३०, श्लोक ४३-४४
२. ललितासहस्रनाम, सौभाग्यभास्करभाष्य; बम्बई, १९३५; पृ० ५५ में उद्धृत।
३. तत्रैव, आह्निक ३५, श्लोक ३४

डोरीवाला धनुष, अंकुश और पाँच बाण, रक्त और कपाल लिये हुए, तीन नेत्र, पुष्ट स्तन और बाल सूर्य की तरह वर्णवाली परा, प्राणशक्ति हमारे लिए सुखदा हों।"

स्पष्ट है कि लाल रंग विमर्श, अर्थात् निराकार ब्रह्म का साकार रूप है। कुण्डलिनी के रूप और तत्त्व तथा महाविद्याओं के रूप और तत्त्व में कोई भेद नहीं है।

३२. जैन-प्रतीक

पशु-हत्या से सम्पर्क रखनेवाले वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी जैन और बौद्धमत हैं। ऐसा अनुमान होता है कि इस प्रकार के यज्ञों के विरोध करनेवाले बहुत-से लोग या लघु सम्प्रदाय होंगे, जिनका प्रथम सुसंघटित रूप जैनमत के रूप में प्रकट हुआ।[1]

तर्कविद्या के शास्त्रानुसार सनातनियों के विचार छह प्रकार के हैं। ये षड्दर्शन हैं। अपने-अपने तर्कों के अनुसार जैनों और बौद्धों के भी अपने दार्शनिक सिद्धान्त हैं, जो षड्दर्शन के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। तर्क के लिए ये अपने-अपने स्थानों पर खम ठोंककर डटे हैं और अपने विचार से सभी ठीक हैं, किन्तु आत्मबोध की साधनाओं में सभी एकाकार हो जाते हैं और तत्त्वार्थ में केवल नाम का भेद रहने के कारण, प्रतीकों के रूप-निर्माण में इनका भेद मिट जाता है, और वैदिक, जैन तथा बौद्ध-प्रतीक एक-से बन जाते हैं।

सांख्य की तरह जैन-दर्शन भी एक ईश्वर को नहीं मानता। किन्तु यह एक अनादि और अनन्त तत्त्व को मानता है, जिसे यह 'द्रव्य' कहता है। इसे ही 'केवलतत्त्व' और 'अर्हन्' कहते हैं। यह वेदों के 'एक' अर्हन् और 'बृहद्तं सत्यम्' वेदान्त का कूटस्थ ब्रह्म, शैवों का शिवतत्त्व, शाक्तों का परम शिव और पराशक्ति, और बौद्धों की 'शून्यता' और 'वज्र' है।[2] प्रतीक-निर्माण में इस तत्त्व के आधार पर, कल्पना खेल दिखलाने लगती है और साधक उन रूपों को अपनी साधना द्वारा प्रत्यक्ष कर, भोग और मोक्ष प्राप्त करता है।

ये जीव को चेतन और उसके बन्ध-मोक्ष के सिद्धान्तों को और दर्शनों की तरह मानते हैं। इसलिए इनकी आध्यात्मिक साधनाओं में औरों से कोई अन्तर नहीं होता।

जिन शब्द, जि (जयति) धातु में नक् प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका अर्थ है विजयी अर्थात् जिसने काम-क्रोधादि विषय-वासनाओं को जीत लिया है। यही कार्य, शाक्त अन्तर्याग में बलि द्वारा और बौद्ध-वैष्णवादि अष्टाङ्ग योग द्वारा, करते हैं। जैन साधनाओं में अष्टाङ्ग योग को साङ्गोपाङ्ग अपना लिया गया है। शाक्तों के वीर और जैनों के महावीर अर्थात् महाविजयी की भावना में कोई अन्तर नहीं है।

कोशकारों ने बुद्ध, शङ्कर और जिनेन्द्र का नाम सर्वज्ञ कहा है, इनमें कोई भेद नहीं रहने दिया।

---

१. यह वेद-प्रकरण में अधिक स्पष्ट होगा।

२. शून्यादि की व्याख्या के लिए परिशिष्ट १३ देखिए।

सर्वज्ञस्तु जिनेन्द्रे स्यात्सुगते शङ्करेऽपि च ।[1]

"जिनेन्द्र, सुगत (बुद्ध) और शङ्कर के लिए सर्वज्ञ का प्रयोग होता है ।"

जैनमत में चौबीस तीर्थङ्कर हैं। ये ब्रह्मभूत महापुरुष हैं। इन्होंने मनुष्य रूप में माता-पिता से जन्म ग्रहण किया और तपश्चर्या द्वारा जिनत्व प्राप्त किया ।[2]

तीर्थङ्कर शब्द के अर्थ अनेक प्रकार से किये जाते हैं।[3] १. जो संसार-सागर से पार होने के उपाय का निर्माण करें। २. तीर्थ अर्थात् धर्म का जो स्वरूप निर्णय करें। ३. तीर्थ अर्थात् धर्म का यथार्थ स्वरूप जिनके करतल में है। सारांश यह है कि जो समर्थ ब्रह्मभूत महापुरुष दूसरों को भी मार्ग दिखला कर संसार-सागर के पार लगा दें, उन्हें तीर्थङ्कर कहते हैं ।

जैन, अवतारों को नहीं मानते । सनातनियों के अवतार की तरह उनके तीर्थङ्कर ही भवाम्बुधिमग्न जीवों का उद्धार करते हैं ।

जैनों ने भी वैशेषिक और न्याय की तरह, धर्म को, उत्थान की ओर प्रेरित कर उन्नति को बनाये रखनेवाली शक्ति के रूप में ग्रहण किया है।[4] धर्म की इस भावना का, अत्यन्त व्यापक रूप में, भगवान् बुद्ध ने प्रचार किया। सारनाथवाले अशोकस्तम्भ के धर्मचक्र के २४ अरों में २४ तीर्थङ्करों की भी भावना है। यह एक प्रकार से सर्वमान्य सिद्धान्त माना जाता है ।

तीर्थङ्करों के विग्रह में हृदय पर श्रीवत्स, अर्थात् चक्रचिह्न रहता है। यह धर्मचक्र है। इनके आसन के नीचे के सिंह और वृषभ, बुद्ध, दुर्गा और शिव के वृषभ और सिंह की तरह धारणधर्मा धर्म के प्रतीक हैं। इनकी प्रतिमाओं के पार्श्व में बुद्ध और छिन्नमस्ता की तरह दो शासन देवता (यक्ष अथवा गन्धर्व, देव या देवी के रूप में) रहते हैं। इन रूपों के अन्तर्गत-सिद्धान्त एक हैं। इनके विग्रह के साथ त्रिशूल और सभी विग्रहों के ऊपर त्रिछत्र हैं। ये त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) के सिद्धान्त हैं, जो सभी भारतीय सम्प्रदायों में समान श्रद्धा से माने जाते हैं ।

पाठशालाओं में विद्यार्थियों को सिखाया जाता है कि जैन और बौद्ध वेदानुयायी सनातनियों के कट्टर शत्रु और विरोधी हुए। किसी ने एक पंक्ति यह भी बना दी कि प्राणसंकट भी हो, तब भी प्राणरक्षा के लिए जैन मन्दिर में न जाय। किसने किस परिस्थिति में यह

---

१. अमरकोष । व्याख्यासुधाव्याख्या। बम्बई । शाके १८५८ । पृ० ७ ।

२. श्री अरविन्द के मत से ऋग्वेद के ऋभुगणों से इस मनुष्यत्व से देवत्व की प्रक्रिया का निकट सम्बन्ध है। यह वेदप्रकरण में स्पष्ट किया जायगा ।

३. क. येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
   ख. तीर्थं धर्मं करोति इति तीर्थङ्करः । स्वतीर्थां (?) नामादिकर्त्तारः तीर्थङ्कराः ।
   ग. तरन्ति येन संसारसागरमिति तीर्थं प्रवचनं तद्व्यतिरेकादेहसंघस्तीर्थं तत्करणशीलत्वात तीर्थङ्कराः ।
   —Jain Iconography. B.C. Bhattacharya. Lahore. 1939. Page 16

४. धर्मप्रकरण देखिये ।

पंक्ति बनाई, यह कहना कठिन है। दार्शनिक सिद्धान्त के विचार से आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों में परस्पर जितना अन्तर है, इनका बौद्ध और जैन दर्शनों के सिद्धान्तों से भी उतना ही और वैसा ही अन्तर है, किन्तु आध्यात्मिक साधनाओं के सिद्धान्त और व्यवहार में सभी एक हैं। और इनके आधार पर बने हुए प्रतीकों में भी मूलतः कोई अन्तर नहीं है। जैन देव-देवियों के नाम से यह स्पष्ट हो जाता है।

कुछ जैन देवियों के नाम इस प्रकार हैं—कंकाली, काली, महाकाली, चामुण्डा, ज्वालामुखी, कामाख्या, कपालिनी, भद्रकाली, दुर्गा, ललिता, गौरी, सुमंगला, रोहिणी, त्रिपुरा, कुरुकुल्ला, चन्द्रवती, यमघण्टा, शान्तिमुखा, गणेश्वरी, वैताक्षी, कालरात्रि, वैताली, भूतडामरी, विरूपाक्षी, चण्डी, वाराही, यमदूती, भुवनेश्वरी इत्यादि।[1]

जैन देवियों में श्रुतदेवी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रुतदेवी[2] सरस्वती का ही एक नाम है। जिस प्रकार श्रौतमत वाले वसन्त पञ्चमी (माघ शुक्ल पञ्चमी) के दिन सरस्वती की विशेषरूप से उपासना करते हैं, उसी तरह जैन ज्ञानपञ्चमी (कार्तिक शुक्ल पञ्चमी) के दिन श्रुतदेवी की विशेष रूप से उपासना करते हैं।

श्रुतदेवी का एक आवाहन-मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ ह्रीं नमो भगवति ब्रह्माणि, वीणापुस्तकपद्माक्षसूत्रहंसवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठीपूजने आगच्छ ॥[3]

"ॐ ह्रीं भगवति ब्रह्माणि आपको प्रणाम। श्वेतवर्ण, वीणा, पुस्तक, पद्म, अक्षसूत्र और हंसवाहनवाली, षष्ठी-पूजन में यहाँ आइये।"

श्वेताम्बरों का, श्रुतदेवी का ध्यान इस प्रकार है—

श्वेतवर्णा श्वेतवस्त्रधारिणी हंसवाहना श्वेतसिंहासनासीना चतुर्भुजा श्वेताब्जवीणालंकृतवामकरा पुस्तकमुक्ताक्षमालालंकृतदक्षिणकरा।

"श्वेतवर्णवाली, श्वेतवस्त्रधारिणी, हंसवाहना, श्वेतसिंहासन पर बैठी हुई, चार भुजाओंवाली, बाएँ हाथों में श्वेतकमल और वीणा, और दाहिने हाथों में पुस्तक और मुक्ता की अक्ष (वर्ण) माला।"

इनके मयूरवाहन का भी विधान है—

ॐ ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः इति वागधिदेवतां स्थापयेत्।[4]

"ॐ ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः इस मन्त्र से वाग्देवता की स्थापना करे।"

श्रुति का अर्थ है, वेद। श्रुतदेवी का अर्थ होता है वेद की अधिष्ठात्री देवी। वेद का प्रतीक पुस्तक भी इनके हाथ में है। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्धों की तरह पशुहत्या-वाले वैदिक कर्मकाण्ड से जैनों का विरोध था, वेदों की ब्रह्मविद्या से नहीं। ब्रह्मविद्या के सिद्धान्त और व्यवहार में ये सभी एक हैं।

---

१. **Jain Iconography. B. C. Bhattacharya. Lahore, 1939. Page 23.**

२. श्रुतदेवी के विशेष विवरण के लिए उक्त ग्रन्थ का **Chap. VI** देखना चाहिए।

३. तत्रैव। पृ० १६३ में आचारदिनकरप्रतिष्ठाविधि से उद्धृत।

४. तत्रैव। पृ० १६५ में आचारदिनकरप्रतिष्ठाकल्प से उद्धृत।

५० तत्रैव ।

श्रुतदेवी के १६ भेद कहे गये हैं १. प्रधाना सरस्वती या श्रुतदेवी। २. रोहिणी या विद्यादेवी। ३. प्रज्ञप्रिया वज्रश्रृङ्खला। ५. वज्राङ्कुशा। ६. अप्रतिचक्रा या जाम्बुनदा। ७. पुरुषदत्ता। ८. काली। ९. महाकाली। १०. गौरी। ११ गान्धारी। १२. महाज्वाला या ज्वालामालिनी। १३. मानवी। १४. वैरोटी। १५. मानसी। १६. महामानसी।[1]

दो देवियों के ध्यान नीचे दिये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि शैव-शाक्तादि देवियों में और इनमें कितना भेद है!

चक्रेश्वरी का ध्यान इस प्रकार है—

वामे चक्रेश्वरी देवी स्थाप्या द्वादश षड्भूजा।
धत्ते हस्तद्वये वज्रे चक्राणि च तथाष्टसु।
एकेन बीजपूरं तु वरदा कमलासना।
चतुर्भुजाथवा चक्रं द्वयोर्गरुडवाहा।[2]

'छः अथवा बारह भुजाओंवाली चक्रेश्वरी देवी की स्थापना करनी चाहिए। इनके दो हाथों में वज्र और आठ में चक्र रहते हैं। एक में दाडिम रहता है। और एक वरद (मुद्रा में) रहता है। कमल पर आसन है। चक्र भी रह सकता है। चतुर्भुजा मूर्त्ति भी हो सकती हैं। दोनों में वाहन गरुड रहता है।"

श्वेताम्बर, चक्रेश्वरी का ध्यान, अष्टभुजा के रूप में करते हैं।

तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ की यक्षिणी का नाम अम्बिका है। उसका ध्यान इस प्रकार है—

तत्तीर्थजन्मा स्वर्णकान्तिः सिंहवाहना आम्रलुम्बिपाशसंयुक्तदक्षिणकरद्वया पुत्राङ्कुश-सहितवामकरद्वया कूष्माण्डीति द्वितीयनामधारिणी अम्बिका प्रभोः शासनदेवी समभवत्।[3]

"उस तीर्थ में उत्पन्न अम्बिका प्रभु की शासनदेवी हुईं। इनकी सोने-जैसी कान्ति है, वाहन सिंह है, दाहिने दोनों हाथों में आम का गुच्छा (लुम्बि ?) और पाश है, बायें दोनों हाथों में पुत्र और अङ्कुश हैं और इनका दूसरा नाम कूष्माण्डी है।"

चक्रेश्वरी की अनेक भुजाओं तथा वज्र, चक्र, बीजपूर, कमलासन, गरुडवाहन, और अम्बिका के सिंह, पाश, अङ्कुशादि में, तथा शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध देवियों की भुजाओं और आयुध के रूप और सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है।

श्री और लक्ष्मी की, धनतेरस को, विशेष रूप से पूजा होती है।

इनके कुछ देवों और देवयोनि के नाम ये हैं—

असुर, नाग, सुपर्ण, उदधि, अग्नि, दिग्वात, भूत, राक्षस, यक्ष, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, नवग्रह, दिक्पाल, क्षेत्रपाल, भैरव इत्यादि।[4]

---

१. इनके विवरण के लिए **Jain Iconography, B.C. Bhattacharya Lahore, 1939** का **Chapter VI** देखना चाहिए।

२. तत्रैव। वसुनन्दी के प्रतिष्ठासारसंग्रह से पृ० १२१ में उद्धृत।

३. तत्रैव। गुण विजयगणि के नेमिनाथचरित से पृ० १४२ में उद्धृत।

४. तत्रैव। पृ० २४।

इनके दिक्पाल हैं—इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्म और नाग। नाग, पाताल या अधोदेश के दिक्पाल हैं।[1]

वैदिक और तान्त्रिक कर्मकाण्ड में अधोदेश के दिक्पाल अनन्त (विष्णु) हैं।

जैननाग का ध्यान इस प्रकार है—

नागं श्यामवर्णं पद्मवाहनं उरगपाणिञ्चेति।[2]

"नाग को कमल के ऊपर, काले रंग का (बनावे) और हाथ में सर्प रहे।"

इस ध्यान में शेषशायी विष्णु के शेष और ब्रह्म का कमल एक साथ दिखलाया है। यह सृष्टि में गति-शक्ति की कल्पना है।

ब्रह्मा का ध्यान इस प्रकार है—

ॐ नमो ब्रह्मणे ऊर्ध्वलोकाधीश्वराय सर्वसुरप्रतिपन्नपितामहाय.........नाभिसम्भवाय चतुर्मुखाय हंसवाहनाय कमलसंस्थानाय पुस्तककमलहस्ताय॥[3]

ॐ ऊर्ध्वलोक के अधीश्वर, शरणागत सभी देवताओं के पितामह (विष्णु की) नाभि से निकले हुए, चार मुखवाले हंसवाहन, कमल पर बैठे हुए, हाथों में पुस्तक और कमलवाले ब्रह्मा को प्रणाम।"

जैनों के इस ब्रह्मा में और पौराणिकों के ब्रह्मा में कोई भेद नहीं है। दोनों एक हैं। जैन ब्रह्मा के हाथ में पुस्तक, वेद है, इससे स्पष्ट है कि जैन ब्रह्मस्वरूप वेद के विरोधी न थे और न हैं।

जैन ईशान का वर्णन इस प्रकार है—

ईशानं धवलवर्णं वृषभवाहनं त्रिनेत्रं शूलपाणिं।[4]

'ईशान, गौरवर्ण, वृषभवाहन, त्रिनेत्र और शूलपाणि (हों)।

ॐउमासमेतो वृषभाधिरूढो जटाकिरीटी फणिभूषिताङ्गः।
त्रिशूलहस्तप्रमथाधिनाथो गृह्णातु दुग्धान्नमिदं ससर्पिः॥
ॐ ईशान वास्तुदेवाय।[5]

"ईशान वास्तुदेव, जो उमासहित हैं, वृषभ पर चढ़े हुए हैं, जटा मुकुटवाले हैं, सर्पों से अलङ्कृत अङ्ग हैं, हाथ में त्रिशूल है, प्रेतों के स्वामी हैं, वे दूध और घीवाले इस अन्न को ग्रहण करें।"

श्वेतवर्णो वृषभवाहनः नीललोहितवस्त्रः चतुर्भुजः जयभृत् (?)
शूलचापकरद्वयेयाऽञ्जलिकश्च।[6]

"श्वेतवर्ण, वृषभवाहन, नीला और लाल रंगोंवाले वस्त्रवाला, चतुर्भुज, दो हाथों में शूल और धनुष और दो अंजलि-मुद्रा में।"

यहाँ श्वेत, नील और लोहित, इन तीन रंगों से त्रिगुण अभीष्ट है।

१. तत्रैव। पृ० १४८।
२. तत्रैव। पृ० १५७ में निर्वाणकलिका से उद्धृत।
३. तत्रैव। आचारदिनकर से उद्धृत।
४. तत्रैव। पृ० १५६। निर्वाणकलिका से उद्धृत।
५. तत्रैव। आचारदिनकरपूजाविधि से उद्धृत।
६. तत्रैव। आचारदिनकर से उद्धृत।

इसी प्रकार यदि और जैन देवताओं और उपदेवताओं पर विवरण, पूजा और पुरश्चरणपद्धति देखी जाय, तो यह कहना कठिन होगा कि ये पौराणिकों के देवगण हैं अथवा उनके शत्रु और विरोधी कहे जानेवाले जैनों के।

तृतीय तीर्थङ्कर श्रीशम्भवनाथ का शासनदेव या यक्ष, त्रिमुख और यक्षिणी प्रज्ञप्ति अर्थात् सरस्वती की तरह मयूरवाहिनी विद्यादेवी हैं। त्रिमुख का ध्यान इस प्रकार है—

त्रिनेत्रस्त्रिमुखः श्यामः षड्बाहुर्बर्हिवाहनः।
दक्षिणैर्नकुलधरः गदाभृदभयप्रदैः।
युगोवामैर्भुजैर्मातुलुङ्गदामाक्षसूत्रिभिः ॥[1]

"इनके तीन नेत्र और तीन मुख हैं, श्यामवर्ण है, छः हाथ हैं और वाहन मयूर है। दाहिने तीन हाथों में नकुल, गदा और अभय है और बायें में दाडिम, पाश और माला है।"

इस रूप में कार्तिकेय और शाक्त देवियों के प्रतीकों और आयुधों का सम्मिश्रण है। इनके सिद्धान्त पूर्ववत् हैं।

वैदिक और जैन प्रतीक के तुलनात्मक विचार से प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ और यक्ष गोमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऋषभनाथ या वृषभनाथ का नाम आदिनाथ भी है। ये जैनसम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। प्रत्येक जिन की माता ने इनके जन्म के पूर्व, स्वप्न[2] में कुछ-न-कुछ देखा था। यही स्वप्न में देखी हुई वस्तु उस जिन का लांछन[3] या चिह्न माना जाता है। धर्मचक्र भी[4] ऋषभदेव का एक विशिष्ट लांछन है। प्रत्येक जिन ने किसी-न-किसी वृक्ष के नीचे कैवल्यपद (केवल-ज्ञान) प्राप्त किया था। उस वृक्ष से उनका निकट सम्बन्ध माना जाता है। श्रीआदिनाथ का लांछन वृष और वृक्ष न्यग्रोध है। इनका यक्ष गोमुख और यक्षिणी चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा है।[5] इनके पार्श्वचर दो पुरुष, भरत और बाहुबली हैं।[6]

---

१. तत्रैव। पृ० ९७। हेमचन्द्र के सम्भवचरित्र से उद्धृत।

२. चतुर्दश स्वप्न के लांछन का विवरण इस प्रकार है—
गजो वृषो हरिः साभिषेकश्रीः स्रक्शशी रविः। महाध्वजः पूर्णकुम्भः पद्मसरः सरित्पतिः।
बिमानं रत्नपुञ्जश्च निर्धूमोऽग्निरितिक्रमात्। ददर्शस्यामिनी स्वप्नावमुखे प्रविशतस्तदा॥
पूर्ववत्। त्रिषष्टिशलाका और उत्तरपुराण से पृ० ५१ में उद्धृत।

३. क. चौबीस तीर्थङ्कर के २४ लांछन हैं।
देखिये—**Brahma and Buddha. Helmuth. V. Glasenapp. Berlin.** पृ० १७९।
ख. वसह गय तुरय वानर कुंचो कमलं च सत्थियो चंदो। मयर सिरिवच्छ गण्डय महिस वराहोय सेणो य॥ वज्जं हरिणो छगलो नंदावत्तो य कलस कुम्भो य। नीलुप्पल संख फनी सीहो अ जिणाण चिण्हाइं॥
—**Jain Iconography, B. C. Bhattacharya.** पृ० ४९ में प्रवचनसारोद्धार से उद्धृत।

४. सभी तीर्थंकरों के साथ धर्मचक्र हैं। तक्षशिलायां बाहुबलिना कारिते भगवते ऋषभदेवस्य धर्मप्रकाशके चक्रे च आवः। उपरिवत्।

५. चक्रेश्वरी का विवरण ऊपर हो चुका है।

६. पार्श्वयोर्भरतबाहुबलिभ्यामुपसेवितः।

ऋग्वेद में ही यज्ञपुरुष परब्रह्म की कल्पना वृषभ के रूप में की गई है—

चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

"इस (वृषभ) के चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक और सात हाथ हैं। तीन स्थान पर बँधा हुआ यह वृषभ गरजता रहता है। इस महादेव ने मर्त्यों में प्रवेश किया।"[1]

गोमुख यक्ष के सम्बन्ध में भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है—

ॐ चत्वार। शृङ्गाः त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तास्त्रिधा बद्धो वृषभो रौति (?) महादेवो मर्त्यं आवेशय स्वाहा।[2]

भागवत, अग्नि और वाराहपुराण में ऋषभनाथ को विष्णु का एक अवतार माना गया है और वृषलांछन तथा मोक्षस्थान कैलास होने के कारण इनमें शिवत्व भी है।

गोमुख, ऋषभनाथ के प्रतिरूप जैसे मालूम होते हैं और उनके साथ सम्बद्ध होने के कारण ऐसा होना भी चाहिए। गोमुख का ध्यान इस प्रकार है—

चतुर्भुजः सुवर्णाभः गोमुखो वृषवाहनः

हस्तेन परशुं धत्ते बीजपूराक्षसूत्रकम्।

वरदानपरः सम्यक् धर्मचक्रञ्च मस्तके ॥[3]

"गोमुख के चार हाथ हैं, स्वर्णकान्ति और वृषवाहन हैं, हाथों में परशु, दाडिम और अक्षसूत्र हैं। एक वरद (मुद्रा में) है और माथे पर धर्मचक्र है।"

इस विग्रह में वृषवाहन और परशु में शिवत्व, दाडिम[4] और अक्षसूत्र में शक्तित्व और धर्मचक्र में विष्णुत्व का संकेत है। उत्तमाङ्ग वृषभ (गो मुख) होने के कारण यह विश्वात्मा यज्ञपुरुष का रूप ग्रहण कर लेता है।

चक्रेश्वरी का वज्र, ऐन्द्रशक्ति और बुद्धशक्ति वज्रतत्त्व का भी प्रतीक है। चक्र, विष्णुचक्र और धर्मचक्र है, और बीजपूर से बोध होता है कि यह भैरवीचक्र भी है। कमलासन और गरुडवाहन वैष्णवी शक्ति के चिह्न हैं।

यह भारतीय परम्परा की विशिष्टता है कि जिस विग्रह की प्रधान रूप से उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है और अन्य देवगण उस रूप के उपासक बन जाते हैं। शिव की पूजा विष्णु और विष्णु की पूजा शिव करते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी सरस्वती, काली, कृष्णादि की उपासना करते हैं। जिन और बुद्ध की भी इसी रूप में सभी उपासना करते हैं और ब्रह्मोपासना से जिन को जिनत्व और बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होता है। इन्हीं विचारों को लोग नाना प्रकार से घुमा-फिरा कर प्रकट करते हैं।

---

१. इसकी निरुक्तकार और सायण ने भिन्न रूप से व्याख्या की है।

२. Jain Iconography में पृ० ६६ में प्रतिष्ठासारसंग्रह से उद्धृत।

३. Jain Iconography. B. C. Bhattacharya, Lahore, 1939, पृ० ६४ में वसुनन्दी के प्रतिष्ठासारोद्धार से उद्धृत।

४: दाडिम या बीजपूर सृष्टि का प्रतीक है, जिसके बीज असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। इसीका नाम मातुलुंग भी है।

३३ बुद्ध

भगवान् बुद्ध का अवतार आज से लगभग २५०० वर्ष[1] पूर्व हुआ। कपिलवस्तु के राजवंश में इन्होंने जन्म ग्रहण किया। पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम मायादेवी था। यशोधरा नामक सुन्दरी राजकुमारी से इनका विवाह कर दिया गया और राहुल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ।

युवावस्था के प्रारम्भ में ही रोग, जरा और मरण का दृश्य देखकर उनका मन उद्विग्न हो उठा। वे इनसे छुटकारा पाने के उपाय के लिए चिन्तित हो उठे। एक रात को अपने शिशु पुत्र को माता की गोद में छोड़कर उन्होंने संसार का त्याग किया। राजगृह जाकर एक ब्राह्मण से दीक्षा ली और छः वर्षों तक अध्ययन और कठिन तप तथा योगाभ्यास किया। किन्तु इससे न उन्हें शान्ति मिली और न जीवन के उन चिरन्तन महारोग जरामरणादि से छुटकारा का उपाय मिला। एक दिन हठपूर्वक उन्होंने प्रतिज्ञा की—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अवाप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात्कायमतश्चलिष्यते॥
नाशयित्वा तपोविघ्नान् कामध्वंसी भवाम्यहम्।
मृत्युञ्जयो भविष्यामि सच्चिदानन्दविग्रहः ॥[2]

"इसी आसन पर मेरा शरीर सूख जाय, चमड़ा, हड्डी और मांस विलीन हो जायँ। अनेक कल्प में जो ज्ञान दुर्लभ है उसे विना पाये इस आसन से यह शरीर न हिलेगा।

"तप के विघ्नों का नाश करके मैं कामध्वंसक बनूँगा, मैं मृत्युञ्जय बनूँगा और सत् चित आनन्द मेरा शरीर होगा।"

यह भगवान् की भीष्म प्रतिज्ञा थी। जबतक भोग की तृष्णा मर न जाय[3] तबतक आत्मलाभ का मार्ग रुका रहता है। काम (इच्छाएँ) ही ब्रह्मप्राप्ति के भयंकर विघ्न हैं। भगवान् ने उनके नाम का दृढ़संकल्प किया और सिद्धि प्राप्त की। प्रत्येक महायोगी कामध्वंसक, मृत्युञ्जय और चिदानन्द शरीरवाला होता है, जिसके आदर्श शिव हैं। भगवान् ने मार की सेना का ध्वंस किया। एक दिन समाधि की अवस्था में उस परम सत्य का साक्षात्कार हुआ और यह महायोगी कृतार्थ हो गया। यह आनन्द के उल्लास में चिल्ला उठा—'मैंने पा लिया। मैं इस अमृत की धारा को संतप्त संसार में बहा दूँगा। अब जरा, मरण और रोग का भय संसार से मिट जायगा।' गया में जिस पीपल के पेड़ के नीचे इन्हें सत्य-दर्शन हुआ, उसका नाम बोधिद्रुम (ज्ञानवृक्ष) पड़ा और जिस तत्त्व का बोध हुआ, वह कारणचक्र था। राजकुमार सिद्धार्थ उस दिन से बुद्ध अर्थात् ज्ञानी हुए। गया से बुद्ध काशी गये और सारनाथ में इस नये पाये हुए धर्म का उपदेश किया, जिसका नाम धर्मचक्रप्रवर्त्तन पड़ा।

---

१ बोधगया के शिलालेख में महापरिनिर्वाण का समय ईसापूर्व ५४४ है।

२ महानिदेस।

३ इहामुत्र भोगविरागः। इह—इस जीवन में। अमुत्र—मरने के बाद।

३४ बुद्धोपदिष्ट धर्म

बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश किया, वह कोई नया धर्म नहीं था। वह वैदिक धर्म का ही एक सुधरा हुआ रूप था।

वैदिक कर्त्तव्य के दो रूप हैं—ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। ज्ञानकाण्ड ब्रह्मविद्या है, जिनके द्वारा मानव-जीवन का परम लक्ष्य ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। ज्ञान द्वारा चित्त में जो स्थिरता आती है, कर्म का भी लक्ष्य वही है। ज्ञान और कर्म जब साधन न बन कर साध्य बन जाते हैं, तब उपद्रव होने लगता है। बुद्ध के समय में यज्ञ, हवनादि कर्म साधन न रह कर लक्ष्य बन गये थे। इसलिए आडम्बर ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था। इसमें पशुहत्या[1] उद्वेग का कारण था। जब पशुओं को मारकर लोग ढेर लगा देते होंगे और रक्त पनाले से बहता होगा[2] और इनकी कीचड़ और दुर्गन्ध फैली रहती होगी, तो साधारण जनता के लिए सचमुच यह एक विचित्र और विचलित कर देनेवाला दृश्य उपस्थित होता होगा। इसी प्रकार के बहुत-से आचारों का प्रचार हो गया था, जो जीवन के चरम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति के साधन होने के बदले बाधक हो गये थे। भगवान बुद्ध ने इसका विरोध किया और सद्धर्म का उपदेश किया। उन्होंने आर्यसत्य[3] वैदिक ब्रह्मविद्या वा धर्म को एक नया रूप दिया। उन्होंने कहा—

"अतः भिक्खुओ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग, जो कि पुरातन काल के पूर्ण जागरितों[4] द्वारा अपनाया गया था......उसी मार्ग पर मैं चला और उस पर चलते हुए मुझे कई तत्त्वों का रहस्य मिला। वही मैंने भिक्षु-भिक्षुणियों, नर-नारियों और दूसरे सर्वसाधारण अनुयायियों को बताया। अतः आवुसो! इसी प्रकार यह ब्रह्म-

---

१. क. "जब कहा गया कि धर्म के लिए वांछित फल देनेवाला कुलोचित यज्ञकर्म करो (तो उत्तर मिला) यज्ञों को नमस्कार। दूसरों को दुःख पहुँचाकर जो सुख मिलता है, वह नहीं चाहिए।"
यदात्थ चाविष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्मार्थमखक्रियामिति।
नमो मखेभ्यो नाहि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते॥ बुद्धचरित ११.६४।
ख. निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं, सदयहृदय दर्शित पशुघातम्॥
केशवधृत बुद्धशरीर जय जय देव हरे।
"करुणामय! वेद के ऐसे यज्ञ की निन्दा करते हैं, जिसमें पशुहत्या होती है। बुद्धरूप में केशव की जय हो।"

२, यज्ञ में मारे हुए पशुओं के चमड़े के ढेर से टपकते हुए रक्त की धारा से चर्मण्वती (चम्बल) नदी बन गई।

३, अरियसच्च।

४, **On the Veda** (**Pondicherry, 1956**) नामक ग्रन्थ में योगी अरविन्द ने भी यह सिद्ध किया है कि वेद शुद्ध ब्रह्मविद्या है और संहिता के साथ इसका ऋषियुग समाप्त हो जाता है। पीछे कर्मकाण्ड ने जोर पकड़ा और यज्ञों के नीचे ब्रह्मविद्या बन गई। ब्राह्मण, कल्पादि का युग वेद का दूसरा युग था। यह स्पष्ट है कि बुद्ध कर्मकाण्ड से ऊब गये थे। उन्होंने अपने उपदेशों से यज्ञादि के आडम्बर से ब्रह्मविद्या का उद्धार किया। बुद्ध की इस उक्ति में उसी परिस्थिति की ओर स्पष्ट संकेत है।

चिन्तन, ब्रह्मचर्य जो कि इतना फूला-फला और सब देशों में सबसे सुपरिचित हुआ, लोकप्रिय बना। संक्षेप में, देवताओं और मनुष्यों के लिए अच्छी तरह प्रकट किया गया।"[1]

"अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों सापेक्ष हैं। जो वस्तुतः निरपेक्ष है, वह अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों से परे है। मुक्त बुद्ध की अवस्था ब्रह्म से भी ऊँची है। वह अदृश्य परम कान्तिमान् और शाश्वत है। देवताओं से भी ऊँचा एक तत्त्व है, जो परमोच्च है। यह परम तत्त्व उदान में अजात, अभूत, अकत, असंखत कहा गया है। यह उपनिषदों का ब्रह्म है जिसे न इति, न इति कहा गया है। बुद्ध निज को ब्रह्मभूत कहता है। बुद्ध ने परम यथार्थ के बारे में चरम दृष्टिकोण अपनाया।"[2]

जो बुद्ध का अदृश्य परम कान्तिमान् और शाश्वत तत्त्व है, वही शाक्तों की तुरीया, शैवों का तुरीय और वेदान्त का ब्रह्म है। इसी को बुद्ध ने अपने उपदेश और व्यवहार में ग्रहण किया।

बौद्धधर्म के भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार बुद्ध के उपदेशों का सारांश इस प्रकार है।

थेरवादी शाखा बौद्धधर्म की सबसे पुरानी शाखा है। इसके अनुसार बुद्ध के उपदेश बहुत सरल हैं। "वह कहते हैं, सारे पापों से दूर रहो। सब अच्छी बातें जमा करो और मन को पवित्र करो।' यह बातें शील समाधि और प्रज्ञा के अनुसरण से प्राप्त होंगी। इनका विवरणपूर्वक वर्णन किया गया है। शील अथवा सद्व्यवहार ही मानवीय जीवन में सारी प्रगति का मूलाधार है। साधारण गृहस्थ को हिंसा, चोरी झूठ, व्यभिचार और मादक व्यसनों से बचना चाहिए। यदि वह भिक्षु हो जाय, तो उसे ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहिए। गृहस्थ के लिए आवश्यक सद्व्यहार के चार बाकी नियम पालन करना चाहिए, और उसे पुष्पमालाएँ या अन्य किसी प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधन का व्यवहार नहीं करना चाहिए। नरम गद्देवाले आसन या बिस्तरे उपयोग में नहीं लाने चाहिए। सुवर्ण या चाँदी का उपयोग नहीं करना चाहिए। न नाच देखना चाहिए, न संगीत के जलसे या अन्य असभ्य तमाशों में जाना चाहिए, दोपहर के बाद भोजन नहीं करना चाहिए. कभी-कभी अच्छे व्यवहार का अर्थ लिया जाता है कि बुरे जीवन-व्यवहारों (दश अकुशल कर्मपथ) से दूर रहना, उदाहरणार्थ—हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, निन्दा, कठोर शब्द, अहंतापूर्ण वचन, लोभ असूया, गलत दार्शनिक मत आदि। समाधि अथवा मनन का उद्देश्य मन को पूर्णतः संतुलित रखना है, जिससे एक ही समय में एक साथ चार आर्यसत्य की प्रज्ञा हो सकती है, और प्रतीत्य समुत्पाद के नियम का भी ज्ञान पाया जा सकता है। उसके अनुसार इस जीवन का पूर्व जीवन से और उत्तर जीवन से सम्बन्ध प्रस्थापित किया जा सकता है। कर्म प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को आकार देता है और सारा विश्व उसमें बँधा है। अतः कर्म एक तेजी से चलते हुए रथ की धुरी है।"[3]

---

१. राधाकृष्णन्। बौद्धधर्म के पच्चीस सौ वर्ष। १९५६। दिल्ली। पृ० १३ में संयुत्तनिकाय से उद्धृत।

२. राधाकृष्णन्। बौद्धधर्म के २५०० वर्ष। दिल्ली। १९५६। पृ० १४।

३. बौद्धधर्म के २५०० वर्ष। दिल्ली। १९५६। पृ० ७१।

योगाचार में 'बोधिप्राप्ति' के लिए योगाभ्यास को सबसे प्रभावशाली पद्धति माना गया है।

चान (ध्यान) शाखा के अनुसार सापेक्ष और परम की अभेद-चेतना से ही मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त कर सकता था।[1]

निदान कथा के 'दूरे निदान' में सुमेध ब्राह्मण की कथा से ये सिद्धान्त और भी स्पष्ट हो जाते हैं। "एक धनी कुलीन ब्राह्मण वंश में, अमरावती में सुमेध का जन्म हुआ था, पर उनके बचपन ही में उनके माँ-बाप चल बसे। उन्होंने *ब्रह्मविज्ञान* की शिक्षा ली। माता-पिता की छोड़ी सम्पत्ति से नितान्त असन्तुष्ट होकर उन्होंने सारी सम्पत्ति दान कर दी और संन्यास ग्रहण कर लिया। जन्म-मरण, सुख और दुःख रोग और वेदना से परे की अमत महानिर्वाण अवस्था की खोज में वे चल पड़े। उन्होंने यह अनुभव किया कि संसार में जो कुछ है, इसके दो पहलू हैं—*सत् और असत्*। इसलिए जन्म-दुःख से मुक्त होने के लिए कोई अजन्मा वस्तु भी जरूर होगी। इसी वस्तु से साक्षात्कार करने का निश्चय करके वे *ध्यान* करने हिमालय गये। वहाँ धम्मेक पहाड़ में उन्होंने अपना निवास बनाया और केवल पेड़ों से गिरे फलों को खाकर जीवन-यापन करते रहे। शीघ्र ही पाँच *अभिज्ञा* और *समाधि* में उन्हें पूर्णता प्राप्त हो गई।"[2]

सद्धर्म पुण्डरीक के "दूसरे अध्याय में बुद्ध यह बतलाते हैं कि परम सत्य का तथागत[3] अपने भीतर ही अनुभव कर सकते हैं और वह दूसरों के सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता।"[4]

धम्मपद, बौद्ध दर्शन और व्यवहार का प्रमुख ग्रन्थ है। "इस छोटे-से ग्रन्थ में अन्य बौद्ध ग्रन्थों की भाँति, सब प्रकार के जप-यज्ञादि और अन्य आत्मप्रपीडक हठयोगों की निन्दा है और *इसका विशेष आग्रह शील पर है। यह शील, समाधि और पञ्ञा (प्रज्ञा) से विकसित होता है।* बुद्ध के उपदेश संक्षेप में यों हैं— 'सारी बुराइयों से बचो। जो अच्छा है, उसे जमा करो और मन को शुद्ध करो।'[5] कौन-सा धर्म इससे सहमत नहीं होगा ? इसके उपदेश के अनुसार सब निश्चित चीजें क्षणिक हैं, दुःख से भरी हैं और इस कारण से 'अनत्ता' या अपनी नहीं हैं। लोगों से कहा गया है कि वस्तुओं के केवल बाह्य आकर्षण पर न जाकर, उनके दुःखद पक्ष को भी पहचानें। उसमें *अविद्या को सबसे बड़ी अशुद्धि* कहा गया है[6] और यह कहा गया है कि तृष्णा या आसक्ति के अन्त से ही दुःख का अन्त होगा। लोभ, ईर्ष्या, भ्रांति, आग की तरह खतरनाक बताई गई है, और जबतक उन्हें न रोका जाय, यह सम्भव नहीं कि सुखी जीवन बिताया जा सके। व्यक्ति को पाप से या अपवित्रता से मुक्त करने में, सिवाय, उसके अपने और कोई मदद

१. तत्रैव। पृ० ८७।
२. तत्रैव। पृ० १*५।
३. तथागत—तथा सत्यं गतं ज्ञानं यस्य। जो सत्य को जान गये हों।
४. बौद्धधर्म के २५०० वर्ष। दिल्ली। १९५६। पृ० ११४।
५. तत्रैव। पृ० १११। धम्मपद। १८३।
६. धम्मपद। २४३।

नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको जानने का प्रयत्न करे। बुद्ध भी बहुत कम मदद कर सकते हैं, चूंकि वे केवल मार्गदर्शक चिह्नों के समान *पथप्रदर्शक*[1] मात्र हैं।"[2]

इन कतिपय उद्धरणों से भी यही सिद्ध होता है कि बुद्ध ने अपने उपदेशों में वेदोपदिष्ट सारे सिद्धान्तों को ग्रहण किया और इन्होंने अपनी साधनाओं से ब्रह्मविद्या में सिद्धि लाभ की। सोऽहंभाव में स्थिरता प्राप्त कर लेने पर इन्होंने अपने को तथागत कहना आरम्भ किया।

सभी शास्त्रों और साधक तथा सिद्धों ने ब्रह्म को 'अवाङ्मनसगोचर' (वाणी और मन से परे) और 'स्वानुभूत्यैकसार' (अपना अनुभव ही इसका सार है) कहा हैं। बुद्ध ने भी यही कहा। उन्होंने देखा कि अनुभवगम्य तत्त्व पर जितना कहा जाय, वह सब अपूर्ण रहेगा। इस पर वेद-वेदाङ्ग बहुत कह चुके थे। इसलिए इस पक्ष पर उन्होंने जोर नहीं दिया। उन्होंने देखा कि आचरण से ब्रह्मानुभूति होती है, सूक्ष्म तर्क द्वारा बाल की खाल निकालने से नहीं। इसलिए मानव-जीवन में शील, अर्थात् आचरण को उन्होंने प्रधानता दी। ब्रह्मविद्या के व्यावहारिक रूप को ही उन्होंने धर्म कहा और इसके परिमार्जित रूप का उपदेश किया।

धर्म-प्रकरण में धर्म[3] के जिस रूप की हम चर्चा कर आये हैं उसके विशुद्ध रूप को शील के नाम से बुद्ध ने ग्रहण किया और इसके आचरण के उपदेश को ही धर्मचक्रप्रवर्त्तन कहा गया है। धर्म के उद्‌गमस्थान महाधर्म ब्रह्म को ही बौद्धोपदेश में कारणचक्र कहा गया है, जो वेदान्त के 'पर' (कारण) ब्रह्म की तरह कारण (पर) चक्र है। बुद्ध, शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं। राम और कृष्ण की तरह, ये राजकुमार सिद्धार्थ होने पर भी परब्रह्म हैं और परब्रह्म होने पर भी राजकुमार सिद्धार्थ हैं।

बौद्धधर्म यथार्थ में शाक्त, शैव, वैष्णवादि मतों की तरह शुद्ध सनातन वैदिक धर्म का एक प्रधान रूप है। शाक्तों ने मातृरूप में, शैवों ने शिव के रूप में वैष्णवों ने विष्णु के नाम से और बुद्ध ने शुद्ध ज्योतिर्मय तत्त्व के रूप में परब्रह्म को ग्रहण किया। सभी ने इस तत्त्व को समान रूप से अपने ही भीतर पाकर पिण्ड और विश्व को एकाकार में देखा। सबने व्यक्ति और जगत् का कल्याण ही जीवन का यथार्थ कर्त्तव्य समझा।

जिस प्रकार स्वामी दयानन्द ने छूआछूत, जातपाँत और मूर्त्तिपूजा का खण्डन और घोर विरोध किया, उसी प्रकार बुद्ध ने मिथ्याचार के आडम्बर और यज्ञ के रूप में फैले हुए नाना प्रकार के अनाचार का घोर विरोध किया। आर्यसमाज और जैनों की तरह इन्होंने किसी को शिखा-सूत्र छोड़ने को न कहा। देवी-देवताओं की आराधना को इन्होंने न रोका। केवल, धर्म के नाम पर पशुहत्या और यज्ञ के मिथ्याडम्बर का विरोध किया। इन्होंने यज्ञादि को धर्म नहीं माना। इन्होंने धर्म के यथार्थ रूप को ग्रहण कर शील के

---

१. पथप्रदर्शक—यहाँ बुद्ध को अध्यात्मविद्या के गुरु का स्थान दिया गया है। यह योगियों और तान्त्रिकों के गुरु की तरह है।

२. बौद्धधर्म के २५०० वर्ष। पृ० ११२। धम्मपद। २०६।

३. धर्म के यथार्थ रूप के लिए धर्म-प्रकरण देखिए।

रूप में उसका नियमपूर्वक कठोर अभ्यास और आचरण का प्रचार किया। यह सनातन धर्म का शोधित और चमकता हुआ रूप था। इसमें दया और मैत्री की प्रधानता थी। महात्मा गांधी ने इन सबको अहिंसा के रूप में ग्रहण कर एक बड़ी प्रबल शक्ति के रूप में इसका प्रचार किया।

योग और तन्त्र, ब्रह्मविद्या के व्यावहारिक रूप हैं। बौद्धों ने दोनों का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया। इसलिए शाक्त, शैव और वैष्णवों की तरह जैन और बौद्ध प्रतीकों में केवल रूप का अन्तर है, सिद्धान्त का नहीं। सिद्धान्त सबका एक है।

३५ बौद्ध प्रतीक

बुद्ध

बुद्ध राजकुमार सिद्धार्थ और ब्रह्म हैं। इसलिए दोनों ही रूपों में इनकी प्रतिमा, चित्र इत्यादि पाये जाते हैं।

प्रतिमायें तीन प्रकार की होती हैं—स्थाणुक, आसन और शयन। स्थाणुक मूर्त्तियाँ सीधी या समभङ्ग, द्विभङ्गादि मुद्राओं में खड़ी रहती हैं। इनके दोनों पार्श्वों में दो देवताओं की मूर्त्तियाँ रहती हैं। यह अशेषकारण-रूप परमतत्त्व का प्रतीक है। आसन-प्रतिमायें नाना प्रकार के आसनों पर बैठी रहती हैं। शयनमूर्त्ति लेटी रहती है या किसी वस्तु पर अड़ी रहती है। बुद्ध भी तीनों प्रकार की प्रतिमायें पाई जाती हैं। स्थाणुक मूर्त्तियाँ प्रायः बहुत ही प्रभावशाली और मनोहर हैं। इनके साथ कभी पार्श्वदेवता की मूर्त्ति रहती है और कभी नहीं। कभी ये मूर्त्तियाँ प्रभामण्डल के भीतर रहती हैं और कभी प्रभामण्डल नहीं भी रहती। कभी ये मूर्त्तियाँ चैत्य के भीतर बनाई जाती हैं।

बुद्ध महायोगीश्वर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। इसलिए ध्यानस्थ योगी के रूप में इनकी बहुत-सी आसन-प्रतिमाओं का निर्माण किया गया है। इस प्रकार की प्रतिमाओं में ये प्रायः पद्मासन पर ध्यानस्थ बैठे रहते हैं और मुखमण्डल के पीछे प्रभामण्डल चमकती रहती है। माथे पर प्रायः तिलक बना रहता है जो कारणतत्त्व के बिन्दु का प्रतीक है। कुछ बौद्धतत्त्वज्ञ[१] इसे ऊर्णा कहते हैं। जहाँ भौंहें मिलती हैं, वहाँ के भ्रमराकार घूमे हुए बालों को ऊर्णा कहते हैं। यह महापुरुषों का एक लक्षण है। किन्तु, बुद्ध के ललाट पर बने हुए ये बिन्दु ऊर्णा नहीं हैं। ऊर्णा को दोनों भौहों के बीच में होना चाहिए। किन्तु, ध्यान से देखने पर बोध होगा कि यह तिलक वा बिन्दु ऊर्णा से ऊपर ललाट पर बना रहता है। यदि यह भ्रूमध्य में रहता तो भी इसका वहीं अर्थ होता। भ्रूमध्य ही आज्ञाचक्र में नित्य-इच्छास्थान वा मनःस्थान है। वही बिन्दुस्थान है, जहाँ इतरलिङ्ग के रूप में परमा ज्योति प्रकट होती है। बुद्ध के ललाट पर बिन्दु के निर्माण से ही यह स्पष्ट है कि यह ऊर्णा नहीं है। यह बिन्दु बुद्ध की प्राचीन-से-प्राचीन प्रतिमा में पाई जाती है। श्रीचक्र में यह बिन्दु-

---

१. A. Gruenwedel, Buddhist Art in India. London. 1901. Translated from German by A. C. Gibson. Revised and Enlarged by J. Burgess.

स्थान चक्र के मध्य में है और विष्णु तथा शिव की प्रतिमा में यह नाभि है, जहाँ से कमल के रूप में सृष्टि का विकाश होता है।

बुद्ध की आसन-प्रतिमा धर्मचक्रप्रवर्तन-मुद्रा में, ज्ञान-मुद्रा में और योग-मुद्रा में पाई जाती है। जब दोनों हाथों की अँगुलियाँ छाती के सामने कुछ मुड़ी हुई एक-दूसरे के ऊपर दिखाई जाती हैं तब उसे धर्मचक्रप्रवर्त्तन-मुद्रा कहते हैं। जब बुद्ध एक पैर आसन पर समेटकर दूसरा आसन से नीचे लटकाकर उपदेश करते हुए दिखाये जाते हैं, तो इसे ज्ञान-मुद्रा कहते हैं। जब हाथ-पर-हाथ रखकर पद्मासन पर ध्यानस्थ बैठे दिखाये जाते हैं, तब इसे योग-मुद्रा कहते हैं। शिव, देवी, विष्णु आदि की इन मुद्राओं में बनी प्रतिमा और बुद्ध की प्रतिमा में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता।

बुद्ध की बहुत-सी प्रतिमाओं में नटराज की तरह बड़े ही सुन्दर प्रभामण्डल बने हुए हैं। इनकी बहुत-सी मूर्त्तियाँ अभय और वरद-मुद्रा में भी हैं।

ब्रह्मरूप में बुद्ध की नाना प्रकार की मूर्त्तियों का निर्माण किया जाता है। कभी इनके चार हाथ, कभी दश हाथ और कभी सहस्रभुजायें दिखाई जाती हैं। देवी की मूर्त्ति की तरह कभी इन्हें गजारूढ और कभी सिंहारूढ दिखाया जाता है। सिंह धर्म का प्रतीक है। इसलिए बुद्ध की मूर्त्ति, स्थाणुक या आसन, जिस-किसी मुद्रा में क्यों न दिखाई जाय, मूर्त्ति के पीठ अथवा आसन के नीचे सिंह बना रहता है। कभी-कभी वृषभ भी दिखाई पड़ता है।

चक्र और त्रिशूल

क्रमण जिसका स्वभाव हो, उसे चक्र कहते हैं। यह विवर्तना, परिणाम और उपरति-वाला कालचक्र और अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण धर्मचक्र है। यह कारणचक्र अर्थात् परब्रह्म का भी प्रतीक माना जाता है। चक्र में साधारणतः आठ अर होते हैं। ये यंत्र की अष्टप्रकृति हैं।

सारनाथवाले स्तम्भशिखर के धर्मचक्र में २४ अर हैं। विष्णु के चौबीस अवतार, जैनों के चौबीस तीर्थङ्कर, बौद्धों के चौबीस बोधिसत्त्व और सांख्य के चौबीस तत्त्वों का इन अरों से सम्बन्ध नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। इनका पारस्परिक सम्बन्ध और भाव भी स्पष्ट है कि यह चक्र एक विश्वव्यापी तत्त्व का प्रतीक है।

विष्णुचक्र और बुद्ध के धर्मचक्र में भेद नहीं है। विष्णुचक्र भी धर्मचक्र की तरह धारण, अर्थात् रक्षाशक्ति है।

बुद्ध की मूर्त्तियों के साथ त्रिशूल अङ्कित रहता है। कभी त्रिशूल के ऊपर चक्र और कभी चक्र के ऊपर त्रिशूल बना रहता है। भरहुत और साँची के स्तूप के द्वारों पर ऐसे चक्र और त्रिशूल पाये जाते हैं (देखिये चित्र ८६, ८७) यह चक्र-त्रिशूल प्रायः बुद्ध और बौद्ध देव-देवियों के प्रभामण्डल के ऊपर भी बना रहता है, जिन पर त्रिशूल के ऊपर धर्मचक्र पड़ा रहता है।

त्रिशूल, त्रिशक्ति (ज्ञान-इच्छा-क्रिया) का प्रतीक है। इसे अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है—

> अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके।
> त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने॥
> लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत् त्रिशूलकम्।
> यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरंजनः॥[1]

"इस चौदहवें धाम में त्रिशक्ति प्रकट हो जाती है। इसलिए श्रीशासन (बुद्धोपदेश ?) में शास्ता (बुद्ध) ने इसे त्रिशूल कहा है। चंचल होकर त्रिशक्ति त्रिशूल बन जाती है, जिसमें प्रवेश करते ही योगी निरंजन बन जाता है।"

इस प्रसंग के ये चौदह धाम साधना के चौदह स्तर हैं। इनमें सबसे ऊँचा और अन्तिम चौदहवाँ धाम है। ये चौदह धाम मन्दिर के कलश के नीचे चौदह स्तरों में दिखाये जाते हैं। उन पर कलश अमृतत्व या निरंजन का प्रतीक है।

यह त्रिशूल, त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रिरत्नादि का प्रतीक है।

पार्श्वदेवता

बुद्ध की स्थाणुक मूर्त्तियों के दोनों पार्श्व में दो मूर्त्तियाँ रहती हैं। ये पार्श्वदेवता हैं। त्रिमूर्त्ति की मध्य मूर्त्ति की तरह, बीचवाली मूर्त्ति रजोगुण है, जो अन्य दो गुणों का संचालन कर सृष्टि-क्रिया प्रवर्तित रखता है। शिव, विष्णु, जिन आदि की स्थाणुक मूर्तियाँ भी इसी सिद्धान्त पर इसी रूप में बनाई जाती हैं। (देखिये चित्र ९७, ९८, १२२)। एक मूर्त्ति में एक ओरवाले पार्श्वदेवता के हाथ में कमण्डल और दूसरे हाथ में कुछ है। इन्हें ब्रह्मा और इन्द्र कहा जाता है। दूसरी मूर्त्ति में दोनों पार्श्वदेवताओं के हाथ में चँवर है। इस सिद्धान्त पर बनी अनेक मूर्त्तियाँ मिलती हैं, जिनमें पार्श्वदेवताओं में एक स्त्री और एक पुरुष है। इससे सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती। स्त्री संघ और पुरुष धर्म है। बीच में बुद्ध रहते हैं।

स्तम्भ

स्तम्भ दो प्रकार के होते हैं। एक चैत्य और देवप्रासादों के भीतर रहते हैं और दूसरे उन्मुक्त स्थान में कभी शिखर के साथ और कभी बिना शिखर के बनाये जाते हैं।

चैत्यों के स्तम्भ का आरम्भ चतुष्कोण से होता है। यह प्रासादों का चतुष्कोण वा स्थिति-तत्त्व है। इसके ऊपर निधि-कलश बना रहता है। कलश के ऊपर मूलस्तम्भ बना रहता है। ब्रह्मस्तम्भ चतुष्कोण होता है और विष्णुस्तम्भ अष्टकोण। ऊपर गोलाकार वा षोडशकोण का कण्ठ रहता है। यह रुद्रकण्ठ है। इसके ऊपर अमृत-कलश रहता है। इसके

---

१. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥ ऋग्वेद। १,१६४,४८।
"एक चक्र है। बारह परिधि (मास) हैं। तीन नाभि ऋतु—(ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त) है। ३६० शङ्कु (दिन) उसमें जड़े हुए है।"

ऊपर बुद्ध की चार अवस्थाओं (अवतार, महाभिनिष्क्रमण, धर्मचक्रप्रवर्त्तन और महा-परिनिर्वाण) के द्योतक चार चौकोर शिलाखण्ड बने रहते हैं और उनके ऊपर सृष्टि का प्रतीक मिथुन बना रहता है। यह मिथुन विभुशक्ति का अष्टप्रकृति (पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) के साथ विलास है, जिसके बिना संसार का अस्तित्व असम्भव है। मन्दिरों के नीचे धर्मचक्र वा कालचक्र भी बना रहता है, जिसके बिना सृष्टि का चलना असम्भव होता है।

केवल स्तम्भ भी मूलस्तम्भ के उपर्युक्त नियमों पर बनता है। इसके शिखर पर बुद्ध की चार अवस्थाओं के द्योतक चार वृषभ, सिंह, अश्वादि बने होते हैं। कभी बुद्ध का प्रतीक केवल एक गज, सिंह, वृषभादि[1] के रूप में बना रहता है। सारनाथवाले शिखर पर चार सिंहों के नीचे बौद्धधर्म के चारों मान्य लांछनों में से तीन गज, वृषभ और अश्व बने हुए हैं। सिंह ऊपर है। ये टूटे हुए सिंह त्रिमूर्त्ति की तरह दिखाई पड़ते हैं। सामनेवाले खुले हुए मुख में लोल जिह्वा है। दाहिनी ओरवाला मुख खुला हुआ विकराल मालूम होता है और बाईं ओरवाला प्रशान्त मुद्रा में है। ये क्रमशः त्रिमूर्त्ति के रज, तम, और सत्त्व के प्रतीक-जैसे हैं।

स्तम्भ पर श्री हैवेल के विचार माननीय हैं—

'रामराज ने मानसार शिल्प-शास्त्र से उद्धृत कर स्तम्भों के आकार के धार्मिक रूपों का बड़ा सुन्दर विवरण दिया है। चतुष्कोण ब्रह्मस्तम्भ, अष्टकोण विष्णुस्तम्भ और वर्तुल अथवा षोडशकोण संहारक रुद्रशिवस्तम्भ है। बौद्ध वाङ्मय में इसका रूपान्तर करने पर कहा जा सकता है कि चतुष्कोण स्तम्भ बुद्ध के, अष्टकोण संघ के और वर्तुल अथवा षोडशकोण धर्म के प्रतीक हैं। बिना शिखर अथवा आधार के गोल स्तम्भ चन्द्रस्तम्भ हैं''[2]

आगे चलकर आप लिखते हैं—

"महानिर्वाण तन्त्र में जो शिवस्वरूप सप्त ऊर्ध्वलोक का वर्णन किया गया है, वह निःसन्देह स्तम्भ का पूर्ण प्रतीकात्मक विवरण है। अधोलोक के सप्त पाताल पर निकला हुआ अधोमुख चार दलोंवाला ब्रह्मपद्म है, जिसकी कर्णिका मनोहर भूर्लोक है।"

इसके ऊपर भीम (भयंकर) नामक छः दलोंवाला शुभ पद्म है, जिसके अन्तश्चक्र में चार द्वार हैं। इसकी कर्णिका वायुमण्डल का भुवर्लोक है। इसके ऊपर दश पत्रोंवाला दुर्लभ दिव्य महापद्म है। इसकी कर्णिका के भीतर तेजस्तत्त्व है।

---

१. तत्रैव। पृ० ६२।

२. Ram Raz gives interesting details taken from the Manasar-Shilpashastra as to the ritualistic significance of different forms of pillars. A square-shafted one was associated with Brahma-worship; an octagonal one with that of Vishnu, the circular or sixteen sided one with Rudra-Shiva as the Destroyer. Translating this ascription with Buddhist terminology, it may be said that the square Pillar stood for Bhuddha, an octagonal one for the Saugha, and a circular or sixteen sided one with Rudra-Shiva as for Dharma. A cylindrical pillar without capital or base was dedicated to Chandra, the moon.

चौथा सोलह दलोंवाला आकाश का विशुद्ध पद्म है। इसकी कर्णिका में वायुतत्त्व, अर्थात् वज्र, विद्युच्छक्ति इत्यादि का निवास है।

पाँचवाँ सोलह दलों का विशुद्ध पद्म है, जिसकी कर्णिका में विशुद्ध ज्ञान का निवास-स्थान ज्ञानलोक है।

छठाँ दुर्लभ आज्ञापद्म है, जिसके दोनों दल पूर्णचन्द्र की तरह गोल हैं। इसकी कर्णिका में चिन्तामणि, अर्थात् इच्छा का रत्न है। यहाँ शिव, दिव्य हंस, सहित ब्रह्मा के रूप में विराजमान हैं। इसके नाम को उलट देने से सोहं—वह मैं हूँ बन जाता है।

सबके ऊपर सहस्र दलवाला अधोमुख महाविशाल कमल है, जिसमें आनेवाले सहस्रों लोकों के बीज हैं। यह परब्रह्म का पद है और वहाँ निराकार निश्चल काली वर्तमान हैं।" जिस तरह बादल से बिजली उत्पन्न होती है और उसमें छिप जाती है, उसी तरह निर्वाणदात्री काली से ब्रह्मादि देव उत्पन्न होते हैं और उसमें विलीन हो जाते हैं।"[1]

---

१. The explanation of the symbolism of the whole stambh is no doubt that given in the Mahanirvana Tantra of the seven upper spheres. described as a revelation of Shiva. First rising above the seven nether spheres of Patal, the underworld is the Brahma lotus with its four petals turned downwards the fruit of which is "the beautiful circle of earth".

Over this is the blessed lotus, Bhima The Terrible with six petals and an inner circle having four openings. The fruit of it is Bhuwaloka, the region of the air.

Next above it is the rare flower of ten petals, Mahapadma, the heavenly lotus containing within its fruit, the fire element.

The fourth is the transparent lotus of Ether, with sixteen petals; its fruit is the abode of Vayu—wind-force (Vajras, electric power).

The fifth lotus is the transparent, with sixteen petals enclosing the fruit which is Jnana-loka, the abode of pure knowledge.

The sixth is Ajna-Padma, very rare with two petals round as the full moon. Within its fruit is the Chintamani, the Jewel of Thought and here Shiva dwells in bodily form as Brahma, with the divine swan—Hansa, a mystic bird, which being transposed becomes Soham—I am he.

Crowning all is the vast lotus with a thousand shining turned-down petals, which contain the germs of thousand of words yet unborn. It is the abode of Para-Brahma and there is the formless and the motionless one, Mahakali. "As the lightning is born from the cloud, and disappears within the clouds, so Brahma and all the gods take birth from Kali and will disappear in Kali, who is the giver of Nirvana.

—E. B. Havell. The Ancient and Medieval Architecture of India : A study of Indo-Aryan civilization. London. 1915. Page 58.

महानिर्वाण तन्त्र के इस षट्चक्र के विवरण से षट्चक्र-निरूपण के षट्चक्रों का विवरण भिन्न है। इन दोनों में, चक्रों अथवा पद्मों का क्रम, भिन्न प्रकार से दिखलाया गया है। अन्यथा भाव में कोई अन्तर नहीं है।

विश्व की रचना का क्रम एक पुरुष अथवा मानव मूर्ति के रूप में माना जाता है। इसलिए परमात्मशक्ति का नाम परम पुरुष है। इसके अन्तर्गत मूलभावना यों है—

मनुष्य की रीढ़ के भीतर मूलाधार से लेकर सहस्रार तक एक शक्ति का स्तम्भ है। इसे अलंकृत भाषा में ज्योति-स्तम्भ कहते हैं और तन्त्र की भाषा में यह कुण्डलिनी है। इसमें नीचे से क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार —ये सात चक्र वा पद्म बने हुए हैं। इन पद्मों की कर्णिका के बीच से कुण्डलिनी का स्तम्भ मूलाधार से सहस्रार तक है और इस स्तम्भ के चारों ओर इन पद्मों के दल बने हुए हैं। मूलाधार रीढ़ के अन्तिम छोर पर है, और भूतत्व का अधिष्ठान है। इसमें चार दल हैं और यह चौकोर है। यह स्थिति-तत्त्व है। शिश्नमूल के सामने रीढ़ के भीतर स्वाधिष्ठान है। इसमें छः दल हैं और यह अप्तत्त्व का स्थान है। नाभि के सामने मणिपुर है, इसमें दश दल हैं और यह तेजस्तत्त्व का अधिष्ठान है। हृदय के सामने अनाहत है। इसमें बारह दल हैं और वायुतत्त्व का अधिष्ठान है। कण्ठकूप के सामने विशुद्ध है। इसमें सोलह दल हैं और यह आकाशतत्त्व का अधिष्ठान है। भ्रूमध्य के सामने आज्ञाचक्र है। इसमें दो दल हैं और यह मन:शक्ति का स्थान है। इसके ऊपर सहस्रार है, जो बीज बिन्दु-स्थान है। ये लघुरूप में क्रमशः भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक हैं। इसका विस्तृत और विशाल रूप परमपुरुष का स्थूल, अर्थात् विराट् रूप है। जिस प्रकार मानव-रूप के शक्तिस्तम्भ में सातो चक्र गुँथे हुए हैं और शक्तिस्तम्भ, मूलस्तम्भ, अर्थात् गृह के प्रधान स्तम्भ की तरह है, उसी प्रकार परमपुरुष मूलस्तम्भ की तरह है, जिसमें मूलाधार से नीचे सात अधोलोक और सात ऊर्ध्वलोक छत्रदण्ड में छाते की तरह लगे हैं। यह ब्रह्माण्ड का छत्रदण्ड ही स्तम्भ की मूल भावना है और इसी भावना को हृदय में रखकर विभुशक्ति की कल्पना कर उपासना के लिए स्तम्भ-रूप में उसके प्रतीक का निर्माण किया जाता है। इसी का लघुरूप शिवलिङ्ग और विशाल रूप स्तूप है। प्रासाद पुरुष के रूप में विश्वरूप परमात्मा की रचना करते समय निधि-कलश और अमृत-कलश के बीच में इस 'त्रैलोक्यनगरारम्भ' मूलस्तम्भ की कल्पना की जाती है। यही बौद्धस्तम्भ है। बौद्धस्तम्भ उपासना के लिए भगवान् बुद्ध का प्रतिरूप या प्रतीक है।

जैनों ने भी इस सिद्धान्त और प्रतीक का इसी अर्थ में व्यवहार किया है। श्रीहैवेल ने अपने ग्रन्थ के पृ० १०५ में अष्टदल कमल पर बने हुए एक जैन स्तूप का चित्र दिया है। संकेत स्पष्ट है। अष्टदल कमल अष्टप्रकृति है और उस पर उठा हुआ स्तम्भ यन्त्र के बिन्दु-स्थान पर (चित्र २०) सृष्टि के विभिन्न रूपों का आधार विभुशक्ति है।

स्थाणुक मूर्तियाँ विश्वरूप के प्रतीक हैं। पौराणिक, जैन और बौद्ध, सभी स्थाणुक प्रतिमाएँ अखिल विश्वपुरुष के प्रतीक और शिवलिङ्ग, स्तम्भ, स्तूप और प्रासाद के प्रतिरूप हैं।

बुद्धरूप से मुख्यतः सिंह, वृषभ, गज और अश्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिंह, वृष, गज और अश्व सभी धर्म के चिह्न हैं। गज बुद्ध का अपना रूप है। इसी रूप में बुद्ध ने माया-देवी की कुक्षि में प्रवेश किया था। वैदिक यज्ञों का अश्व महाभिनिष्क्रमण में भगवान् का वाहन था। ये बुद्ध के प्रतीक के रूप में स्तम्भों के शिखर पर बनाये जाते हैं। जब शिखर पर सिंहादि की एक मूर्ति रहती है, तब यह बुद्ध का प्रतीक है और जब चार-चार सिंहादि बने रहते हैं, तब ये बुद्ध के अवतार, महाभिनिष्क्रमण, धर्मचक्रप्रवर्त्तन और महापरिनिर्वाण, इन चार अवस्थाओं के प्रतीक होते हैं। चैत्यों के स्तम्भों में भी इसी नियम का अनुसरण किया जाता है। लंका में अनुराधापुर के स्तम्भाराम और लंकाराम में इसी उद्देश्य से सहस्रों बड़े ही मनोहर किन्तु पतले स्तम्भ बनाये गये थे।[1]

स्तूप

स्तूप भी मूलस्तम्भ वा पुंजीभूत परमज्योति का प्रतिरूप है। उससे प्रकट होकर परम शिव ने ब्रह्मा और विष्णु के कलह को शान्त किया था। शाक्त मत से देवताओं के शरीर से निकली हुई पर्वताकार पुंजीभूत ज्योति घनीभूत होकर देवी बन गई। उसी तरह परम ज्योतिःस्वरूप विश्वात्मा बुद्ध का पुंजीभूत और घनीभूतरूप स्तूप है। स्तूप का अर्थ है जड़, मूल। यह विश्वमूल का प्रतीक है। यह विश्व और विश्वात्मा का साकार प्रतीक है। इसमें विभु के प्रतीक शिवलिङ्ग, स्तम्भ, पद्म, प्रासाद आदि के सभी संकेत भिन्न-भिन्न रूपों में सम्मिलित हैं। जैसे, शिवलिङ्ग के तीन भाग हैं, नीचे चतुष्कोण आदि, अष्टकोण मध्य और वर्तुलाकार शीर्ष। स्तूप के भी तीन भाग हैं, मूल, मध्य और शीर्ष। नीचे चौकोर वेदी और द्वारोंवाली वेष्टनी (घेरा) रहती है। वेष्टनी में तीन पट्ट रहते हैं। यह त्रिशक्ति त्रिरत्नादि के प्रतीक हैं। जिस प्रकार शिवलिङ्ग के चारों ओर शिव की मूर्तियाँ बना दी जाती हैं, उसी प्रकार स्तूप के सब ओर बुद्ध की मूर्तियाँ बनी रहती हैं अथवा यह बुद्ध रूप स्तम्भों से घिरा रहता है। (अनुराधापुर के स्तम्भाराम और लंकाराम को स्मरण कीजिये।) शिवलिङ्ग के रुद्रांश अग्रभाग और स्तम्भ के रुद्रकण्ठ की तरह इसका भी ऊर्ध्वांश गोल होता है। उस पर बुद्ध की अस्थि (धातु) अथवा नाना प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक रत्नों से भरे हुए धातुगर्भ (डागोबा) की स्तूपिका बनी रहती है। स्तूपिका कभी कमलाकार और कभी छतरी की तरह बनी रहती है, जिसके भीतर परमानन्द का धातु रखा रहता है। यही यथार्थ धातुगर्भ (डागोबा) है। यही प्रासादों का कलश है। स्तूपिका के ऊपर सृष्टि के लोकों का प्रतीक छत्र रहता है। छत्रदण्ड में लगे हुए छत्रों की संख्या प्रायः एक, तीन, सात और चौदह होती है। एक छत्र धर्मचक्र है। यह प्रभामण्डलवाली बौद्ध मूर्तियों के ऊपर भी बना रहता है। तीन त्रिभुवन, सात सप्तलोक और चौदह चतुर्दश भुवन के प्रतीक हैं। इसको वायुपुराण ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

उपर्युपरिलोकानां छत्रवत् परिमण्डलम् ॥[2]

---

१. चित्र के लिए देखिये—James Fergusson, History of Indian and Eastern Architecture. London. 1910, Pages 234 and 236.

२. वायुपुराण। ५०.७७।

"लोकमण्डल एक-दूसरे के ऊपर छत की तरह हैं।"

स्थाणुक मूर्तियों में और विशेषकर बुद्ध की स्थाणुक मूर्तियों में जटामुकुट और करण्डमुकुट में ये तीन, सात और चौदह कुण्डल वा लपेट के रूप में दिखाये जाते हैं और किरीटमुकुट में रत्नों की संख्या से यह संकेत प्रकट होता है। बोरोबुदूर (जावा) का स्तूप श्रीचक्र पर बना है। इससे यह निःसंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीचक्र की तरह स्तूप भी विश्व और विश्वात्मा का प्रतीक है।

बुद्ध की मूर्तियाँ भी इन्हीं सिद्धान्तों पर बनाई जाती हैं। बैठी हुई मूर्तियों के तीन भाग होते हैं। नीचे का भाग आसन है, मध्य भाग में बुद्ध का शरीर रहता है और ऊर्ध्वभाग में मस्तक के चारों ओर वर्तुलाकार प्रभामण्डल है। इन तीनों भागों को ढाँपने के लिए इनके बाहर रेखा खींचने से शिवलिङ्ग की आकृति बन जाती है।

प्रभामण्डल के भीतर स्थाणुक बुद्धमूर्ति शिवलिङ्ग पर अङ्कित शिवमूर्ति-जैसी मालूम होती है। प्रभामण्डल के ऊपर त्रिशूल इस सादृश्य को और भी पूर्ण बना देता है। यह प्रभामण्डल स्तूप और शिवलिङ्ग— दोनों का ही प्रतीक है, जिसके भीतर ज्योतिर्मय पूर्णब्रह्म के रूप में बुद्ध वर्त्तमान हैं।

देव-देवी

बौद्धमत में शैव, शाक्त और वैष्णव देवी-देवताओं का स्वच्छन्दता से प्रयोग किया गया है। कहीं इनका नाम बदल दिया गया है और कही ज्यों-का-त्यों है। इनके प्रतीकों में भी कोई अन्तर नहीं है।

तारा—ये शाक्तों की द्वितीया महाविद्या ब्रह्ममयी तारा हैं। प्रायः इनके एक हाथ में कमल है और दूसरा वरदहस्त है। तारा की चतुर्भुजी मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। उनके एक हाथ में खड्ग रहता है। कभी कामाख्या की तरह कमल पर बैठी रहती हैं।

श्यामा—इनकी मूर्ति भी तारा की तरह ही है।

प्रज्ञापारमिता—इसका अर्थ होता है ज्ञान के पारंगत। यह महासरस्वती के नाम का रूपान्तर है। महादेवी की तरह इनकी उपासना होती है।

मञ्जुश्री—यह महात्रिपुरसुन्दरी के नाम और रूप का प्रतिरूप है। मञ्जुश्री की मूर्ति का निर्माण पुरुष-रूप में किया जाता है। इनके एक हाथ में खड्ग रहता है, जो काली और तारा के खड्ग की तरह अज्ञान का नाश करने के लिए ज्ञान-खड्ग है।

भैरव—नालन्दा की खुदाई में भैरव की मूर्ति भी मिली है। (चित्र—१३४) पटना-संग्रहालय में इसे हयग्रीव अङ्कित किया गया है। किन्तु हयग्रीव विष्णु के अवतार हैं, जिसमें सर्पवलय, व्यालयज्ञोपवीती और त्रिनेत्र हो ही नहीं सकता। यह भैरव के ध्यान से मिलता है। मालूम होता है कि भैरव की उपासना के लिए इस रूप को शैव और शाक्त मत से ज्यों-का-त्यों ले लिया है।

"बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ नये बौद्धों के हृदय में पुराने देवी-देवताओं के लिए श्रद्धा बनी रही और वे उन्हें अपने नये धर्म में ले आये। उन्होंने देखा कि इन्द्र, ब्रह्मा

और दूसरे देवगण लिये जा चुके थे। दक्षिण के हीनयान में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं किया गया। विष्णु, ब्रह्मा, नारायणादि पुराने हिन्दू नाम से ही ले लिये गये।

किन्तु महायान में लिये जाने पर भी इन्हें विशाल विश्वकल्पना में नाम और कथाओं द्वारा उचित रीति से बैठाया गया, जिससे इन्द्र अथवा शक्र, शतमन्यु और वज्रपाणि बन गये, और उनके स्वर्ग का नाम पड़ा त्रयस्त्रिंशलोक। बौद्धधर्म में प्रसिद्ध ब्रह्मा, मञ्जुश्री (ज्ञान का दीप) बन गये, जो अलौकिक शक्तिवाले थे और इस पर भी लक्ष्मी और सरस्वती उनकी स्त्री बनी रहीं। अवलोकितेश्वर या पद्मपाणि का विष्णु अथवा पद्मनाभ से सादृश्य है। चार राजाओं में से एक का नाम विरूपाक्ष है, जो शिव का भी नाम है। सप्त तथागत ब्राह्मणों के सप्तर्षि का स्थान ले लेते हैं और गणेश भी विनायक और रक्ष-विनायक (जापानी विनायकिया) के नाम से ले लिये गये हैं।

अर्हत् मौद्गल्यायन, महास्थान या महास्थानप्राप्त बोधिसत्त्व बन गये और शिव की त्रिमूर्ति की तरह अमिताभ बुद्ध की त्रिमूर्ति के बाईं ओर इनका स्थान रहा। ऐसे धर्म के ढीले-ढाले रास्ते में अजित, अर्थात् भविष्य बुद्ध मैत्रेय को भी वही स्थान मिला और शाक्यमुनि और अवलोकितेश्वर के साथ ये अन्य त्रिमूर्ति निर्माण करते हैं।"[1]

इस प्रसंग में ग्रीनवेडेल का यह अनुमान भी विचारणीय है; क्योंकि देवताओं का रूप-ग्रहण साधना के निमित्त पर आश्रित है।

त्रिरत्न

त्रिरत्न पर श्री हैवेल के विचार इस प्रकार हैं। हाथीगुम्फा की त्रिमूर्ति पर विचार करते समय आप लिखते हैं—

"एक के तीन रूप, अर्थात् भारतीय त्रिमूर्ति की भावना पर अनेक पक्ष से विचार किया जा सकता है। मूलरूप में, भारतीय आर्यों की अन्यान्य भावनाओं की तरह यह भावना प्राचीन ग्राम-समाज से ली गई थी। पहला रूप स्रष्टा ब्रह्मा का था, जिसे सभी आर्य सभी वस्तुओं के आदि कारण के रूप में अथवा आर्यों के महागुरु बुद्ध के रूप में पूजते थे।

यह आर्यजाति के अध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक था। इसका दूसरा रूप न्याय था, जो गाँव के मुखिया अथवा ग्राम-पंचायत के रूप में आर्यों के समाज का स्तम्भ था।

---

१. ग्रीनवेडेल का मत है—

As Buddhism spread, the converts naturally carried into their new religion much of their reverence for the old Hindu gods, and they found that the traditions offered them already embraced Indra, Brahma and others of their former divinities. Among the Hinayana sects in the south, little change was made. Vishnu, Brahma, Narayan etc, were simply accepted under their Hindu names.

But with the Mahayana schools, whilst these gods were received, they were made to fit into an elaborate system of nomenclature and

तीसरा वेद से सम्प्राप्त आधिभौतिक और आध्यात्मिक धर्म था। ये विश्वव्यापी धर्म के प्रकट और परस्पर परिवर्तनीय रूप थे, इसलिए ये एक ईश्वर के तीन रूप और तीनों एक ईश्वर के रूप थे।"[1]

यहाँ तर्क द्वारा त्रिशक्ति के निकट तक श्री हैवेल ने पहुँचने की चेष्टा की है। किन्तु इससे परिचित नहीं रहने के कारण इसके यथार्थ रूप को ग्रहण नहीं कर सके हैं। यथार्थ में संघ सृष्टि का प्रतीक है। यह वैष्णवादिकों का पद्म है। धर्म उसे धारण करने-वाली शक्ति है। इसका प्रतीक शाक्तादिकों की तरह सिंह, वृषभादि हैं, और बुद्ध इनकी

---

myth, by which each was assigned a place in the illimitable aeons of their cosmogony: Indra or Shakra became Shatamanyu and Vajrapani and his heaven or Swarga was named Trayastrimshaloka: Brahma so well known in Baudha legend, had his chief attributes transferred to Manjushri the "lamp of wisdom" and of supernatural power; and still Saraswati continued to be one of his wives, the other being Lakshmi; Avalokiteshvara or Padmapani, again, has some analogy to the attributes of Vishnu or Padmanabh; Virupaksha, one of the "four kings" wears one of Shiva's well-known names; the Sapta tathagatas take the place of the Brahman seven Rishis; and even Ganesha has been taken over both as Vinayaka and as the demon Vinayaka (Jap. Vinayakia).

Their Maudgalyayana the Arhat. became Mahasthana or Mahasthanaprapta Bodhisattva, and still kept his place at Buddha Amitabhas' left hand in a popular triad analogous to the Shaiva Trimurti. But in the easy going way of such a religion, Ajit or Maitraya—the Buddha of the future—was also given the same place, and with Shakyamuni and Avalokiteshvara forms an alternative Triratna or triad.

—Gruenwedel. Buddhist Art in India. London. 1901. Pages 182-183.

१. "The Indian conception of the Trimurti, the three aspects of the one may be considered from many different standpoints. Originally like all other Indo-Aryan conceptions it was derived from the like of the ancient Indian village community. The first aspect was Brahma, the creator, whom all Aryans worshipped as the cause of all things, or Buddha the great Aryan Guru. It was the symbol of the spiritual wisdom of the Aryan race. The second aspect was justice, the pillar of Aryan society, represented by the village council, or by the head of the tribe. The third was the Dharma, the law spiritual and temporal, revealed and recorded by the Vedas. And as all three aspects were interchangeable and the manifestations of the universal Law, together they represented God as hree in one and one in three."

—E. B. Havell. The ancient and Medieval Architecture of India; tudy of Indo-Aryan Civilization. London. 1915. Page 161.

सृष्टि-स्थिति-संहार-क्रिया के संचालक विभु हैं। यह शाक्तों की ज्ञानेच्छाक्रिया और वेदान्तियों का सच्चिदानन्द है। यही वेद का 'एकं सत्' 'ऋतं वृहत्', 'ऋतं सत्यम्' इत्यादि हैं।

मालूम होता है कि खि्स्तधर्म और इसलाम में ये सिद्धान्त ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं। त्रिशूल का रूपान्तर क्रॉस है और त्रिशक्ति अथवा त्रिरत्न का परिवर्तित रूप ईश्वर-पिता, ईश्वर-पुत्र और ईश्वर-जीव (God the father, God the son, God the holy Ghost) है। जीव के प्रतीक हंस की तरह 'होली गोस्ट' को पण्डुक या कबूतर के रूप में अङ्कित किया जाता है। यह चित्रों में और अधिक स्पष्ट होगा।

इसलाम के विषय में भी ऐसे अनुमान उठ खड़े होते हैं। इसलाम हज़रत ईसा, हज़रत मूसा इत्यादि को धर्माधिकारी मानते हैं। इससे और अन्यान्य बातों से इसलाम पर खि्स्तधर्म का प्रभाव स्पष्ट है। बौद्ध त्रिरत्न की तरह खुदा, पैगम्बर और इसलाम समाज है। यह बौद्ध और खि्स्तधर्म का मिला-जुला परिवर्तित रूप-जैसा मालूम होता है। चाँद और सितारा और त्रिशक्ति के तीन बिन्दुओं के चन्द्रबिन्दु-रूप में कोई अन्तर नहीं है। मस्जिदों के ऊपर उलटा कमल और तीन गुम्बज भी विचारणीय हैं। इसलाम का मूल स्रोत से स्वतन्त्र अध्ययन करने से इसका पूरा पता लग सकता है।

गजनी में महमूद गजनबी की कब्र के सामने शिवलिङ्गाकार स्तम्भ हैं। (चित्र १६२) हो सकता है कि ये बौद्धों के बनाये हों। पर महमूद की कब्र पर बने हुए शाक्तों के षट्कोण यन्त्र (चित्र १६१) का बना रहना संयोग की बात नहीं कहा जा सकता। बीजापुर में मुहम्मद आदिलशाह के रौजे की छत में कब्र के ऊपर बिन्दु, वृत्त शूलाष्टक और अष्टकोण-वाला यन्त्र बना हुआ है। (चित्र १६३) इन सब बातों को देखकर यह उत्सुकता होना स्वाभाविक है कि इनकी मूलभावना को समझने की चेष्टा की जाय।

भारत में त्रिशक्ति और त्रिरत्न का सिद्धान्त सर्वव्यापी रहा। मालूम होता है कि खि्स्तधर्म और इसलाम ने भी इसे आध्यात्मिक साधनाओं के लिये अपना लिया।

३६. प्रासादपुरुष अर्थात् मन्दिर-प्रतीक

देवालयों के मध्यस्थ मुख्य भाग का नाम प्रासाद है। कम्बोजिया में इसे प्रासाद कहते हैं। इसके बाहर मण्डप और मण्डप के बाहर प्राचीर बना रहता है। इसे मन्दिर और देवमन्दिर भी कहा जाता है।

यन्त्र और शिवलिङ्गादि की तरह देवमन्दिर विश्वरूप परमपुरुष का प्रतीक है। मन्दिर के निर्माण की विधि इस प्रकार है—

मन्दिर के बीचवाले प्रधान गृह का नाम प्रासाद है। प्रासाद का जहाँ से आरम्भ होता है, वहाँ सबसे नीचे एक चौकोर वेदी रहती है। इस चतुष्कोण वेदी पर प्रासाद की चतुष्कोण भित्ति उठती है। इसके भीतर ठीक बीच में एक चतुष्कोण रहता है। इसका नाम गर्भगृह है। इसमें वास्तु-पुरुष की प्रतिष्ठा की जाती है और इसे वास्तुपुरुष-मण्डल कहते हैं। वास्तुपुरुष-मण्डल के मध्य में ब्रह्मस्थान रहता है, जहाँ निधि-कलश की स्थापना की जाती है। यह निधि-कलश एक पात्र है जिसमें स्वर्णरत्नादि रखकर गर्भगृह के बीच ब्रह्मस्थान में गाड़ दिया जाता है। प्रासाद ज्यों-ज्यों ऊपर उठता जाता है, त्यों-त्यों उसपर पशु-पक्षी, देव-देवी, मिथुन, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, रक्षादि की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं

तथा उसके विमान अर्थात् भूमियाँ बनती जाती हैं। शिल्पशास्त्रानुसार इनकी संख्या एक से सोलह तक हो सकती है, किन्तु इनकी संख्या साधारणतः एक, तीन, सात और चौदह होती है। मैसूर के चामुण्डीपर्वतवाले चामुण्डामन्दिर में सात, बोधगया के मन्दिर में चौदह, नालन्दा विश्वविद्यालयवाले मन्दिर में चौदह,[1] 'छोटे मन्दिरों में एक और खजुराहो के अनेक मन्दिरों में तीन विमान भी हैं। इन विमानों का अन्त ऊपर एक चौकोर वेदी में होता है। उसके ऊपर एक चक्राकार शिलाखण्ड रहता है। इसे आमलक कहते हैं।[2] इसका भीतरी अंश अंगूठी की तरह शून्य होता है और बाहर आँवले की तरह रेखाएँ, उभरे हुए दाँत की तरह कटी रहती हैं। पीछे की ओर मूठ की तरह इसका एक अंश निकला रहता है, जिसमें ध्वजदण्ड डालने के लिए छेद बना रहता है। इसे वेणुरन्ध्र और वेणुकोष कहते हैं। आमलक के ऊपर कलश रहता है। इसमें परमपुरुष की सोने की मूर्ति रहती है। कलश सोने का होना चाहिए, पर यह ताम्बे और पीतल का भी हो सकता है। इसका नाम अमृत-कलश है। यह निधि-कलश के ठीक ऊपर रहता है। निधि-कलश और अमृत-कलश के बीच, ऊपर से नीचे तक ज्योतिर्मय मूलस्तम्भ की कल्पना की जाती है, जिसके चारों ओर सारी सृष्टि की रचना के प्रतीक बनाये जाते हैं। कलश का मुख एक बन्द कमल से ढँका रहता है। इसके मुँदे हुए दलों का अग्रभाग ऊपर की ओर रहता है।

इस प्रकार मन्दिर का निर्माण हो जाने पर, जितना ऊँचा मन्दिर होता है, उतने ही ऊँचे बाँस में या और किसी ध्वजदण्ड में पताका लगाकर इसे मन्दिर के शिखर पर आमलक में लगे हुए वेणुकोष में डाल देते हैं और पताका अनन्त आकाश में लहराने लगती है। आमलक के नीचे छोटे-बड़े छेद रहते हैं जिनका नाम गवाक्ष है।

प्रासाद के निम्नभाग में गर्भगृह के चारो ओर चार द्वार होते हैं। पूर्व में शान्ति-द्वार, दक्षिण में विद्याद्वार, पश्चिम में निवृत्तिद्वार और उत्तर में प्रतिष्ठाद्वार रहता है। इनमें एक द्वार मन्दिर में प्रवेश करने के लिए खुला छोड़ दिया जाता है और तीन इस प्रकार बन्द किये जाते हैं कि उनमें प्रतिमा की स्थापना करने के लिए स्थान बना रहता है। खुले हुए द्वार के सामनेवाला बन्द द्वार घनद्वार कहलाता है। यदि गर्भ-गृह में वास्तुपुरुष-मण्डल को घेरकर छोड़ दिया जाता है, तो इसी घनद्वार में प्रधान देवता की प्रतिमा की स्थापना की जाती है। नहीं तो गर्भगृह के मध्य में प्रधान देवता की मूर्ति की स्थापना की जाती है और इन द्वारों में पार्श्वदेवता, आवरणदेवता अथवा द्वारदेवता की स्थापना की जाती है।

प्रासाद का नाम मूलशिखर, मूलमंजरी और मूलशृंग भी है। इसके बाहर एक चतुष्कोण वेदी रहती है, जिसपर प्रासाद के चारों ओर प्रदक्षिणा के लिए परिक्रमा बनी रहती है। इस वेदी पर प्रासाद के चतुर्दिक् स्तम्भों पर मण्डप बना रहता है। इन स्तम्भों

---

१. यह मन्दिर नष्ट हो गया, किन्तु इसका एक रेखाचित्र भारत-सरकार के पुरातत्व-विभाग के पटनावाले कार्यालय में है।

२. दक्षिणापथ के मन्दिरों में आमलक के स्थान में वर्तुलाकार हर्म्य रहता है। इससे सिद्धान्त में कोई भेद नहीं पड़ता।

के साथ आवरणदेवताओं की स्थापना होती है। मण्डप के ऊपर छोटे-बड़े मन्दिरों के शृङ्ग या शिखर मूलशिखर की ओर क्रमशः उठते चले जाते हैं। इनके नाम उरोमंजरी, शृङ्ग, लता इत्यादि हैं। दक्षिणापथ में इन्हें कूट, कोष्ठ, पंजर इत्यादि कहा जाता है। इनके भी आमलक[1] शिखर, कलशादि मूलमंजरी, अर्थात् प्रासाद की तरह होते हैं। ये प्रासाद पर आश्रित की तरह अड़े हुए ऊपर की ओर उठते हैं।

मण्डप की वेदी के बाहर चतुष्कोण प्राकार या प्राचीर रहता है। इस प्रकार मन्दिर के साथ प्रासाद वेदी और प्राकार के तीन चतुष्कोण होते हैं। यन्त्रों से मिलाकर देखने से इनका आकार और महत्त्व समझ में आता है।

यन्त्रों में एक बिन्दु, एक या दो त्रिकोण, एक, दो अथवा तीन वृत्त, त्रिकोण अथवा अष्टकमलदल और एक, दो अथवा तीन रेखाओंवाले चतुष्कोण रहते हैं। मन्दिर, स्तूप, स्तम्भ और शिवलिंगादि इन्हीं सिद्धान्तों पर बनते हैं। यन्त्र की शैली पर हम मन्दिर के ऊर्ध्वभाग से ही इस पर विचार करेंगे।

प्रासाद के अमृत-कलश के ऊपर कमलकलिका का ऊर्ध्वभाग बिन्दु-स्थान है, जो नाद बिन्दु के रूप में साकार सृष्टि का आरम्भ है। बन्द कमल अविकसित सृष्टि का संकेत है। यहाँ से आनन्दस्वरूप परमात्मा आकार ग्रहण करने लगता है। इस भावना को, आनन्दामृत के घट में स्वर्णमयी पुरुषप्रतिमा की स्थापना कर, व्यक्त किया जाता है। यह वेदान्तियों का आनन्दघट, वैदिकों का सोमघट, शाक्तों और वैष्णवों की कामकला वा समरसघट, जैनों का केवलत्व और बौद्धों की शून्यता और करुणा है।[2] बिन्दु आनन्द को लेकर आत्मविस्तार करने लगता है, और आमलक-वृत्त, अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार आमलक की संख्या तीन भी हो सकती है। प्रकृति का आमलक-वृत्त फैलता हुआ सृष्टि का विस्तार करता चलता है। इसमें देवलोक, मर्त्यलोक, पाताल, देव, दानव, किन्नर, यक्ष, पशु, पक्षी, मानव, मिथुनादि की सृष्टि करता हुआ यह वृत्त भूचक्र के चतुष्कोण में रुक कर स्थिरता प्राप्त करता है और आकार ग्रहण करता है।[3] यह चतुष्कोण धराचक्र, दिक् अर्थात् स्थिति-शक्ति का प्रतीक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गत्यात्मक कालस्वरूप नादबिन्दु, अर्थात् कलश से सृष्टिरूप प्रासादपुरुष का आरम्भ होता है और स्थिति के चतुष्कोण पर आकर यह स्थिर होता है। यही प्रासादपुरुष का संक्षिप्त रूप है। अब इसके एक-एक संकेत को लेकर उस पर हम विचार करेंगे।

यन्त्रों में स्थित्यात्मक दिग्रूप धराचक्र की रेखाओं की संख्या एक, दो और तीन होती है। आद्याशक्ति (काली) के चक्र में सृष्टि-क्रम का अत्यन्त सरल रूप रहता है। इसलिए वृत्त और चतुष्कोण की रेखा की संख्या एक होती है। द्वितीया अर्थात् तारारूप में यह जटिल हो जाता है। इसलिए शिवशक्तिरूप चतुष्कोण की रेखा की संख्या दो हो

---

१. आमलक के विस्तृत विवरण के लिए **Stella Kramrisch** का **The Hindu Temple, Calcutta. 1946. Vol. II** देखना चाहिए।

२. देखिये परिशिष्ट १३

३. धारायाश्चतुष्कोणचक्रम्। षट्चक्रनिरूपणम्।

जाती है। श्रीविद्या के श्रीचक्र के रूप में ४३ तत्त्व, अष्टप्रकृति, षोडशकला आदि तत्त्वों का विस्तृत सन्निवेश होने के कारण सृष्टि के अत्यन्त विकसित और जटिल त्रिगुणात्मक रूप का प्रतीक चतुष्कोण तीन रेखाओंवाला होता है। मन्दिरों में भी प्राचीर वेदी और प्रसाद के तीन चतुष्कोण होते हैं। जिसमें प्राचीर नहीं रहता है, उसमें दो, और जिसमें मण्डप की वेदी नहीं रहती है, उसमें केवल एक चतुष्कोण होता है। ऊपर अमृतकलश से नीचे प्रासाद के चतुष्कोण तक अष्टभिन्ना प्रकृति[1] का विकास लता-गुल्म, पशु-पक्षी, मिथुन, देव-दानव आदि के रूप में दिखाया जाता है। यही अष्टप्रकृति (पञ्चतत्त्व, मन बुद्धि, अहंकार) विष्ण्वंश में अष्टकोण के रूप में दिखलाई जाती है, जिसका बाह्य अंश वृत्ताकार प्रकृति है, जो जलाधार के रूप में दिखाई-जाती है। सभी यन्त्रों में यही अष्टप्रकृति अष्टदल कमल के रूप में अङ्कित की जाती है।

हंस की प्रतिकृति जीव का प्रतीक है। यह एक अत्यन्त प्राचीन भावना है।

इस पर ऋग्वेद की हंसवती ऋचा[2] प्रसिद्ध है। हंस की उपमा पर पक्षिमात्र को जीव कहा जाता है, जो शरीर के पिंजड़े में आबद्ध रहता है। इन पक्षियों के रूप में जीव परमानन्दस्वरूप शिखर पर अमृतघट की ओर उड़ता जाता है।

मुख्य-प्रासाद के आसपास जितनी मंजरियाँ और शृङ्ग बने रहते हैं, उन पर बने हुए धातु के कंगूरों और कलशों पर पड़कर चमकते हुए सूर्य, चन्द्र और ग्रहनक्षत्रों के प्रकाश अनन्त आकाश में चमकनेवाले तारों के रूप में लोकों के प्रतीक हैं और ऊपर उठता हुआ प्रासाद अनन्त व्योम में वर्त्तमान परमपुरुष का प्रत्यक्ष रूप है।

मन्दिरों पर देव, गन्धर्व, अप्सरा, यक्षादि की प्रतिकृतियाँ बनी रहती हैं। इनके हाथों में ढाल, तलवार, वाद्ययंत्रादि रहते हैं। ये उछलते, कूदते, नाचते, गाते और उड़ते दिखाई पड़ते हैं। इन अपार्थिव जीवों की प्रतिकृतियों और भाव-भंगियों का भी विशेष संकेत और महत्त्व है।

पार्थिव जीवों के स्थूल शरीर[3] पृथ्वी-तल पर आश्रित अस्थिचर्मादि के बने होते है। ये अन्नमय कोष के अन्तर्गत हैं। किन्तु देव, गन्धर्वादि अपार्थिव जीवों के आकार प्राणमय कोष के अन्तर्गत हैं। इसलिए इनकी गति अनन्त आकाश में होती रहती है और अधिक स्फूर्ति से नाना प्रकार की भंगियों में ये शरीर की आकृतियों को बदल सकते हैं। इनमें कोई वाद्ययंत्र बजाता है, कोई गाता है और कोई नाचता है। इस प्रकार ये अपने स्रष्टा परमपुरुष की आराधना करते हुए अमृतत्व की ओर बढ़ते जाते हैं। कोई हाथ में खड्ग लेकर खड्गाकार झुके हुए शरीरों से, अविद्या-परिवार के मेघमण्डल को चीरते हुए

---

१. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ गीता। ७.४।

२. हंसः शुचिसद्वसुरन्तरिक्षसद्धोतावेदिसदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥
—ऋग्वेद। ४.४०.५। शुक्लयजुर्वेद। १२.१४। कठोपनिषत्। ५.२।
ऋग्वेद में अन्तिम शब्द बृहत नहीं है।

३. गरुडपुराण। १५.२५।

अमृतघट (अमृतत्व) की ओर उड़ते दिखाई पड़ते हैं। यह परमपद की प्राप्ति के लिए जीवमात्र के उद्यम का प्रतीक है।

आनन्द की मधुर ध्वनि (मुरली, शङ्ख, डमरू, वीणा आदि) से सृष्टि का आरम्भ और विकास होता है। इसलिये संगीत (नृत्य, गीत, वादित्र) साङ्गोपाङ्ग देवाराधन का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अङ्ग है। यह विश्वसंगीत और विश्वलीला का अनुकरण देवाधिदेव को प्रसन्न करने का प्रधान साधन है। वह स्वयं नटराज, नटवर, नटेश्वरी इत्यादि है। इसलिए नृत्य से प्रसन्न होता है। गन्धर्व, किन्नर और अप्सराएँ नृत्य, गीत और वादित्र से प्रभु की कृपा प्राप्त कर अमृतकलश, और अनन्त शून्यता की ओर उठते हैं जिसका संकेत अनन्त शून्य में लहराती हुई शिखर के वेणुकोष की ध्वजा है।

यह राजसिक पूजा की रीति है। रजः शब्द रञ्ज धातु से बनता है। रज्यते अनेन इति रजः। जिससे सृष्टि की सजावट अथवा विस्तार किया जाय, उसे रजस् कहते हैं। राजस पूजा का अर्थ है प्रकृति के आत्मविस्तार की प्रक्रिया के अनुकरण द्वारा उपासना। यह स्थूल उपासना-पद्धति है। आन्तरिक अथवा मानसिक पूजा में ब्रह्म हृदय में नृत्य करने लगता है और सारी आन्तरिक वृत्तियाँ और शक्तियाँ क्षुब्ध होकर महारास मचा डालती हैं। ऋषि और कविगण नाना प्रकार से इसका वर्णन करने से थकते नहीं हैं।

मिथुनप्रतीक—मन्दिरों के गर्भगृह के द्वार और विमानों पर मिथुन की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। इनके बिना मन्दिर का निर्माण साङ्गोपाङ्ग पूर्ण नहीं होता, अधूरा रह जाता है। यह यन्त्रद्वारा बड़ी सरलता से स्पष्ट हो जाता है।
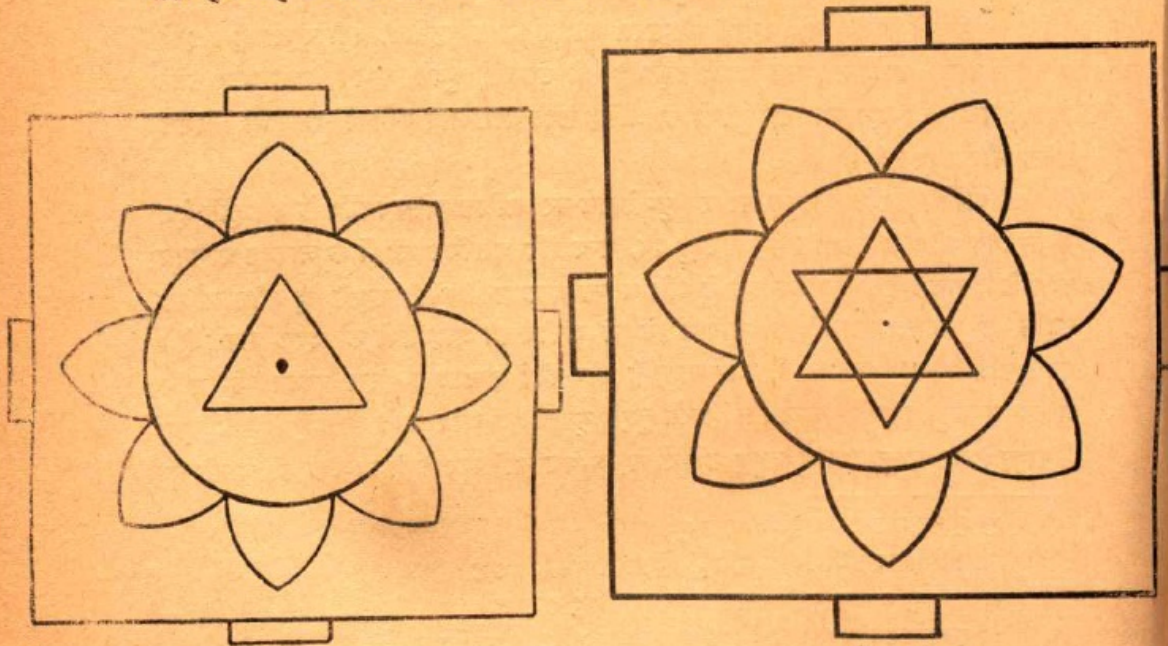
चित्र नं० १ चित्र नं० २

सृष्टि के तीन रूप हैं—पर, अर्थात् अशेष कारण, सूक्ष्म और स्थूल। इन्हीं के भिन्न-भिन्न नाम है प्राज्ञ तैजस-विश्व, ईश्वर-हिरण्यगर्भ-विराट् इत्यादि। यन्त्र का बिन्दु, पर,

प्राज्ञ और ईश्वर का प्रतीक है। यह फैलकर और घनीभूत होकर सृष्टि का सूक्ष्म रूप ग्रहण करता है। यह अभिन्ना, अर्थात् समस्त प्रकृति है। इसका प्रतीक वृत्त है। इस प्रकार यह वृत्त, सूक्ष्म, तैजस, हिरण्यगर्भ इत्यादि का प्रतीक है। सूक्ष्म से सृष्टि का स्थूल रूप प्रकट होता है। यहाँ प्रकृति टूटकर आठ रूपों में स्थूल रूप ग्रहण करती है। ये आठ रूप हैं—क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि और अहंकार। इनके नाम स्थूल, विश्व, विराट् इत्यादि हैं। इसके प्रतीक-वृत्त से लगे हुए आठ त्रिकोण अथवा आठ कमलदल हैं। इनका नाम अष्टयोनि भी है। यदि चेतना (बिन्दु) भूमितत्त्व में प्रवेश कर अपनी लीला न करे, तो भूमि बेकार बनी रहेगी और नदी, पर्वत, लता, जन्तु इत्यादि किसी की भी सृष्टि न होगी। चेतना का सम्पर्क भूतत्त्व में शक्ति भरता है और सृष्टि-लीला का विस्तार होने लगता है। इसी प्रकार यदि चेतना का सम्पर्क मन या बुद्धि से न हो, तो मन-बुद्धि बेकार पड़े रहें। यह चेतना का सम्पर्क है कि मन-बुद्धि में कार्यक्षमता उत्पन्न होती है और सृष्टि-लीला के कार्य का विस्तार होता है। इस अष्टभिन्ना प्रकृति से चेतना के सम्पर्क से आठ मिथुन प्रस्तुत होते हैं। इस मिथुन (जोड़े) का आरम्भ बिन्दु (चेतना) की गति-स्थिति (शिवशक्ति) से आरम्भ होता है। ये ही वेद के द्यौ और पृथिवी हैं। इनके प्रतीक-बिन्दु के बाहर दो त्रिकोण हैं और इसका विस्तृत रूप अष्टप्रकृति है, जिनके प्रतीक, अष्ट त्रिकोण या कमलदल हैं। इनके और चेतना के आठ जोड़े का अंकित होना अनिवार्य है। ऐसा नहीं होने से मन्दिर-प्रतीक से सम्बद्ध सृष्टि के सभी संकेत पूर्ण न होंगे और प्रासाद-प्रतीक का निर्माण अपूर्ण रह जायगा। इसलिए मन्दिरों पर अष्टमिथुन का बनाना अनिवार्य-सा है। संक्षिप्त रूप में (जैसे छोटे मन्दिरों में) इनकी संख्या एक होगी, उचित आकारवाले में आठ और बहुत-सी मंजरियोंवाले विशाल मन्दिरों में इनकी संख्या पचास से भी अधिक होती है; क्योंकि मूल तत्त्वों के बाद कल्पित तत्त्वों की संख्या निर्धारित नहीं है। किन्तु सिद्धान्त द्वारा निर्णीत संख्या आठ है। ब्रह्म के इन मिथुनरूपों की विधिवत् पूजा की जाती है और तन्त्र-ग्रन्थों में इनकी पूजा और बलि का विधान है। इस भावना को मनीषियों ने भिन्न युगों में भिन्न प्रकार से प्रकट करने की चेष्टा की है। इसका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है।

परम पुरुष की कामना ही सृष्टि का आदि कारण है और इसकी शान्ति में ही सृष्टि का लोप है। इस सिद्धान्त को सभी तत्त्वज्ञानी[१] मानते हैं, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के हों। मिथुन-प्रतीक में परमानन्द के उल्लास (वैदिकों का सोमरस और तान्त्रिकों की कामकला) से सृष्टि के आरम्भ की, ब्रह्म-जीव की लीला की और जीव के मोक्ष की क्रिया अंकित की जाती है। इसलिए मन्दिरों के शिलालेखों[२] में मन्दिरों के निर्माता तथा दाताओं को आदेश दिया गया है कि जिस उद्देश और शुद्धबुद्धि से प्रतिमाएँ बनाई जाती है, वैसी ही शुद्ध और पापरहित बुद्धि से मन्दिर में प्रवेश करें और प्रासाद-पुरुष के विराट् शरीर में अद्भुत संसार की सृष्टि और लीला का जो क्रम अङ्कित किया गया है,

---

१. बौद्ध यव-युम के चित्रों के परिचय में इसका विशेष विवरण मिलेगा।

२. Sirpar Inscription. Epigraphia Indica. Vol. XI. page 190.

उसमें परमात्मा का दर्शन करे। मनुष्यों के निवासगृहों पर ऐसी मूर्तियों का अङ्कन निषिद्व है। साधना-पद्धति मे ऐसे ५० मिथुनों का बलि देने और उनकी पूजा का विधान है[1] और शिल्प-ग्रन्थों[2] में इनका अङ्कन अनिवार्य-सा कर दिया गया है।

पुरुष-प्रकृति अथवा ब्रह्म-जीव की मिथुन-भावना का निदेश ऋग्वेद[3] में मिलता है। इससे बोध होता है कि जीव-ब्रह्म की मिथुन-भावना उससे भी प्राचीन, अर्थात् अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषदों ने इस भावना को ग्रहण कर इसका विवरण इस प्रकार दिया है।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्। सोऽहमस्मीति अग्रे व्याहरत्। ततोऽहं नाम अभवत्। तस्मादप्येतह् र्यामंत्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथाऽन्यन्नाम प्रब्रूते, यदस्य भवति। स यत्पूर्वो ऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः। ओषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति य एवं वेद।[4]

"यह आत्मा ही पहिले पुरुष-जैसा था। सब ओर देखकर उसने अपने को छोड़कर किसी को न देखा। पहिले उसने कहा 'मैं हूं'। इसलिए उसका नाम मैं (अहम्) पड़ा। इसलिए आज भी पुकारे जाने पर कोई पहिले मैं और पीछे जो उसका नाम होता है, वह कहता है। क्योंकि इन सबसे पहिला बनकर उसने सभी पापों को जलाया (पुर-पहिला,

---

१. तन्त्रराजतन्त्रम्। २१ ८८-९६।

२. क. बृहत्संहिता ५५. हयशीर्ष पञ्चरात्र, अग्निपुराण। १०४-३०, समराङ्गणसूत्रधार। ४०.३०-३४

ख. "The earliest Mithuna yet known is carved on one of the earliest monuments yet known, i,e. of about the 2nd Cen. B.C. in Sanchi Stupa II."—Marshall-Foucher, the Monument of Sanchi, Pk LXXVII. 20a.

"Mithuna is one of the permanently recurrent themes of Indian sculpture. A 'classical' Mithuna, on a gold ornament, is reproduced in the Journal of the Asiatic Society of Bengal, 1912, page 283."

—The Hindu Temple. Stella Kramrisch, Calcutta 1946, page346.

३. ऋग्वेद की दो ऋचाएं हैं—आगधिता परिगधिता या कशीकेव जंगहे। ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ उपोप मे परामृश मामे दभ्राणि मन्यथाः सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका॥ ऋग्वेद। १.१९ १२६. ६,७। सायण ने व्याकरण और अटकल के बल से इसका जो अर्थ किया है, वह शुद्ध नहीं है। वेद ब्रह्मानुभूतिप्रधान और साधना का विषय है, विद्वत्ता का नहीं। ऋचाओं का विद्वत्तावाला अर्थ प्राय प्रलाप-जैसा लगता है। इन ऋचाओं का अर्थ समझने के लिए इन्हें बृहदारण्यक के उपर्युक्त अंश के साथ आचार्यों के भाष्यसमेत पढ़ना चाहिए। यह वेद-प्रकरण में और अधिक स्पष्ट किया जायगा।

४. बृहदारण्यक। १.४.१।

औषत्-जलाया), इसलिए पुरुष है। जो इससे पूर्व, अर्थात् प्रथम होना चाहता है उसे यह निश्चय जला देता है। जो (साधक हैं वे) ऐसा जानते हैं।"

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स ह एतावान् आस, यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इमम् एव आत्मानं द्वेधा अपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्वः इति ह स्म आह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयम् आकाशः स्त्रिया पूर्यत एव 'तां समभवत्' ततो मनुष्या अजायन्त।[1]

उसका मन नहीं लगा। इसलिए किसी का भी अकेला मन नहीं लगता है। उसने दूसरे की इच्छा की। वह ऐसा ही था, जैसा स्त्रीपुरुष मिले हुए होते हैं। उसने इसी अपने (रूप) को दो किया। उससे पति और पत्नी हुए। उससे अपना ही दो दाल की तरह हुआ, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। उससे यह शून्य स्त्री से पूरा हुआ। उस स्त्री से योग हुआ। उससे मनुष्य उत्पन्न हुए।"

सोहेयम् (सा उ ह इयम्) ईक्षांचक्रे, कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति। हन्त तिरोऽसानि इति। सा गौरभवत् ऋषभ इतरः। तां सम् एव अभवत्। ततो गावो अजायन्त। वडवेतराभवत्, अश्ववृष इतरः। गर्दभीतरा गर्दभ इतरः। तां समेवाभवत्। ततः एकशफ मजायत। अजेतराभवत् वस्त इतरः। अविरितरा मेष इतरः। तां समेवाभवत्। ततो अजावयो ऽजायन्त। ऐवमेव यदिदं किञ्च मिथुनम्, आपिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत।[2]

"उस स्त्री ने सोचा—अपने से ही मुझको उत्पन्न कर यह कैसे संसर्ग करता है। अच्छा तो मैं छिप जाती हूँ। वह गाय बनी, दूसरा साँढ़ बना। उसी स्त्री से संग हुआ। इससे गोजाति उत्पन्न हुई। दूसरी घोड़ी बनी, दूसरा घोड़ा बना। दूसरी गदही और दूसरा गदहा। उसी स्त्री से संग हुआ। उससे एक खुरवाले उत्पन्न हुए। दूसरी बकरी हुई, दूसरा बकरा हुआ। दूसरी भेंड़ी हुई, दूसरा भेंड़ा। उसी स्त्री से संग हुआ। उससे अज और भेंड़ जाति उत्पन्न हुई। इस प्रकार चींटी से लेकर जो कुछ है, उन सभी को उसने जोड़े में बनाया।"

इन वाक्यों में ऋषि ने यही दिखलाने की चेष्टा की है कि एक परमात्मा ही सृष्टि-वृक्ष का बीज है। यही बीज के दो दल की तरह स्त्रीत्व और पुरुषत्व के रूप में प्रकट होकर सृष्टिलीला का विस्तार करता है। ये दोनों दल मिलकर अपना मूल रूप ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् सोऽहं भाव में स्थिर हो जाते हैं, तो यह जीव का मोक्ष कहा जाता है। दो शरीर स्थूल रूप हैं, किन्तु इनका संचालन करनेवाली शक्ति एक है, यही इसका तात्पर्य है। यही मिथुन-मूर्ति का रहस्य है।

"अत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्" (ऋ० १.२२.१६४.३३), अर्थात् यहाँ पिता ने कन्या में गर्भाधान किया इस ऋचा का अर्थ इस उपनिषद्वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। शक्ति कहती है—कथं नु मात्मन एव जनयित्वा सम्भवति—मुझको उत्पन्न कर कैसे मुझसे सम्पर्क करता है।

---

१. तत्रैव। १.४.३

२. तत्रैव। १.४.४।

'सर्वाहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका'—अर्थात् गान्धार देश की भेड़ी जिस तरह रोम से ढकी रहती है, उसी तरह मैंने अपने को ढक लिया—इस वेद-वाक्य के भाव को यहाँ ऋषि ने स्पष्ट किया है कि—'हन्त ! तिरोऽसानि इति—अच्छा तो मैं छिप जाती हूँ।'

सोऽवेदाह वाव सृष्टिरस्मि । अहं हि इदं सर्वमसृक्षि इति । ततः सृष्टिरभवत् । सृष्ट्यां ह अस्य एतस्यां भवति य एवं वेद ।[1]

"उसने जान लिया कि मैं ही सृष्टि हूँ। मैंने ही इन्हें बनाया। इससे सृष्टि हुई। जो यह जान लेता है, वह इस सृष्टि में (एक परमात्मबुद्धिवाला) हो जाता है।" उपनिषत् में इस मिथुन-विद्या का नाम प्रजापति-विद्या है; क्योंकि यह सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण है। इसका प्रतिरूप मन्दिर की मिथुन-प्रतिकृति है।

आगे चलकर इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

तद्वा अस्य एतत् अतिच्छन्दाः अपहतपाप्म अभयं रूपम् । तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद न आन्तरम् । एवम् एव अयं पुरुषः प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् । तद्वा अस्यैतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम् ।[2]

"यही उसका कामरहित पापरहित और अभयरूप है। जैसे प्रिय स्त्री द्वारा आलिंगित पुरुष को भीतर-बाहर का कोई ज्ञान नहीं रहता, उसी तरह इस पुरुष को प्राज्ञात्मा द्वारा आलिंगित होने पर, भीतर-बाहर का कोई ज्ञान नहीं रहता। यह इसका आप्तकाम, आत्म-काम, अकाम और शोकरहित रूप है।"

श्रीअरविन्द ने इस अवस्था को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"परमात्मा द्वारा संभोग, जीव का पूर्ण आत्मसमर्पण है जिसमें जीव अनुभव करे कि परमात्मा की उपस्थिति, शक्ति, प्रकाश और आनन्द ने उसके सारे अस्तित्व को अभिभूत कर दिया। अपने सन्तोष के लिए इनकों अपने भीतर लाने से यह अच्छा है। स्वयं इनका स्वामी होने की अपेक्षा यह कहीं अधिक आनन्दप्रद है कि पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया जाय और परमात्मा अभिभूत कर दे। साथ-साथ इस समर्पण द्वारा शान्ति और जीव तथा प्रकृति पर आनन्दप्रद संयम प्राप्त होता है।"[3]

वर्तमान युग में इस पर भारतीय सभ्यता और कला के मर्मज्ञ विद्वान् डा० श्री आनन्दकुमारस्वामी के विचार भी माननीय हैं। आप कहते हैं—

"सभी विचारों का अन्तिम परिणाम है। जड़ और चेतन, अर्थात् कर्त्ता और कर्म के एकत्व का बोध और यह पुनर्मिलन, काल-सृष्टि के लिए अनन्त के प्रेम का निदर्शन

१. बृहदारण्यक । १,४,५ ।

२. तत्रैव । ४,३,२१ ।

३. "To be enjoyed by the Divine is to be entirely surrendered so that one feels the Divine Presence, Power, Light. Anand possessing the whole being rather than oneself possessing these things for one's own satisfaction. It is a much greater ecstasy to be thus surrendered and possessed by the Divine than oneself to be possessor. At the same time by this surrender there comes also a calm and happy mastery of self and nature".—Sri Aurobindo. Bases of Yoga. Pondicherry. 1955. Page 45,

स्वरूप स्वर्ग और नरक का मिलन तथा संकुचित विश्व का अपनी स्वच्छन्दता की ओर आत्म-विस्तार है। इसलिए यहाँ न कोई पवित्र है और न अपवित्र, न आध्यात्मिक और न इन्द्रियपरायण, किन्तु जो कुछ है, वह निर्मल और शून्य है। यह जन्म-मरणवाला संसार ही एक महाशून्य है।

"भारतवर्ष में हम इस विश्वास से दूर न रह सके कि स्त्री-पुरुष के प्रेम का गम्भीर आध्यात्मिक महत्त्व है। सांसारिक प्रेमी जब परस्पर भुजाओं में कसे रहते है और आत्म-विस्मृति में विभोर हो जाते हैं, उस समय प्रत्येक दोनों ही हैं—इस विवरण को छोड़-कर दूसरा और कुछ है ही नहीं, जिससे माया का (finite) इसे अपने भीतर रखनेवाले ब्रह्म (ambient infinite) से एकत्व की तुलना की जा सके। शारीरिक निकटता, संस्पर्श और एक दूसरे के अन्तर्गत हो जाना ही प्रेम का प्रकट रूप है; क्योंकि प्रेम ही एकाकार होने का चिह्न है। इनका शरीर एक है; क्योंकि भावना की एकता इनके मन में बनी रहती है। दो व्यक्तियों में केवल सहानुभूति की अपेक्षा यह अधिक भरा हुआ एकत्व है और दो व्यक्तियों के भिन्न व्यक्तित्व का उतना ही महत्त्व है, जितना स्वर्ग के द्वारों का महत्त्व उन व्यक्तियों के लिए होता है, जो स्वर्ग के भीतर पहुँच गये हों। यह बीजगणित के समीकरण की तरह है, जिसमें संकेत चाहे जो कुछ भी हो, समीकरण ही एक सत्य है। किंचिन्मात्र भी अहंभाव के बीच में आ जाने से दो होने का धोखा लौट आता है।"[1]

---

१. क. "The last achievement of all thought is a recognition of the identity of spirit and matter, subject and object; and this reunion is the marriage of Heaven and Hell, the reaching out of a contracted universe towards its freedom, in response to the love of eternity for the produc, tions of time. There is then no sacred or profane, spiritual or sensual. but every thing that lives is pure and void. This very world of birth and death is also the great Abyss.

"In India we could not escape the conviction that sexual love has a deep spiritul significance. There is nothing with which we can better compare the mystic union of the finite with its infinite ambient—that one experience which proves itself and is the only ground of faith— the self-oblivion of earthly lovers locked in each other's arms where 'each is both'-Physical proximity. contact and interpenetration are the expressions of love, only because love is the recognition of identity. These two are one flesh, because they have remembered their unity of spirit. This is moreover a fuller identity than the mere sympathy of two individuals; and each as individual has now no more significance for the other than the gates of heaven for one who stands within. It is like an algebrical equation where the equation is the only truth, and the terms may stand for anything. The last intrusion of the ego, however, involves a return to the illusion of duality".

—The Dance of Shiva. Coomarswamy. Asia Publishing House. Bombay. 1952. page 140.

ख. 'एक ही वचन बिच भेल रे। पहु उठि परदेश गेल रे।'—विद्यापति।

गृहस्थों का परिवार त्रिवर्ग (धर्म-अर्थ-काम) सिद्धि का स्थान है और मिथुन-प्रतीक मोक्ष का चिह्न है। इसलिए गृहस्थों के घरों पर यह अङ्कित नहीं किया जाता, केवल मोक्षद्वार और परम पुरुष-स्वरूप देवमन्दिरों पर ही इसका अङ्कन होता है।

विद्युत् को परमपुरुष का स्वरूप माना गया है—

य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।[1]

"विद्युत् में जो यह पुरुष दिखाई पड़ता है, वह मैं हूँ वह मैं ही हूँ।" बिजली की चमक में जीवात्मा और परमात्मा का सम्मिलित एक रूप है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि जहाँ मिथुनमूर्ति अङ्कित है, उस देवगृह पर बिजली नहीं गिरती। विशेष कर उड़ीसा के लोगों और शिल्पियों का यह विश्वास है।[2]

यह परमपुरुष का प्रतीक मिथुनमूर्ति, दो त्रिकोणोंवाले शाक्तयंत्र और उपनिषद् के 'अर्धवृगल' अर्थात् बीज के दो दलों की उपमा[3] पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र का बिन्दु बीज है। बिन्दु, शिव-शक्ति, अर्थात् शक्तिमान् और शक्ति के रूप ग्रहण कर दो त्रिकोणों के रूप में प्रस्फुटित होता है। ये दोनों त्रिकोण उस बीज की दालें (अर्धवृगल) हैं। इन दोनों दालों, अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् का द्योतक ही मिथुन-प्रतीक है। शाक्तदर्शन में इन्हें प्रकाश और विमर्श कहते हैं। वेद में इन्हें द्यौ और पृथ्वी कहते हैं।

बिन्दु और त्रिकोणों का विस्तार वृत्तरूप में होता है। दोनों त्रिकोण दोनों दाल हैं और उनके बीच का बिन्दु अंकुर है। ये फैलकर अष्ट प्रकृति के रूप में संसार-महामहीरुह के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि का आरम्भ दो दालों (शक्ति के दो रूप स्थिति-गति) से आरम्भ होता है और दो दालों के एकाकार हो जाने में इसका लय, अर्थात् बखेड़े और चंचलताओं से मोक्ष हो जाता है।

तान्त्रिक साधनाओं में इस वृगलविद्या अथवा मिथुनविद्या का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

शक्तिद्वयपुटान्तःस्थलक्षद्वयसुसंस्थितम् ।
ज्योतिस्तत्त्वमयं ध्यायेत कुलाकुलनियोजनात् ॥[4]

"(भ्रूमध्य के सम्मुख आज्ञाचक्र के दोनों दलों) ल-क्ष रूपी दो शक्तियों (निष्क्रिय शिवशक्ति और सक्रिय शिवा-शक्ति) के दो पुटों के बीच कुल (शक्ति) और अकुल (शिव) को मिलाकर तत्त्वमय ज्योति का ध्यान करे।"

आज्ञाचक्र में दोनों ओर दो कमलदल हैं। एक की वर्णध्वनि ल है और दूसरे की क्ष। इस न्यास से स्पष्ट है कि क्ष परमात्मा का और ल जीव, अर्थात् माया का वाचक है। श्लोक के 'शक्तिद्वय' शब्द से स्पष्ट है कि ये दोनों शिव-शिवा शक्ति हैं। इस चक्र के प्रतीकात्मक अधिष्ठात्री देवता का रूप अर्धनारीश्वर है। स्पष्ट हैं कि इन दो दलों में से एक नारी और एक ईश्वर है। बीच में बिन्दुरूप इतरशिवलिङ्ग है, जिसके द्वारा यह सब

१, छान्दोग्योपनिषत्। ४,१३,१

२, उत्कलखण्ड। ११। Indian Antiquary. XLVII. Page 217.

३ बृहदारण्यकोपनिषत। १.४.३।

४. श्यामारहस्यतन्त्रम्। जीवानन्द। कलकत्ता, १८९६। पृ० ३२ में उदयाकरपद्धति से उद्धृत।

कुछ परमशिव-सहस्रार में लीन होता है। यही कुल और अकुल का नियोजन, अर्थात् मैथुन (एकाकार हो जाना) है। दोनों का सहस्रार में लीन होना सामरस्य और पूर्णत्व है। उस समय एक शक्ति, उसे शिव या शिवा जो कहा जाय, साक्षीरूप से बनी रहती है। हादिमत से इसका नाम शिव और कादिमत से शिवा है।

सर्वव्यापी शिवशक्ति को अपने भीतर लाकर आत्मशक्ति से एकाकार करने को हादिमत और आत्मशक्ति का विकास कर सर्वव्यापी शक्ति से इसे मिलादेने को कादिमत कहते हैं। नृत्यप्रतीक की भाषा में इसे कहा जाता है कि जब नृत्य करती हुई शक्ति शिव में लीन हो जाती है, तब शिव साक्षीरूप से अवशिष्ट रहते हैं और जब शिव नृत्य करते हुए शक्ति में लीन हो जाते हैं, तब शक्ति साक्षिणीरूप से अवशिष्ट रहती है, अर्थात् एक कूटस्थ तत्त्व के ये दो नाम और रूप हैं।

इसे आगे और भी अधिक स्पष्ट किया गया है—

शृंगाटद्वयमध्यस्थं शक्तिद्वयपुटीकृतम्।
सदासमरसं ध्यायेत कालं तत्कुलयोगिनाम्॥[1]

"दोनों शृंगाटक (भौहों की अस्थि) के बीच दो शक्तियों (निष्क्रिय, अकुल, शिव और सक्रिय, कुल, शक्ति) में (बिन्दु को) बन्द कर सदा ध्यान करे, यह कुल-योगियों, अर्थात् कौलिकों का समरस काल है।"

बोलचाल की लौकिक भाषा में स्त्री-पुरुष के सम्भोग-सुख को सामरस्य कहते हैं। यह आध्यात्मिक साधनाओं के समरस का विवरण है।

इस प्रसंग में सूर की ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल स्वरूप॥

समरस, एकरस, सामरस्य, योनिमुद्रा उन्मनी इत्यादि एक ही अवस्था के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

किरणस्थं तदग्निस्थं चन्द्रभास्करमध्यगम्।
महाशून्येन यत्कृत्वा पूर्णस्तिष्ठति योगिराट्॥[2]

महाशून्य इति सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं। पूर्ण इति सर्वोपाधिविनिर्मोक्षात् विभाग-विरहात् पूर्ण एव भवतीति।

"चन्द्र (तत्त्व) और सूर्य (तत्त्व) के बीच अग्नि (तत्त्व)[3] के महाप्रकाश में महाशून्य की स्थिति बनाकर योगिराज पूर्ण हो जाता है।"

"महाशून्य का अर्थ है सर्वोपाधिविनिर्मुक्त। सभी उपाधियों के छूट जाने से *विभागरहित* होने के कारण पूर्ण हो जाता है।"

यहाँ शिव-शिवा को चन्द्र और सूर्य-तत्त्व और बिन्दु को महाप्रकाशमय अग्नितत्त्व कहा गया है। इन तीनों शक्तियों का अविभक्त हो जाना सामरस्य है। मिथुनमूर्ति इस

---

१. तत्रैव।
२. तत्र व।
३. यही वेद का अग्नि है।